मानव-संस्कृति के आदि-पुरस्कर्ता
भगवान् ऋषभनाथ

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

मानव-संस्कृति के आदि-पुरस्कर्ता भगवान् ऋषभनाथ

डॉ. नेमीचन्द जेन

प्रकाशन :
हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी
कनाडिया मार्ग
इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश

मुद्रण :
नई दुनिया प्रिन्टरी
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२००९, मध्यप्रदेश

संपादन : प्रेमचन्द जैन

प्रथम संस्करण : नवम्बर, १९९६

मूल्य : पाँच रुपये

ISBN 81-85760-42-51-9
अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक संख्या
८१-८५७६०-४२-५१-९

महान् त्रयी

भगवान् आदिनाथ/ऋषभनाथ ने प्रथम जिजीविषु को कृषि-कर्म की दीक्षा दी। उन्होंने जीव-मात्र मे जीने की उत्कण्ठा को रचनात्मक पोषण दिया। उनमे करुणा के झरने खोले। उन्हे बीज की बोली सिखायी, उन्हे अक्षर दिये, अक दिये, रेखा दी, त्रिकोण-समकोण-वृत्त दिये, हल दिया, खेत और खलिहान दिये, शिल्प दिया, कला दी। उन्हे मनुष्य बनाया और सिखाया कि वे धरती की हर धडकन का सम्मान करे। उन्होंने पर्यावरणिक नैतिकता का सूत्रपात किया।

प्रजापति भनवान् ऋषभनाथ की परम ज्योति-स्फूर्त विदेह-देह-गगोत्री की शत-सहस्र पूत-पवित्र जलधाराएँ इस सत्रस्त वसुंधरा का करुणा से अभिषेक कर इसमे पतर्पी क्रूरताओं और बर्बरताओ को शान्त कर करती हैं। एक वैश्विक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गौरव प्रदान कर पूरी वसुधा को अहिसा, करुणा, अयुद्ध और शान्ति की सुधा से परितृप्त कर करती हैं।

हम उनकी आराधना करे, उनकी पूजा-अर्चना करे। पूजा किसकी ? उन प्रजापति आदिनाथ की जो नितान्त निर्विकल्पक निर्विघ्न प्रशान्त, प्रशमित कार्योत्सर्गित मुद्रा में समुत्थित हैं और जिनमे पूजा, पूज्य, पूजक और पूजाफल सबका अप्रतिम अन्तर्भाव हुआ है। जो स्वच्छ प्राजल है, उस परम निर्मलता का अभिषेक कैसा, जो अखण्ड है, उसे अक्षत क्यो, जो निर्लेप है, उसे चन्दन-लेप कैसा, जो सर्वज्ञ है, उस परम प्रभा-प्रभु को दीपक क्यों, जो निरंजन-निष्काम है, उसे धूपार्चन क्यो, जो निजानदामृत मे सतृप्त है, उसे नैवेद्य कैसा, जिसने मोक्षफल उपलब्ध किया है, उसे और-और फल क्यो, जो शान्त है, उस पर शान्तिधारा क्यो ? वास्तव मे, यह सब उनके निमित्त नही अपितु हमारे लिए है ताकि हम, हमारा राष्ट्र, हमारा विश्व स्वच्छ, अखण्ड, निष्का- निर्वास, ज्योतिर्मान, निरजन, पक्षातिक्रान्त, आनन्दित, स्वाधीन, और शान्त बने।

सब जीना चाहते है, सब मे तीव्रतम जिजीविषा है, कोई मरना नही चाहता, [illegible] नही है। भगवान् ऋषभनाथ का जीवन-दर्शन प्राणिमात्र के सहअस्तित्व, जीने [illegible] बोध और करुणा का संदेश है, जिससे कण-कण मे संवेदनशीलता का नवदू[illegible] कर संपूर्ण विश्व उसकी अहिसाधर्मी सुखद धूप मे खिल-खुल सकता है।

चक्रवर्ती भरत, जिनके लोकसेवारत रथ के पहिये कभी विराम नही लेते थे, भगवान् ऋषभनाथ के ज्येष्ठ पुत्र थे। इतिहास साक्षी है कि हमारे इस महान् देश का नामकरण उन्ही के नाम पर भारत हुआ। भारत विश्व का ज्येष्ठ प्रजातन्त्र है। भरत के अनुज अयुद्ध पुरुष/अजितवीर्य बाहुबली ने ससार को अयुद्ध और शान्ति का परम जयघोष दिया। कृषि, लोकतन्त्र और शान्ति की जीवन्त प्रतीक इस महान् त्रयी को हम अपने समवेत् प्रणाम करे। हम कोटि-कोटि भारतीय उन भगवन्त श्रेष्ठ को प्रणाम करे, जिन्होंने इस देश को असि (अनेकान्त), मसि (विवेक), कृषि (अहिसा) और ऋषि (अध्यात्म) के शुभ-मंगल आशीष प्रदान किये।

हम इस चतुष्काधीश के चरणो मे अपना मस्तक झुकाये ताकि इस महान् चतुष्क मे पुन प्राण-प्रतिष्ठा हो और हमे, राष्ट्र को, समाज को, निखिल विश्व को एक ऐसी अलौकिक आभा मिले कि न कही कोई युद्ध रहे, न वधशाला रहे, न व्यसन हो, न पराधीनता हो, न क्रूरता हो, न अज्ञान हो, न निरक्षरता का काला अभिशाप हो - सर्वत्र ज्ञान हो, करुणा हो, मैत्री हो, विश्वास हो और हो असीमित सम्यक्त्व ।

आशा है, भगवान् ऋषभनाथ, भरत और बाहुबली की महान् त्रयी के अंतरंग मे अवलोकन करवाने वाली प्रस्तुत कृति उनके मानव-संस्कृति/भारतीय सस्कृति/श्रमण संस्कृति के अवदान को स्पष्ट करने मे उपयोगी होगी।

- नेमीचन्द जैन

संपादक 'तीर्थंकर'/'शाकाहार-क्रान्ति'

मानव-संस्कृति के आदि-पुरस्कर्ता

बहुत कम लोग जानते है कि जैनधर्म के आदि-प्रर्वतक ऋषभनाथ है, भगवान् महावीर नही है। जैन परम्परा के अनुसार ऐसे मानव-मनीषी जो मानवता के दीपक-की-धूमिल-पडती लौ को नयी रोशनी प्रदान करते है, तीर्थंकर कहलाते है। जैन तीर्थंकर कोई दैवी शक्ति-सपन्न व्यक्ति नही थे, वे पूर्ण मानव थे, जिन्होंने सासरिक दु खो की निवृत्ति के लिए तपश्चर्या की और अपने समकालीन विश्व को मुक्ति का अमर संदेश दिया।

जैनदर्शन के अनुसार यह लोक छह द्रव्यो से बना है। ये हैं-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल। जीव चेतन द्रव्य है, पुद्गल अचेतन है, धर्म गति-माध्यम है, अधर्म स्थिति का माध्यम है, आकाश समस्त द्रव्यो को स्थान प्रदान करता है, और काल परिवर्तनो की खिडकियो से अपने होने की सूचना देता है। द्रव्य अविनाशीक है। कभी नष्ट नही होते। आकृतियाँ बदलती है पुद्गल की, किन्तु सत्ता कभी नष्ट नही होती। पुद्गल का चरम रूप परमाणु है। जैनदर्शन मे परमाणु के स्वरूप पर काफी गहराई से विचार हुआ है।

भगवान् आदिनाथ (ऋषभनाथ) कब हुए, यह कहना कठिन है। समय के उस सिरे तक इतिहास की पहुँच नही है, हाँ, मोहन-जो-दडो की खुदाई से मिले तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आज से लगभग साढे पाँच हज़ार वर्ष पूर्व जो सुविकसित मानव-सभ्यता थी, वह भगवान् ऋषभनाथ की पूजा करती थी। दडो के उत्खनन मे भगवान् ऋषभ की जो कायोत्सर्ग नग्न मूर्ति मिली है, वह उनकी प्राचीनता पर प्रकाश डालती है। प्रागैतिहास, इतिहास, और साहित्य से जो प्रमाण मिलते है उनसे यह स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभनाथ परम योगीश्वर थे, ऐसे महामानव जिन्होंने मानव-समाज को भोग-की-ओर से योग-की-ओर मोडा था।

इतिहास का हाथ जहाँ पहुँच नही पाया है वहाँ कभी भोग की सस्कृति अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और वह खुद मनुष्य को लीलने-निगलने लगी थी। भोग-की-अति विषयरूप हो गयी थी। वनोपजो से काम चलना मुश्किल हुआ था। कल्पवृक्ष लुप्त होने लगे थे, अर्थात् ऐसी स्थितियाँ नष्ट होने लगी थीं, जिनसे मनुष्य बिना पुरुषार्थ अपना भरण-पोषण कर सके। पूरा मानव-समाज एक अन्धे मोड पर आ खडा हुआ था।

व्यक्तिगत क्लेश और दलगत युद्ध होने लगे थे। लोगो मे कर्तव्य और पुरुषार्थ की कोई परिकल्पना नही थी। वे किकर्तव्यविमूढ थे। वे नही जान पा रहे थे कि इस विषम स्थिति से कैसे पार पाया जाए ? भोग से कर्म की ओर छलाँग मारने मे उन्हे एक गहन असमंजस का अनुभव हो रहा था। लोग नही जानते थे कि बीज नाम की कोई चीज है। वे बीज से अपरिचित थे खेती की तो उन्हें कोई कल्पना ही न थी। स्वयम्भू वृक्ष उन्हें जो देते थे, उसी से वे

ज़िन्दगी बसर करते थे। कर्म और श्रम की महत्ता का उन्हें किंचित् बोध न था।

ग्राम या नगर की कोई कल्पना तब किसी के मन-मस्तिष्क मे नही थी। समाज क्या होता है ? सामाजिक जीवन क्या हो सकता है ? समाज की रचना कैसी होनी चाहिये ? सामाजिक चेतना या भावना का क्या महत्त्व है ? राज-तन्त्र क्या है ? नीतिधर्म क्या है ? किसी के अपराध करने पर कोन-सी दण्डनीति अपनायी जाए, कौन-सी नही, यह कल्पना-से-परे की बात थी। कला क्या है, शिल्प क्या है, सगीत-नृत्य क्या है ? कोई नही जानता था। हम अपने विचारो को सुदूर तक या रुक कर एक-दूसरे तक कैसे पहुँचाये यह एक जटिल समस्या थी। प्रश्न था कि क्या व्यापार-वाणिज्य नाम की कोई स्थिति हो सकती है ? क्या विनिमय का कोई सर्वस्वीकृत माध्यम विकसित किया जा सकता है ? क्या इसके लिए अंकविद्या की आवश्यकता होगी ? क्या शरीर के आगे कोई स्थिति है ? क्या आत्मा का अस्तित्व है ? यदि है , तो कहाँ है वह ? क्या स्वरूप है उसका ? यह लोक क्या है ? इसे किसने सिरजा-किसने बनाया ? क्या यह क्षण-स्थायी है, या इसकी पीठ पर कोई ध्रौव्य भी है ? इत्यादि नाना प्रश्न लोगो के सामने थे, जिनके उपयुक्त और तर्कसगत उत्तरो की खोज उन्हे थी।

आदिपुरुष ऋषभदेव ने इन जिज्ञासाओ को समझा और इनके संतुलित उत्तर दिये। उत्तर ही नही दिये बल्कि मैदान मे आ कर लोगों को राह दिखायी। उन्हे कुछ जीवनादर्श दिये। उन्हे जीने की कला सिखायी। उन्हे बताया कि ससार के और-और प्राणी सोच नही सकते, उनमे विचार-शक्ति नही है। उनके पास कोई आध्यात्मिक दृष्टि भी नही है। मनुष्य सोच सकता है और अपने चारो ओर विस्तृत परिवेश को समझ सकता है। वह अँधेरे और अज्ञान के बीच रोशनी की कोई राह बना सकता है। वह बलशाली है। उसे हिसा की राह नही चलना है। उसे बर्बरता से बचना है। उसे अहिसा का राजमार्ग अपनाना है और अपनी सृजनधार्मिता का विकास करना है। भगवान् ने कहा : **हमारे सामने कृषि उद्योग-धन्धों की असंख्य संभावनाएँ हैं। हम यदि चाहें तो दुनिया के जीव-जगत् के साथ एक मंगलमय सहअस्तित्व में रह सकते हैं।** इस तरह उनके द्वारा 'जियो और जीने दो' के मंगल सूत्र का सूत्रपात हुआ। चारो ओर कुछ ऐसी रचनात्मक संभावनाएँ हाथ जोडे आ खडी हुई जिनसे मनुष्य विपथगामी होने से बच गया। हिंसा की ओर बढते उसके कदम रुक गये और वह कृषि के रास्ते पर आ गया। शिकार नही, काश्त से अपने उदर-पोषण के लिए वह तैयार हुआ।

भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी समकालीन जन-चेतना को समझा और उसे उपयुक्त संस्कार दिया। उसे सौदर्य और लालित्य का स्पर्श दिया। जीवन के मोटे मूल्यो के साथ-साथ उन्होंने उसके उदात्त और स्थायी मूल्यो की ओर भी अपने समकालीन मनुष्य का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने उसे अक्षर दिये, अक दिये। कला दी, शिल्प दिये।

समाजशास्त्र मे 'मनु' १४ हुए है। कुलकर भी १४ हुए है। नाभिराज चौदहवे कुलकर थे। वे ऋषभनाथ के पिता थे। उनकी माता का नाम मरुदेवी था। वे अयोध्या मे जन्मे। अयोध्या का अर्थ कौन नही जानता ? जहाँ युद्ध अर्थहीन हो गया है, वह है अयोध्या, जहाँ जीवन के सर्वोच्च मूल्यो का सूर्योदय हुआ, वह थी अयोध्या।

ऋषभ की दो रानियाँ थी-सुनन्दा और यशस्वती। सुनन्दा से भरत और ब्राह्मी तथा यशस्वती से बाहुबली और सुन्दरी जन्मे। उनकी सौ से अधिक सताने थी। उन्होंने एक सुगठित राज, समाज, और नीति-तन्त्र की रचना की और मानव-सस्कृति को अमरता के पथ पर अग्रसर किया।

वैराग्य की ओर कदम उठाने से पहले उन्होने अपने समकालीन समाज को असि, मसि, कृषि और ऋषि प्रवृत्तियो की ओर प्रेरित किया। ये चारो शब्द प्रतीकात्मक हैं। **असि यानी तलवार, मसि यानी स्याही, कृषि यानी काश्त-किसानी, और ऋषि तप-मुक्ति। दूसरे शब्दों में असि राजतन्त्र, मसि अर्थतन्त्र, कृषि प्रजातन्त्र, और ऋषि आत्मतन्त्र के प्रतीक शब्द हैं।**

उन्होंने स्पष्ट बताया कि हम लड़े तो कब और न लडे तो कब। जो समाज किसी भी समय लड़ने को उद्यत रहा हो उसे एक सुविकसित/सुचिन्तित युद्ध-शास्त्र देना कितना कठिन था। भगवान् ऋषभनाथ ने जहाँ एक ओर एक रचनात्मक रण-शास्त्र का प्रवर्तन किया, वहीं शान्ति बनी रहे और प्रजा का अबाध विकास हो उन तौर-तरीको को भी बताया। उन्होंने बताया कि किस तरह एक व्यक्ति पूरे समाज को अपनी विस्तार-लिप्सा के कारण हिसा की भट्टी मे झोक सकता है। भरत-बाहुबली-युद्ध-के-परिणाम को सीमित करने का सर्वोत्तम सदेश है। यह युद्ध इस समस्या का रचनात्मक समाधान भी है यदि राज-घराने मे कोई कलह, या क्लेश हो तो उससे पूरे राज्य को, या समाज को झुलसने से बचाना चाहिये।

मसि के माध्यम से उन्होने अक्षर और अक विद्याएँ दी। जिस नारी-शक्ति को आज हम पूरा सम्मान नही दे पा रहे हैं, भगवान् ऋषभनाथ ने उसे पूरा आदर दिया। उन्होंने ब्राह्मी को अठारह लिपियो का ज्ञान दिया और सुन्दरी को अक-गणित। आप ही सोचे कि यदि अक्षर और अक आदमी के पास आज न होते तो उसका क्या होता ? हम कृतज्ञ है उस महामनुज के जिसने हमे 'अ' दिया और जिसने हमे '+ − × −' दिया।

कहा जाता है कि जब ऋषभ कुमार गोद मे किलक रहे थे, तब उन्होंने किसी आगन्तुक के हाथ मे इक्षु (ईख) देखा और उसकी ओर हाथ बढाया। कहा जाता है कि तभी से इस वंश को 'इक्ष्वाकु' कहा जाने लगा। 'बीज' के बीज इसी घटना मे है। तब मनुष्य ने जाना कि वो कर वैपुल्य को पाया जा सकता है। **एकोऽहम् बहुस्याम्** (मै एक हूँ अनेक हो जाऊँया हो सकता हूँ) इस मर्म का बोध भगवान् ऋषभनाथ ने दिया। इसी तरह उन्होंने ऋषि-चिन्तन की परम्परा को

[illegible] शरीर-मात्र नहीं है। अन्त वस्तुत है ही नहीं। अन्त यदि है तो सिर्फ आकृतियो का है, प्रकृति का कोई अन्त नहीं है। आकृत अमर है। इस तरह उन्होने अध्यात्म की पावन और शाली परम्परा को प्रवर्तित किया।

[illegible] हैं। उन्होने सबसे पहले समाज-व्यवस्था की ओर ध्यान [illegible]। रक्षा के लिए क्षत्रिय और अध्ययन-अध्यापन के लिए [illegible]। स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिए शूद्रों का एक समूह बनाया गया। अन्तिम वर्ग स्वास्थ्य-विशारदो और वास्तु-शिल्पियों का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग था, जिसने न सिर्फ जनता के स्वास्थ्य पर ध्यान दिया वरन् नगर की बसाहट कैसी हो इस सिलसिले मे भी सोचा। [illegible]। सबने अपने-अपने काम अपनी-अपनी रुचि और इच्छा से चुने थे। [illegible] नहीं थी। उस तरह एक बया जिस तरह अपना घोंसला बुनता है, उस तरह बुने हुए सुगठित समाज का आविर्भाव हुआ।

एक सुदृढ़ दण्डनीति भी अस्तित्व मे आयी। दण्ड के तीन प्रकार थे। छोटे अपराधो के लिए 'हा-कार', मझोले अपराधो के लिए 'मा-कार' और निकृष्ट अपराधो के लिए 'धिक्कार'। पहले प्रकार मे 'हा' कह कर पश्चात्ताप करना होता था, दूसरे मे 'मा' कह कर अपराधी को चेतावनी दी जाती थी, और तीसरे मे उसका सार्वजनिक तिरस्कार किया जाता था। दण्ड के ये प्रकार जुर्म की तीव्रता पर निर्भर करते थे।

भगवान् ऋषभनाथ ने श्रमधर्म और श्रमणधर्म का प्रवर्तन किया। 'श्रम' श्रावको के लिए और 'श्रामण्य' श्रमणो के लिए। प्रवृत्तो के लिए श्रम और निवृत्तो के लिए श्रामण्य/तप। उन्होने चतुःसघ बनाया। इस सघ मे साधु, साध्वी और श्रावक, श्राविका थे। सघ मे नर-नारी दोनो को समान महत्त्व दिया गया। भगवान् के वैराग्य की घटना जहाँ एक ओर उनकी कला-प्रियता का प्रतीक है, वही वह समृद्धियो मे निर्लिप्तता की ओर आने का सदेश भी देती है। वह इस बात की परिचायिका भी है कि उनके समय मे मनुष्य ने न सिर्फ आर्थिक ऊँचाइयो को उपलब्ध किया था, अपितु आध्यात्मिक ऊँचाइयो को भी प्राप्त कर लिया था। भरत का चक्रवर्तित्व और बाहुबली की घोर तपश्चर्या उनके इसी द्विविध विकास के सूचक हैं।

जैन साहित्य से जो सूचनाएँ प्राप्त हे उनके अनुसार भगवान् ऋषभनाथ के चतु सघ मे ८४,००० साधु और ३,५०,००० साध्वियाँ थी। इसी तरह उनके सघ मे ३,००,००० श्रावक और ५,००,००० श्राविकाएँ थी। आइये, हम भगवान् ऋषभनाथ को भगवान् के रूप मे या जेनो के प्रथम तीर्थंकर के रूप मे तो प्रणाम करे ही- प्रणाम करे उन्हे हम एक समाजशास्त्री और परम [illegible] के रूप मे भी। हमे विश्वास करना चाहिये कि आज के इस सतप्त युग मे यह देश और ऋषि सस्कृति के राजमार्ग पर चल कर खुशहाल होगा और पूरे विश्व को सुख-शान्ति का सदेश देगा।

पर्यावरणिक नैतिकता के जनक

जैनधर्म ने धर्म को एक भिन्न ही तरह से परिभाषित किया है। शास्त्रीय शब्दावली मे धर्म का अर्थ गति है और सामान्य शब्दो मे वस्तु-स्वरूप। जैनाचार मे तप शरीर को कष्ट या क्लेश देना नहीं है, बल्कि वस्तु-स्वरूप की पहचान-परख और जाँच-पडताल है। धर्म का एक अतिप्रचलित अर्थ कर्त्तव्य ही है। धर्म के इस मायने की बीच खडे हो कर हम फैसला करे कि क्या कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र, समाज या समूह धर्म-निरपेक्ष हो सकता है ? क्या ऐसा करना संपूर्ण मानव-समाज के हित मे होगा ?

अहिसा और अपरिग्रह, सत्य और अस्तेय जिस धर्म की बुनियाद मे है, उसका प्रतिपादन जिन महापुरुषो ने किया, उन्हे जैन परम्परा मे 'तीर्थंकर' कहा गया है। ये चौबीस हुए। भगवान् ऋषभनाथ, जिन्हे आदिनाथ भी कहा जाता है प्रथम और वर्द्धमान महावीर चौबीसवे तीर्थंकर हैं।

भगवान् आदिनाथ कब हुए, यह कह पाना कठिन है, किन्तु प्राचीन भारत के जो अवशेष मिले है, उनमे उनके सपूज्य होने की स्पष्ट सूचनाएँ उपलब्ध है। मोहन-जो-दडो के खण्डहर भगवान् आदिनाथ के होने और उनके द्वारा बहुमूल्य आध्यात्मिक विरासत के प्रवर्तन के अचूक सुबूत है, यदि ऐसा न होता तो उनकी जो कायोत्सर्ग मुद्रा मिली है, वह न मिली होती।

इतिहासकारो ने माना है कि ऋषभनाथ सिन्धुघाटी सभ्यता के बहुत पहले अस्तित्व मे थे। यदि ऐसा न होता तो मोहन-जो-दडो की सीलो पर जो छबियाँ है, वे उनके होने को प्रमाणित करने मे विफल होतीं। तय है कि मूर्तिकला के विकास मे सदियाँ लगी हैं और फिर किसी महापुरुष को उसके सपूर्ण वैभव और उसकी सपूर्ण विभा मे पाषाण मे टाँकने मे निश्चय ही कला को बडी कठिन साधना करनी पडी होगी। निष्कर्षत भगवान् आदिनाथ प्रागैतिहानिक युगपुरुष थे-ऐसे महापुरुष जिन्होंने एक नये युग को जन्म दिया और अपनी समकालीन पीढी को, जो सुनिश्चित दिशा-दर्शन के अभाव मे अँधेरो मे भटक जाती, प्रशस्त मार्ग दिखाया। वस्तुत हमे उन्हे मानव-सभ्यता का एक ऐसा ज्योतिधर कहना चाहिये, जिसने आगे रह कर मनुष्य को बेहतर मनुष्य होने के सूत्र प्रदान किये।

कालचक्र घूमता है। उसे कोई रोक नही सकता। जो रोकना चाहता है, उसे उसकी अदृप्त शक्ति के आगे हार माननी पडती है। जैन संस्कृति मे मानव-विकास को चौदह चरणो मे बाँटा गया है। इन चौदह चरणो मे-से प्रत्येक मे एक कुलधर हुआ, जिसने अपने समकालीन समाज को अँधेरो मे प्रकाश दिया, उनका समीचीन मार्गदर्शन किया।

तेरहवे विकास-चरण का नेतृत्व प्रसेनजित् ने किया। उन्होंने शल्य-क्रिया के आरम्भ की

[illegible] नाभि ने [illegible] ज्ञान को ओर एक कदम आगे [illegible] प्रयुक्त-शासन [illegible] किया । नाभिराज ऋषभनाथ के पिता थे और [illegible] अत उन्होंने सहज ही अपनी पीढ़ी को [illegible] 'जीने-दिलाने' कर सकते है, और गर्व कर सकते हैं कि जो आज [illegible]

[illegible] नन्दा और सुनन्दा । नन्दा से भरत और ब्राह्मी तथा सुनन्दा से सुन्दरी और बाहुबली ने जन्म लिया । भरत ज्येष्ठ थे । बाहुबली छोटे । ऋषभनाथ ने भरत को सेवा, बाहुबली को आयुध, ब्राह्मी को अक्षर और सुन्दरी को अक के शुभाशीष दिये । इस तरह पूरे कुल [illegible]-संस्कृति को आकृत किया ।

इतिहास साक्षी है कि भगवान् आदिनाथ के समय मे पर्यावरण की कई समस्याएँ उठ खडी हुई थी । कल्पवृक्ष क्षीण हो गये थे । लोगो के पास आजीविका और उदर-पोषण का कोई साधन नही बचा था । व्यक्ति स्वयं तक सीमित हो गया था, उसकी सामाजिकता संकट मे पड गयी थी । वृक्ष विरल थे । लोग नही जानते थे कि पेड-पौधो की सभाल कैसे की जाए, उनका पुनरुत्पादन कैसे हो ? वृक्षो ने फल देना बन्द कर दिया था । चारो ओर मैदान-ही-मैदान थे, नदियाँ थी, किन्तु उनके जल का क्या हो- इसे जनता जानती ही नही थी । समतल थे, उर्वर थे, किन्तु उनकी उर्वरता के उपयोग का बोध किसी को न था । दिशाएँ समृद्ध थी, किन्तु इस पार्थिव समृद्धि के उपयोग का अनुमान किसी को न था । ऋषभदेव की प्रज्ञा ने मैदानो को खेतो मे बदल दिया । आदमी को पहली बार बीज की शक्ति का ज्ञान दिया और उन्हे फसल की अवधारणा दी । उन्होंने जनता को स्पष्ट बताया कि पेड-पौधे/पशु-पक्षी वरदान हे-इनका उपयोग करो, इन्हे नष्ट मत करो । अहिसा की धारणा का रचनात्मक अकुर यहाँ से प्रवर्तित हुआ ।

हल ओर बेल, खेत ओर खलिहान की परिकल्पना भगवान् ऋषभनाथ के युग मे हुई । बेल को उन्होंने साथी बनाया, यही कारण हे कि उनका एक नाम 'हल-सिद्धनाथ' भी है । डॉल्फिन और डॉग, टर्टल ओर कैनरी के प्राणो का मूल्य पश्चिम ने तब जाना जब इन प्राणियो ने उनके जलपोतो को और जीवन की रक्षा की; फिर भी क्या वे उतनी करुणा-वृष्टि कर पाये, जितनी आदिनाथ ने की ?

ऋषभनाथ करुणा के अवतार थे । उन्होंने मनुष्य को पर्यावरण का ककहरा सिखाया और उसे पग-पग पर सावधान ओर संवेदनशील बताया । उन्होंने अन्न के कण-कण ओर पानी की बूँद-बूँद का महत्त्व प्रतिपादित किया । पृथ्वी की गरिमा को उन्होंने मनुष्य के सामने इस तरह कुछ रख दिया कि मनुष्य बर्बर होने से बच गया (आज फिर वह हुआ हे ओर इसीलिए आज फिर किसी की प्रतीक्षा हमे हे ।)

भगवान् ऋषभनाथ एक ऐसे युग मे हुए जबकि मनुष्य परिवर्तन-के-चक्र मे उलझ गया था। कालपुरुष के रथ-चक्र घूम रहे थे। पर्यावरण क्षत-विक्षत था। लोग किंकर्तव्यविमूढ थे। उनके सामने कोई स्पष्टता नही थी। सब जानते हैं, अस्पष्टताएँ सकट को जनमती हैं और स्पष्टताएँ समाधान को। भगवान् ऋषभनाथ ने मानव-सस्कृति को उत्थान के सर्वोच्च शिखर पर आसीन किया, जहाँ मनुष्य ने पहली बार अनुभव किया कि जीवन भी गुणवत्ता और प्राणिमात्र की धडकन के सम्मान का भी कोई स्वाद और आनन्द होता है।

विश्व के सर्वप्रथम कृषक भगवान् ऋषभनाथ ने लोगो को एक ऐसा जीवन-दर्शन दिया जिसने प्रगति के असख्य द्वार खोल दिये। उन्होने अपनी पीढी को रक्षा, वर्ण, खेती और अध्यात्म से लैस किया। उसे इस चारो की अतल गहराइयो से परिचित कराया।

उन्होंने मनुष्य को असि, मसि, कृषि और ऋषि की अवधारणाएँ दी। लोग असि का अर्थ तलवार करते है, किन्तु यह नहीं जानते कि जिसका इक्यासी मजिल वाला प्रासाद अयोध्या मे हो, उसे तलवार की भला क्या जरूरत थी? अयोध्या ! शान्ति और हथियार !! दोनो दो विरोधी ध्रुव है। वस्तुत जिसने अपनी भीतरी ताक़त को इतना विकसित कर लिया हो कि बाहरी ताकत ने उसके चरण छू लिये हो तो फिर उसे तलवार की जरूरत भला क्यों होगी ? ढाल ही जिसकी तलवार बनी हो, उसे किसी भी तरह की शस्त्रास्त्र की आवश्यकता शायद नही है।

अयोध्या अथवा अ-वध मे शस्त्र बने, या रखे जाएँ इसकी कल्पना ही संभव नही है। वहाँ, हाँ, अनेकान्त जैसा अचूक वज्र अवश्य हो सकता है, जो तलवार से भी बडे किसी अस्त्र की काट वन सकता है।

असि का अर्थ अनेकान्त है। असि का अर्थ स्याद्वाद है। अनेकान्त मानता है कि वस्तु वहुआयामी है। किसी भी समस्या, स्थिति, या दशा का एक ही आयाम नही हो सकता। मनुष्य के विकास या प्रगति का एक ही आयाम हो, यह कैसे सभव है ? जब तक हम यह नही जानेंगे कि हमारे चारो ओर बहुआयामिता धडक रही है, हम विश्व को भली-भाँति समझ ही नही सकते। अनेकान्त जहाँ एक ओर बहुमुखीनता के सार्वभौम तथ्य को प्रतिपादित करता है, वहीं वह स्याद्वाद द्वारा झगडा करने वालो को अन्तिम कथन से रोकता है और कहता है कि वस्तु या स्थिति को चारो ओर से तोलो-परखो और भाषा की सीमाओ को जान कर उसका वर्णन करो।

मसि का अर्थ स्याही है। स्याही लेखन के उपयोग मे आती है। हम अक्षरो और अको के माध्यम से लिखते-पढते/लेन-देन करते है, मसि विद्या का वाच्य शब्द भी है। जो जानता नहीं है, वह कपट मे फँस जाता है, अत अपने इर्द-गिर्द की सम्यक् समीक्षा नही कर पाता। सत कहते है 'मसि-कागद की आसरे क्यो छूटै भवफँद' यह सच है, किन्तु इनके सहारे आँख जरूर मिल जाती है। मसि साधन है, साध्य नही है। ग्रन्थ साधन है, साध्य नही है। मसि की असली प्रतीक है मनुष्य

की मेधा, उसकी साधना, उसकी तड़प। जितना, जो आज हमारे ग्रन्थालयो मे हे, वह सब मसि की कृपा है।

कृषि के आविष्करण ने तो मनुष्य की सास्कृतिक दशा और दिशा ही बदल दी। हल चलाओ, बीज बोओ और देखो कि तुम्हारे अहिसक आधार की व्यवस्था हो गयी है। अपने वातावरण मे जो भी उर्वर हे, उसका इस तरह उपयोग करो कि प्रकृति को कोई क्षति न पहुँचे। भगवान् ऋषभनाथ न केवल भगवान् थे, वे एक ऐसे कालजयी महापुरुष थे, जिन्होंने पर्यावरण की महत्ता को समझा और उसे लोगो तक पहुँचाया। उन्होंने प्रकृति को मनुष्य के बाहरी और भीतरी दोनो जीवन से जोडा। सस्कृति-ध्वस के साथ मनुज और प्रकृति के बीच जो दरार पडने को थी, भगवान् आदिनाथ ने उसे शक्ल नही लेने दिया और कृषि के माध्यम से उन्होंने मनुष्य को प्रकृति से जुड़ा हुआ रखा।

पर्यावरण द्विविध है। एक वह जो मनुष्य के बाहर और दूसरा वह जो उसके अन्दर है। दोनो सहअस्तित्व मे हैं। पेड-पौधे, नदी-पहाड, प्रपात-जलाशय सब मनुष्य के जीवन को प्रभावित करते है, इसीलिए मनुष्य को भगवान् ने सृजनधर्मी बनाये रखा और कला, संस्कृति, शिक्षा, शिल्प, काव्य, सगीत आदि से जोड कर उसे अहिसक बना दिया।

अध्यात्म कृषि के बाद का विकास-चरण है। कृषि देह को स्वस्थ और तृप्त करने का प्रबन्ध है। कृषि और अध्यात्म क्रमश मनुष्य के देह और उसके विदेह के आहार-प्रबन्ध है। कृषि मनुष्य का पेट भरती है और अध्यात्म उसकी आत्मा को समृद्ध करता है। इस तरह भगवान् ऋषभनाथ मनुष्य को बहुआयामिता-बोध और विद्या विरासत मे दे सके ताकि वह अहिसक आत्मानुशासक बना रह सके।

अजितवीर्य बाहुबली ने शान्ति और अयुद्ध तथा भरत ने जनता को आठो याम सेवा का पाठ पढाया। 'चक्रवर्ती' के मायने यह कभी नही है कि राजा वह जो रथ पर आरूढ हो कर आखेट करे, साम्राज्य का तलवार-की-नोक पर विस्तार करे और विलास मे डूबा रहे। आज ऐसे चक्रवर्ती ? भरत, जिनके नाम से इस महान् देश का नाम भारत पडा, सेवा-के लक्ष्य मे आठो याम चक्रवर्तित रहते थे। उनके रथ का पहिया एक क्षण को भी थमता नही था। भरत का अर्थ है कि जो प्रजा के भरण-पोषण मे पग-पग पर जागृत रहे।

इस तरह ऋषभनाथ, भरत और बाहुबली कमश· परम साधना, सेवा और शान्ति की प्रतीक मूर्तियाँ है, जो हमे उन उदान्त जीवन-मूल्यो के पुनरुज्जीवन की प्रेरणा देती है, जो आज · है, और जिनके अभाव मे आज चारो ओर युद्ध, अशान्ति, अंसतोष और आक्रोश है।

प्रथम शलाका पुरुष

जैन पुराणो मे चौदह कुलकरो का वर्णन आया है। इन्हे मानव-सभ्यता का सूत्रधार माना जाता है। इस परम्परा मे नाभिराज चौदहवे कुलकर थे। प्रथम शलाका पुरुष तीर्थंकर ऋषभनाथ इन्हीं के पुत्र थे। नाभिराज ने मनुष्य को कर्म और पुरुषार्थ के धरातल पर ला खडा किया।

कुलकर-परम्परा तीर्थंकर-परम्परा के सदर्भ मे ससार की परम्परा थी। कुलकरो ने कुल अर्थात् परिवार और समाज की रचना के आधार बनाये और तीर्थंकरों ने ज्ञान को उस शिखर तक पहुँचाया जहाँ वह केवलज्ञान बनकर मोक्ष रूप हो गया। कुलकरो ने श्रम को गौरवान्वित किया और तीर्थंकरो ने श्रामण्य को।

इन कुलकरो के उपरान्त आये तिरसठ शलाका पुरुष, ये थे- २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण। तीर्थंकरो मे सर्वप्रथम हुए ऋषभनाथ जिन्होंने आत्मविद्या का नेतृत्व किया।

प्रथम शलाका पुरुष तीर्थंकर ऋषभनाथ काल के एक ऐसे सुदूर छोर पर है, जहाँ मनुष्यता का सूर्य क्षितिज पर उठ रहा है। वे कब हुए इतिहास की भाषा मे इसे जानना असभव है, किन्तु इतना अवश्य है कि उनका उल्लेख जैन पुराणो के अतिरिक्त अन्यत्र अनेक ग्रन्थो मे बडे गौरव के साथ हुआ है। ऋग्वेद, श्रीमद् भागवत इत्यादि मे ऋषभनाथ के विशद वर्णन आये है। वे सर्वपूज्य और सर्वसम्मत है, उनको ले कर कोई विवाद नही है। वे योगेश्वर है, प्रागार्य है , वेद-पूर्व है। वेदो मे है, वेदातीत हैं। मोहन-जो-दडो के अवशेषो मे उनको ले कर स्पष्ट प्रमाण मिले है। अब यह बिलकुल सिद्ध हो गया है कि ऋषभनाथ योग मे निष्णात थे और उन्होंने योग की परम्पराओ का निर्धारण किया था।

इतिहास ने अब इस बात को भी स्वीकार कर लिया है कि क्षत्रियो ने ब्राह्मणो को योग की परम्परा सौपी। वेद-पूर्व क्षत्रिय, वर्ण-विभाजन से भिन्न है। वे वर्ण-पूर्व हैं, वर्णोपरान्त क्षत्रियो से भिन्न देश-विदेश के इतिहास और पुरातत्त्व के विशेषज्ञो ने इन तथ्यो को न केवल मान लिया है वरन् बड़े निर्भ्रान्त भाव से यथास्थान इनका उल्लेख भी किया है। यह कोई गर्वोक्ति नहीं है अपितु एक ऐतिहासिक तथ्य है। वातरशना, कैशी इत्यादि मुनियो के वर्णन इतने प्राचीन हैं कि श्रामण्य चिन्तन को स्वयमेव एक स्वतन्त्र और मौलिक मान्यता मिल गयी है। श्रमण और ब्राह्मण

संस्कृतियो मे चिन्तन और मान्यताओ का स्पष्ट अन्तर है। भारत एक ऐसा प्यारा देश है, जहाँ दो विरोधी विचार-वीथियाँ सहअस्तित्व मे सुखद-निरापद साँस लेने मे समर्थ रही है। जैनो का 'अनेकान्तवाद' सहअस्तित्व और समरसता का ही एक अन्य नाम है। यदि श्रमण विचारधारा का निचोड किसी एक ही शब्द में देना हो तो वह है 'अनेकान्तवाद' या स्याद्वाद'।

ऋषभनाथ ने जैनधर्म का प्रवर्तन किया। वैसे जैनधर्म उतना ही प्राचीन है जितने छह द्रव्य अनादि है, अनन्त है। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल अजन्मे है, अजर है, अमर है, जैनधर्म अणु-अणु मे समाया हुआ धर्म है, अत उसका कोई आरंभिक छोर पाना असंभव ही है।

जैनधर्म का भेद-विज्ञान, जीव-अजीव, जड-चेतन के पृथक्करण की आत्मविद्या का अमर विज्ञान है, इसके अनुसार प्रत्येक प्राणि-देह एक प्रयोगशाला है और प्रत्येक प्राणी एक सभाव्य आत्म-विज्ञानी। उसके पास प्रयोग के समस्त उपकरण उसके चिन्तन मे ही सुलभ है। कहने का आशय यह है कि तीर्थंकर ऋषभनाथ ने आध्यात्मिक चिन्तन के खजाने को सार्वजनिक रूप मे उपलब्ध किया। वे आत्मसाक्षात्कार की कला के सर्वप्रथम मर्मज्ञ थे। भरत को राज्य सौप कर वे वातरशना मुनियों की कोटि मे चले आये। उन्होंने दिशाओ को ओढ लिया और शरीर को भी वस्त्र से अधिक कभी नही माना। वे अहिसा और अपरिग्रह-वृत्ति के जीवन्त तीर्थ की भाँति दिग्दिगन्त मे भ्रमण करते रहे। वे इक्ष्वाकु थे। उन्होंने आरम्भ मे ही, जब राज्यारूढ थे, प्रजा को कृषि और कृष्टि दोनो की ही समुचित शिक्षा दी थी। उन्होंने मनुष्यो को न केवल जीना सिखाया वरन् एक-दूसरे पर अपने विचार व्यक्त करने की कला भी उन्हे दी।

उन्होंने भाषा दी, लिपि दी, उपयोगी और ललित कलाएँ दीं। ब्राह्मी लिपि ऋषभ की देन है, संगीत के वे जनक है। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर सारा देश 'भारत' कहलाया। मनुष्य को मनुष्य बनाने, उसे भोग से पुरुषार्थ और धर्म की ओर लाने का श्रेय प्रथम शलाका पुरुष ऋषभनाथ को ही है, यही कारण है कि उन्हें 'आदिनाथ' कहा जाता है। जैन तीर्थंकरो मे ऋषभनाथ सर्वप्रथम और वर्द्धमान महावीर अन्तिम तीर्थंकर है।

ऋषभनाथ के बाद २३ तीर्थंकर और हुए जिन्होंने ऋषभ-प्रणीत धर्मचक्र को गति दी, ये उसे [illegible]यिक और युगानुरूप बनाये रखने का दायित्व निभाते रहे। जैनधर्म की तीर्थंकर-परम्परा ने धर्म सदैव प्रासंगिक अर्थ दिया और उसे लोकोन्मुख बनाये रखा।

ज्येष्ठ/श्रेष्ठ प्रजापति

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। सांस्कृतिक वैविध्य इसकी विशेषता है। यह वैविध्य इतना रचनात्मक है कि सहज ही यह इसकी सुविधा, सुन्दरता और जीवन-पद्धति बन गया है। हिन्दी मे महाकवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त की एक गीत-पक्ति है **भारतमाता ग्रामवासिनी**। इसमे-से जो सचाई झाँक रही है, वह इसके निवासियो का जीवन-दर्शन है। सक्षेपत भारत का जन-जीवन ग्रामोन्मुख है, नगरोन्मुख नही है।

भारत गाँवो का देश है। गाँव के पाँवो पर चलता है भारत का भाग्य। गाँव न हो तो भारत-का-अस्तित्व ही खतरे मे पड़ जाए। प्रजापति भगवान् ऋषभनाथ लोक सस्कृति के विधातृ देव हैं। ब्रह्मा और प्रजापति पर्याय शब्द है। प्रजापति देहरी-दीप की कोटि का शब्द है। वह बाहर भी उजास देता है, अभ्यन्तर भी आलोकित करता है।

भगवान् ऋषभनाथ जैनो के प्रथम तीर्थंकर हुए। उन्होने मानव-संस्कृति को कम-से-कम छह प्रवृत्तियाँ दीं बीज, कवच, कलम, आत्मविद्या, कला, शिल्प। बीज मे-से आहार की सुवह हुई। कवच मे-से आत्मरक्षा का कमल खिला। कलम मे-से अक्षर और अंक के झरने फूटे। आत्मविद्या मे-से सृष्टि के लिए समझ का उष काल हुआ, मुक्ति का सुनिश्चित उपाय वना। कला ने मनुष्य को सौदर्य-की-नपीतुली दृष्टि प्रदान की। शिल्प ने विज्ञान और तकनीक के साधन-स्रोत दिये। इस तरह प्रजापति प्रज्ञापति बने। उन्होंने अपनी प्रजा को श्रम का अद्भुत वरदान दे कर उसे सब ओर से निरापद /निश्चित कर दिया।

'प्रजा' का जो अर्थ परम्परा से वहता चला आ रहा है, वह है 'समस्त जीवधारी' तदनुमार प्रजापति के मायने हुए समस्त 'जीवधारियो का-स्वामी'। ख्याल रहे, यहाँ स्वामी शब्द स्वामित्व का वाचक नही है। इसका सहज अर्थ है दिग्दर्शक, जब अँधेरे वढे, तव उन अँधेरो को चीर कर चारो तरफ फैलने वाली किरण। ध्यान रहे, स्वामित्व अँधेरो को नहीं, उजेलो को जन्मता है। असल मे स्वामी वह होता है, जो स्वयं को, स्वयं का स्वामी जानता और तदनुमार पूरे मम्यक्त्व को पहचानता है। असली स्वामी वह है जो खुदी के जाने और दूमरो की मत्ता मे हस्तक्षेप न करे वल्कि दूसरो की सत्ता का परिपूर्ण सम्मान करे।

प्रजापति का अर्थ जीवधारियो-का-स्वामी मात्र नहीं है। अपितु इमका अर्थ है वह

महापुरुष जो समस्त जीवधारियो को यह बताता हो कि वे स्वयं के पति है-हर तरह से स्वाधीन है। जो समस्त प्राणियो की स्वाधीनताओ और स्वाभाविकताओ को जगाता है, उन्हे उनके वास्तविक पुरुषार्थ के दर्शन कराता है, वह है सच्चा प्रजापति। जो प्रजाओ का पति नही है, बल्कि जो उनके स्व-स्वामित्व के मर्म को समझता है, उनके सम्यक्त्व मे प्रकट करता है, उन पर से तमाम आवरण हटाता है, वह है प्रजापति। **प्रजापतित्व अर्थात् मिथ्यात्व का पटाक्षेप। सम्यक्त्व का पटोस्थान।**

लाखो वर्ष हुए जब प्रजापति भगवान् ऋषभनाथ ने हमारी इस धरित्री को धन्य किया था उनके पुत्रो मे-से भरत के नाम पर इस महान् देश का नामकरण भारत हुआ और प्रथम मोक्षगामी बाहुबली ने युद्ध-जैसी विभीषिका को एक अहिसक और दार्शनिक मोड दिया। इस आलोक-त्रिभुज-**आदिनाथ, भरत, बाहुबली**-मे न केवल इस देश अपितु पूरे विश्व-धर्म की व्याख्या सभव है, उसे समझा जा सकता है।

आज जब कि पूरे विश्व की कृषि-सस्कृति खतरे मे है, प्रजापति भगवान् आदिनाथ-ऋषभनाथ का जीवन-दर्शन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के साथ-ही-साथ प्रासंगिक है। पश्चिम मे कृषि (फार्मिंग) के जो विषम अर्थ विकसित हुए है, हमे उनके अनुकरण और अनुसरण पर अपने देश की गौरवशाली संस्कृति के ताने-बाने छिन्न-भिन्न नही करना है, वरन् अपनी मौलिकताओ को अपने श्रम, विवेक, ज्ञान और बाहुबल से अधिक सुरक्षित और अहिसक बनाना है। कहाँ बीज-जैसा निर्मल आविष्कार और कहाँ फैक्टरी-फार्मिंग, पौल्ट्री-फार्मिंग, फिश-फार्मिंग, मीट-फार्मिंग, वार्म-फार्मिंग, कैमल-फार्मिंग इत्यादि ! क्या हम अपनी सांस्कृतिक मौलिकताओ के साथ यह क्रूर कीडा होने देगे और कृषि के अर्थ को दूषित बनायेगे ? क्या हम हिसा और अहिसा को एक-जैसा सम्मान देगे ? क्या हमारी सरकारे सहज कृषि और पौल्ट्री-कृषि आदि को तुल्य श्रेणी मे रखने का पार्पाजन-दुस्साहस करेंगी ?

हमारा दायित्व है कि हम प्रजापति भगवान् ऋषभनाथ के भारतीय सस्कृति को प्रदत्त योगदान को पूरी शक्ति के साथ उजागर करे और अनगिनत क्रूरताओ तथा विकृतियो के बढते कदमो को रोके।

समग्र सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

जो काम महात्मा गांधी ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे अहिसा को लोकजीवन से जोड कर किया, वही काम हजारो वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ ने अहिसा की व्याप्ति को व्यक्ति तक विस्तृत कर सामाजिक जीवन मे प्रवेश दे कर किया। यह एक अभूतपूर्व क्रान्ति थी, जिसने उस युग की काया ही पलट दी।

-डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

विहंगावलोकन

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तीर्थंकर-क्रम	तेईस
तीर्थंकर-चिह्न	सर्प
जन्म-स्थान	काशी (वाराणसी), उ प्र
जन्म-तिथि	पौष कृष्ण ११ (८७७ ईस्वी पूर्व)
गौत्र (वश)	काश्यप
पिता	राजा अश्वसेन
माता	वामादेवी
कौमार्य जीवन (कुमार-काल)	३० वर्ष
दीक्षा-तिथि	पौष कृ-११ (८४७ ई.पू)
केवलज्ञान-तिथि	चैत्र कृ ४
केवलज्ञान-स्थल	वाराणसी
देशना-काल	७० वर्ष
निर्वाण-तिथि	श्रावण शु ७ (७७७ ईस्वी पूर्व)
निर्वाण-स्थल	सम्मेदशिखर (बिहार)
आयु-प्रमाण	१०० वर्ष

समग्र सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता तीर्थंकर पार्श्वनाथ
डॉ. नेमीचन्द जैन, संपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२००१, मुद्रण नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर-४५२००९, टाईप सैटिंग · प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर-४५२००१, प्रथम संस्करण अक्टूबर, १९९७; मूल्य · चार रुपये।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ : समग्र सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता

ऐतिहासिक तथ्यो के असंतुलित दोहन के फलस्वरूप जैन तीर्थंकरो के बारे मे देश-विदेश मे जो भ्रम फैले है, उनके प्रामाणिक निरसन का पुरुषार्थ आवश्यक है। अधिकांश विद्वान् (इतिहासविद् नहीं) भगवान् महावीर को जैनधर्म का प्रवर्तक प्रतिपादित करते है। शिक्षा-सस्थाओ मे जो पाठ्य-पुस्तके पढाई जाती है, दुर्भाग्य से उनमे भी यह गलतफहमी दर्ज हुई है। वस्तुत भगवान् महावीर चौबीसवे तीर्थकर है, जिनकी पृष्ठभूमि पर भगवान् ऋषभनाथ से ले कर पार्श्वनाथ तक तेईस तीर्थंकर और हुए। कम-से-कम भगवान् नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर को ले कर इतने निर्विवाद और ठोस सुबूत है कि अपरिपक्व/अपरिपूर्ण अध्ययन के कारण स्थापित भ्रान्त धारणाएँ स्वत उन्मूलित हो जाती हैं। **यथार्थ यह है कि जैनधर्म (श्रमण संस्कृति) संपूर्ण भारत में व्याप्त था और द्राविड़ जन, जो पूरी तरह अहिंसक थे, पूरे देश मे एक छोर से दूसरे छोर तक बसे हुए थे।** ब्राहुई (द्राविड भाषा) का सुदूर उत्तर-पूर्व मे पाया जाना, उनके इस विस्तार का जीवन्त साक्षी है। यह तथ्य भी दस्तख़त करता है कि समस्त तीर्थंकर उत्तर भारत मे हुए तथा आचार्य दक्षिण भारत मे। कन्नड और तमिल भाषाओ मे प्रचुर जैन साहित्य की उपलब्धि भी एक ऐसा ही तथ्य है, जिसकी अनदेखी संभव नही है। भगवान् पार्श्वनाथ के साथ भिल्ल-जीवन (कमठ का सातवाँ भव कुरग भिल्ल का है) से जुडा होना भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। द्राविड़ भाषाओ मे 'वील' (तमिल) और 'बील' (ब्राहुई) शब्द उपलब्ध है, जिनके अर्थ 'धनुष' है। तीर-कामठी (बाण-धनुष) भीलो की परम्परित प्रजातिक पहचान है, जिन्हे आज भी देखा जा सकता है।

आविर्भाव-काल

भगवान् पार्श्वनाथ (१००) का आविर्भाव-काल ईसा-पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी माना जाता है। वे भगवान् महावीर (७२) के पूर्ववर्ती है तथा माना जाता है कि उनके २५० वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ हुए। भगवान् पार्श्वनाथ के १० पूर्वभवो के वर्णन मिलते है। उपलब्ध श्रृखला मे प्रथम भव मे मरुभूति और कमठ तथा दसवे मे पार्श्वनाथ और सम्वर देव के रूप मे इनका उल्लेख हुआ है। पारम्परिक उल्लेख के अनुसार उनके माता-पिता के नाम क्रमश वामा (ब्राह्मी) तथा विश्वसेन (अश्व/हय सेन) थे। उनका जन्म वाराणसी और निर्वाण श्री सम्मेदशिखर मे हुआ। दिगम्बर तथ्यो के अनुसार वे अविवाहित और श्वेताम्बरो के अनुसार विवाहित थे।

सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात

उपलब्ध तथ्यो के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ का समकालीन भारतीय समाज अत्यन्त व्यवस्थित था। 'अपराविद्या' (कर्मकाण्ड) से ऊब कर उसने 'पराविद्या' (अध्यात्म) को अंगीकार करना आरम्भ कर दिया था। भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा इतनी प्रशस्त और

प्रभावशालिनी थी कि उसका असर उपनिषदो की विषय-वस्तु पर भी पडा। **चातुर्याम संवरवाद** के कारण भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित चिन्तन एक अत्यन्त व्यवस्थित सामाजिक संरचना का कारण बना। उनसे पूर्व सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह सिर्फ साधुई जीवन से संबद्ध थे, किन्तु उन्होने इनमे अहिसा को सघन प्रवेश दे कर एक नूतन, समन्वित और सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया।

जीवन-मूल्यों का सामाजीकरण

पार्श्वयुग मे अब तक जो जीवन-मूल्य व्यक्ति-जीवन से संबद्ध थे, उनका समाजीकरण हुआ और एक नूतन आध्यात्मिक समाजवाद का सूत्रपात हुआ। जो काम महात्मा गाँधी ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध अहिसा को लोकजीवन से जोड कर किया, वही काम हजारो वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ ने अहिसा की व्याप्ति को व्यक्ति तक विस्तृत कर सामाजिक जीवन मे प्रवेश दे कर किया। यह एक अभूतपूर्व क्रान्ति थी, जिसने उस युग की काया ही पलट दी।

आध्यात्मिक समाजवाद

माना सर्वथा प्राणातिपात-विरमण (विरति), सर्वथा मृषावाद-विरमण; सर्वथा बहिद्धादान बहिरादान विरमण, सर्वथा अदत्तादान विरमण की चातुर्याम व्यवस्था ने सामाजिक स्वाधीनता तथा निर्विघ्नता के द्वार खोल दिये थे, किन्तु ब्रह्मचर्य का स्वतन्त्र उल्लेख न होने के कारण नारी की स्वाधीनता को पूर्णतया परिभाषित नही किया जा सका था। मान लिया गया कि नारी परिग्रह है और परिग्रह-विरमण मे वह समाविष्ट है। इसका अर्थ पुरुष-सत्ताक अध्यात्मवाद का प्रचलन माना जाएगा, किन्तु जब आगे चल कर भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य का पाँचवाँ आयाम विवृत किया, तब नारी-मुक्ति के लिए पर्याप्त आधार बने और आध्यात्मिक उर्वरता के लिए नये वातायन खुले। स्पष्ट/असंदिग्ध शब्दो मे कहा गया कि स्त्री पुरुष के लिए जिस तरह साधना-विघ्न है, ठीक वैसे ही पुरुष भी स्त्री के लिए साधना मे बहुत बडी अड़चन है। यदि स्त्री परिग्रह है, तो पुरुष भी परिग्रह ही है। अपरिग्रह की इस नयी परिभाषा ने जैनधर्म की गरिमा को समृद्ध किया और चतु·संघ को एक नया अर्थ तथा स्वस्थ छवि प्रदान की। भगवान् पार्श्वनाथ से जो रिक्थ-संपदा मिली वह आध्यात्मिक समाजवाद को अपनी कोख मे लिये थी, जो आगे चल कर एक समग्र समन्वित सामाजिक क्रान्ति का सुदृढ़ आधार बनी।

समाज-शुद्धि के लिए व्यक्ति-शुद्धि महत्त्वपूर्ण

भगवान् पार्श्वनाथ के १० भवों की कथा क्षमा-प्रतिशोध के घनीभूत द्वन्द्व की कथा है, जिसने व्यक्ति-शुद्धि और आत्मबल की नयी इमारते उत्तिष्ठ कीं और यह सिद्ध किया कि अन्तत वीतरागता ही विजयिनी होती है। समाज-शुद्धि के लिए व्यक्ति-शुद्धि कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसकी विकास-कथा भगवान् पार्श्वनाथ के दस पूर्वभवों मे विवृत है। **हम भगवान् के इन पूर्वभवों को एक दीर्घकालिक पर्युषण की संज्ञा दे सकते हैं।**

सार्वभौम धर्म के प्रवर्तन का सुदृढ़ सरंजाम

भगवान् पार्श्वनाथ की जीवन-घटनाओ मे हमे राज्य और व्यक्ति, समाज और व्यक्ति तया व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के सबन्धो के निर्धारण के रचनात्मक सूत्र भी मिलते है। इन सूत्रो की प्रासंगिकता आज भी यथापूर्व है। हिसा और अहिसा का द्वन्द्व भी हमे इन घटनाओ मे अभिगुम्फित दिखायी देता है। ध्यान से देखने पर भगवान् पार्श्वनाथ तथा भगवान् महावीर का समवेत् रूप एक सार्वभौम धर्म के प्रवर्तन का सुदृढ सरंजाम है।

कालजयी/आत्मजेता महामानव

उन दिनो तापसो का ज़ोर था। तन्त्रवाद अपनी तरुणाई पर था। भगवान् पार्श्वनाथ तत्कालीन तन्त्रवाद को एक प्रांजल आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करना चाहते थे, ताकि उनके समकालीन लोक-जीवन मे जो विकृतियाँ, असन्तुलन और विघटन आ गया था, उसका निवारण सभव हो। 'पद्मावती' और 'धरणेन्द्र' की वास्तविकता से हम इकार नहीं करते, किन्तु यदि हम इन्हे क्रमश. 'कुण्डलिनी' और 'काल' की प्रतीक माने तो हमारे सामने कई रहस्य-द्वार खुल जाते है। भगवान् पार्श्वनाथ कालजयी/आत्मजेता महामानव थे, उनका अध्यात्म स्वयं मे इतनी अदृप्त तेजोमयता लिये हुए था कि उनके समकालीन तापसों का खोखलापन आपोआप छिन्न-भिन्न हो गया। कमठ और मरुभूति के दस भवो के आरोह-अवरोह, अन्तत विजयी शुद्धाध्यात्म के आरोह-अवरोह है। हम भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन को अध्यात्म की विश्व-विजय का नाम दे सकते है।

सम्यक्, स्वस्थ आध्यात्मिक जीवन-मूल्यो के मोक्षोन्मुख समन्वय

हमे, वस्तुत , तीर्थंकरो के जीवन-प्रसंगो की जो व्याख्या करनी थी - उन्हे ले कर जो समझ विस्तृत करनी थी, उसे करने मे हम सफल नही रहे है। अलकारो और प्रतीकों के तलातल मे नामालूम कितने बहुमूल्य विचार-मणि दवे पडे है - इसका सुनिश्चित वोध हमें नहीं है। **भगवान् पार्श्वनाथ मात्र पार्श्वनाथ नहीं है वरन् सम्यक्, स्वस्थ आध्यात्मिक जीवन-मूल्यो के मोक्षोन्मुख समन्वय हैं।**

अनेकान्तमूलक श्रमण संस्कृति

यह मान कर चलना कि सबकुछ अपरिवर्तनीय है, जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तो की गभीर अनदेखी है। अनेकान्तमूलक श्रमण संस्कृति परिवर्तन और विकास को आत्मसात् कर चलने वाली अभूतपूर्व सस्कृति है। विकास (इवोल्यूशन) और परिवर्तनशीलता (चैजेबिलिटी) तथा मूलभूत सिद्धान्तो मे कही कोई टकराहट नहीं है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मे विकास की जीवन्त/स्पष्ट अनुभूति/उपस्थिति अत्यन्त तीव्रता से स्पन्दित है। जो लोग आग्रही हैं , उनकी

बात जुदा है; किन्तु जो सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अनाटॉमी (शरीर-रचना) और मेटाबॉलिज्म (चयापचय) का ज्ञान रखते है, वे जैनधर्म की इस विशेषता को भलीभाँति समझ सकते है। **पार्श्वनाथ का 'पार्श्वनाथत्व' जब तक हम ठीक से नहीं समझेंगे, तब तक उनकी स्थूल पूजा-अर्चा का कोई अर्थ नहीं होगा।**

प्रासंगिकता अक्षत

चाहे जिस कोण से देखा जाए, भगवान् पार्श्वनाथ के सामाजिक/आध्यात्मिक अस्मित्व की प्रासंगिकता बरकरार है, अक्षत है - उसमे कही कोई फर्क नही आया है।

भगवान् ऋषभनाथ से पार्श्वनाथ तक चिन्ताधारा : अविच्छिन्न/विकासोन्मुख

ध्यान से देखने पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच सकते है कि भगवान् ऋषभनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ तक जो चिन्ताधारा प्रवाहित है, वह अटूट/अविच्छिन्न/विकासोन्मुख है, उसमे कही-कोई अन्त संघर्ष नहीं है। जैनधर्म, वस्तुत , एक ऐसा धर्म है, जिसने श्रावकाचार की बहुमुखीनता पर समय-समय पर विचार किया है, उसकी प्रासंगिकता को प्रखर, तर्कसंगत और युगानुरूप बनाया है तथा अपनी साधु-परम्परा को तेजस्विता प्रदान की है। जैनधर्म मे स्वीकृत श्रमणाचार इतना सूक्ष्म, पारदर्शी, सावधान और गरिमावान् है कि वह श्रावको को निरन्तर परिष्कृत, स्वस्थ, युगोचित और अविचलित रखता आया है। किस तरह दोनो आचार परस्पर-पूरक/प्रेरक है, इस तथ्य को हम भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन-दर्पण मे प्रतिबिम्बित देख सकते है।

तीर्थंकर-परम्परा और पार्श्वनाथ

इतिहास के नेत्र है शिलालेख, ग्रन्थ इत्यादि इनमे आगे पुरातत्त्व, भूगर्भ-विज्ञान और सब से अन्त मे मनुष्य का अनुमान-ज्ञान। इस दृष्टि से हमे नमि से लेकर वर्द्धमान तक के तीर्थंकरो के संबन्ध मे ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है तथा अवशिष्ट तीर्थंकरो को ले कर इतिहास स्वभावत मौन है। ऋषभनाथ से ले कर नमिनाथ तक २१ तीर्थंकर हुए। तीर्थंकरो ने आत्मविद्या का प्रवर्तन किया।

नमिनाथ : अनासक्ति

नमिनाथ इक्कीसवे तीर्थंकर है। वे अनासक्ति योग के प्रतीक है। हिन्दू-पुराणकारों ने नमि को मिथिला का राजा कहा है। राजा जनक इन्ही के वशधर थे। उनकी अनासक्त वृत्ति विख्यात थी। इसी कारण उनका वश और राज्य 'विदेह' कहलाता था। अहिसा के प्रत्यय का नमि के युग मे इतना व्यापक प्रसार और समुचित परिष्कार हो गया था कि उनके वंश-के-वश ने धनुष पर से प्रत्यचा उतार ली थी। जहाँ एक ओर यह मानव-सम्पदा के विकास का एक प्रौढ चरण था, वही दूसरी ओर अहिसक जीवन-शैली पर बढती हुई लोकनिष्ठा का द्योतक था। कहा जाता है यह

शिवजी का धनुष था, शिव को परम योगी कहा जाता है। वे भी वेदेतर देवता माने गये है। ऋषभ को भी शिव कहा गया है। राम ने शिव-गाण्डीय को फिर प्रत्यंचायुक्त किया, यह एक विख्यात कहानी है। (जैन इतिहास और पुराणो के अनुसार शलाका पुरुष राम-बलभद्र और राजा जनक तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के शासन-काल मे हुए)। इस अलंकार के तल मे अहिसा की एक समग्र समीक्षा साँस ले रही है। सीता-स्वयंवर का धनुष, सभव है यही हो। अहिसा ने जब भी आवश्यक हुआ है, मनुष्य के शौर्य और पुरुषार्थ को जगाया और ललकारा है, सभवत राम के युग मे यही हुआ। नमिनाथ सुदीर्घ ईस्वी पूर्व मे हुए माने जाते है। इसीलिए नमिनाथ को आत्मविद्या का पुनरुद्धारक माना जाता है।

नेमिनाथ : करुणा

नेमिनाथ बाईसवे तीर्थंकर हुए, जिनकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है। वह महाभारत का युग था। ईस्वी पूर्व कुछेक सहस्र वर्ष । नेमिनाथ यदुवंशी थे। उनके पिता अधकवृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र समुद्रविजय थे, कृष्ण, वसुदेव से उत्पन्न उनके भाई थे। इस तरह वे कृष्ण के चचेरे भाई थे। नेमिनाथ का विवाह-संबन्ध गिरिनगर (गिरनार) के राजा उग्रसेन की विदुषी कन्या राजुलमती से होना निश्चित हुआ था, किन्तु जैसे ही बारात गिरिनगर पहुँची नेमिनाथ का ध्यान अतिथियो के भोजन के निमित्त घेरे गये सैकडो पशुओ का करुणार्द्र चीत्कार पर गया। उन्होंने ससार का परित्याग कर दिया और विवाह-मण्डप में जाने की अपेक्षा वे तपोवन मे चले गये। बाईसवे तीर्थंकर के रूप मे उन्होंने अहिंसा और करुणामूलक जीवन-दृष्टि को एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त के रूप मे प्रचारित किया। उन्होंने अहिसक जीवन-शैली और अध्यात्म को अपने जीवन-काल मे नया उत्थान दिया।

पार्श्वनाथ : क्षमा

तेईसवे तीर्थंकर शलाका पुरुष पार्श्वनाथ क्षमा और निर्वैर-वृत्ति के सर्वोत्तम प्रतीक है। उन्होंने अध्यात्म की बुझती लौ मे फिर से प्राण फूँके। उनका जन्म ८७७ ईस्वी पूर्व वाराणसी के राजा अश्वसेन और रानी वामादेवी से हुआ। तीस वर्ष की अवस्था मे ही घर-बार छोड कर सम्मेदशिखर पर कठोर तपश्चर्या मे लग गये। कमठ का प्रसंग पार्श्वनाथ की साधना के निखार और परिष्कार का प्रसग है। उनके पूर्वजन्मो की कथाओ मे क्षमा और वैर के घात-प्रतिघातो का बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है। कमठ वैर है और पार्श्व क्षमा-रूप। क्षमा अर्थात् अक्रोध विश्व के सभी धर्मों का सार है। पार्श्व इसी क्षमा या निर्वैर जीवन-दर्शन के प्रतिपादक है।

धर्म-परम्परा के समवेत् संस्करण

सम्मेदशिखर पर्वत तीर्थंकर पार्श्वनाथ की निर्वाण-भूमि है। आज यह 'पार्श्वनाथ हिल' के नाम से प्रसिद्ध है। जैन पुराणो के अनुसार पार्श्वनाथ का निर्वाण-काल ईस्वी पूर्व ७७७ ठहरता है। उनका आयु-प्रमाण १०० वर्ष माना गया है। पार्श्वनाथ की जैनधर्म के तत्युगीन रूप पर गहरी छाप है, वे ऋषभनाथ से नेमिनाथ तक चली आती धर्म-परम्परा के समवेत् संस्करण है। उनमे तीर्थंकर ऋषभ का आकिंचन्य और अपरिग्रह, नमिनाथ की निरीह और अनासक्त वृत्ति, नेमिनाथ की करुणाप्रधान अहिसा-वृत्ति को सामयिक धर्मचक्र के रूप मे व्यवस्थित सिद्धान्त की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

ऐतिहासिकता असंदिग्ध/निर्विवाद

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता असंदिग्ध और निर्विवाद है। उनके समय मे निर्ग्रन्थो की धर्म-व्यवस्था लागू थी, संभवत स्वस्तिक तत्कालीन जीवन-स्वस्ति का प्रतीक है। यथार्थ में स्वस्तिक की चार भुजाएँ गतियो की द्योतक हैं। माना जाता है कि बायी ओर की भुजा और कोना मनुष्य, उर्ध्वमध्य देव, दायीं भुजा और कोण तिर्यंच तथा अधोमध्य नर्क गति का प्रतीक है। व्यवहार मे स्वस्तिक यानी साँथिया कल्याण, आत्मानुशासन, निर्विघ्नता और समृद्धि का सूचक चिह्न है।

तीर्थंकर-परम्परा सत्यान्वेषण की वैज्ञानिक परम्परा

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की प्रगतिशील क्रान्ति ने जैनधर्म को युग के अधिक अनुरूप ढाल दिया। वास्तव मे तीर्थंकर-परम्परा सत्यान्वेषण की एक वैज्ञानिक परम्परा है। जिस तरह सत्य की खोज़ मे एक वैज्ञानिक दूसरे वैज्ञानिक के हाथ मे अपनी शोध और साधना का संपूर्ण सूत्र नि:संकोच सौप देता है, वैसी ही स्थिति ऋषभ से महावीर तक घटित हुई है।

पार्श्वनाथ : भारतीय इतिहास की विमल विभूति

तीर्थंकर पार्श्वनाथ क्रान्तदर्शी पुरुष थे; वे इतिहास थे, लोकश्रुति थे। उनकी पुण्यगाथा मन को पवित्र और जीवन को ज्योतित करने वाली है। पार्श्वनाथ के जन्म-जन्मान्तरो के जो वर्णन मिलते है, वे जीवन्त है, प्रेरक है और मन को कई अभिनव ऊँचाइयाँ प्रदान करने वाले है। उनकी मूर्तियाँ सर्वत्र उपलब्ध है। इनमे-से अधिकांश काले पाषाण की है। साँप उनकी मूर्ति के साथ जुडा हुआ है। यह उनका चिह्न भी है। जो महान् व्यक्तित्व फणियो की छाया में इन्द्रियो को जीत रहा हो, अविचल, निश्चल मन को अनुशासन मे लिये हुए, उसकी बात ही क्या है ? वह है कसौटी, चित्त को कसने की, उसके खरे-खोटे की पडताल करने की। वर्ण भी उसका वैसा ही है। पार्श्वनाथ का समग्र जीवन काव्य और कला के स्तर पर जीवन के सम्यक्त्व का सर्वोत्तम चित्रण है।

पार्श्व के पार्श्व में बनाम कमठ के मठ में

कमठ और पार्श्वनाथ के जीवन समानान्तर चले है, पूर्व भवो मे किस तरह मन की गाँठ संस्कार वन कर यात्रा करती है, कमठ और पार्श्व की हमकदम जन्म-श्रृंखला इसकी मर्मस्पर्शी कहानी है। पार्श्वनाथ क्षमा-रूप है, कमठ वैर-रूप है, यह द्वन्द्व जीवन के सत्-असत् का प्रतीक है। कमठ का वैर हर बार पराजित हुआ है, पार्श्व की क्षमा सदैव जीती है। क्षमा के गर्भ मे करुणा है, करुणा के गर्भ मे अहिसा है और अहिसा मे परिणामों को निर्मल करने की अपूर्व शक्ति है। अहिसा चित्त को ज्ञान की ओर मोड़ती है, हिसा ज्ञान से संन्यास है और अहिसा ज्ञान का सुन्यास है। पार्श्व की साधुता और कमठ की खलता जानी-मानी चीज है। कविवर भूधरदास ने तो लिखा भी है -"उपजै एकहि गर्भ सौ, सज्जन दुर्जन येह, लोह कवच रच्छा करै, खाँडो खँडै देह।" अक्रोध और क्रोध, पार्श्व और कमठ दोनो एक ही मन की उपज है, एक कवच है, एक खाँड, एक रक्षा है, एक प्रहार। सच पूछा जाए तो आदमी मे पार्श्व और कमठ एक साथ जनमते हैं, कुछ पार्श्व के पार्श्व मे बने रहते है और कुछ कमठ के मठ मे चले जाते है।

व्यवस्थित वैचारिक क्रान्ति

पार्श्वनाथ तीर्थंकर तो है ही, भारतीय इतिहास की एक विमल विभूति भी है। वे इस तथ्य के स्पष्ट प्रतीक हैं कि जैनधर्म महावीर से प्रारभ नही हुआ था, उसका अस्तित्व वहुत प्राचीन है, वह कोई सुधारवादी या विप्लवी आन्दोलन नहीं है वरन् एक व्यवस्थित वैचारिक क्रान्ति है। जैनधर्म का यह विचार कितना क्रान्तिकारक है कि धर्म का मौलिक स्वरूप अपरिवर्तनीय है, व्याख्या मे ही युगानुरूप परिर्वतन होता है। तीर्थंकर-परम्परा व्याख्या और प्रस्तुति की परम्परा है। व्याख्या की गरिमा इसी मे है कि बुनियाद न बदले और युगचित्त का ध्यान रखे, इसीलिए जैनधर्म आग्रहवादी नही है, उदार है। वह धातु नही वदलता, मुद्रा वदलता है। पार्श्व ने वही किया, वर्द्धमान ने वही किया, आगे भी वही होगा।

पार्श्वनाथ की विस्तृत व्याप्ति

पार्श्वनाथ की व्याप्ति नेमिनाथ से भी अधिक गहरी और चौडी दिखायी देती है। जैन पुराणो के अनुसार तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण वीर निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व हुआ था अर्थात् ईस्वी पूर्व ७७७ मे। पार्श्वनाथ के साथ जहाँ तक और जैनधर्म जैसा वैज्ञानिक और तर्कसम्मत धर्म जुड़ा हुआ है, वही दूसरी ओर उनके साथ तन्त्रशास्त्र भी मूलवद्ध है। गोरखपथियो मे पारसनाथी सम्प्रदाय का अस्तित्व है। इसमे पार्श्वनाथ की विस्तृत व्याप्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। पार्श्वनाथ के तन्त्रवादी व्यक्तित्व होने के कारण उनका असम, नेपाल, तिव्वत और हिमालय के पार अन्य मुल्को मे जाने के तथ्य को समर्थन मिलता है।

पार्श्वनाथ : यात्रा, बर्बरता से मनुजता की ओर

आज से लगभग उन्तीस शताब्दी पहले भारत मे एक ऐसी महान् विभूति ने जन्म लिया, जिसने बर्बरता को चुनौती दी और मनुष्य के जीवन मे मैत्री, बन्धुत्व, करुणा और क्षमा को प्रतिष्ठित किया। ये थे जैनों के तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ, जिनका जीवन सत्यान्वेषण की एक प्रेरक कथा है, और जन्म-जन्मान्तरों मे विकसित निर्वैर और क्षमा की अपूर्व शक्तियो का एक विलक्षण इतिहास है। पार्श्वनाथ का समकालीन भारत अन्धविश्वासो, बर्बर रूढियों, हिसा और क्रूरताओ मे जी रहा था, वाराणसी-अंचल कापालिको और तान्त्रिको का केन्द्र था। कही भी जनता को धोखा देने वाले तथाकथित साधु पंचाग्नि तपते और शरीर को व्यर्थ क्लेश देते दिखायी पडते थे। आम आदमी के सामने चूँकि अन्य कोई मार्ग नही था अत· वह इसे ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानता था और चमत्कारों के आगे नतमस्तक था। पार्श्वनाथ ने इन सब विषमताओं को चुनौती दी और जीवन के उदात्त मूल्यों की स्थापना की। उन्होंने मानवीय दृष्टि से अपने समकालीन मनुज को समृद्ध किया। उनसे पूर्व के तीर्थंकरो मे-से नमिनाथ ने अहिसा और नेमिनाथ ने करुणा की शक्तियो को प्रकट किया था और उनके बाद हुए तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को।

नयी सामाजिकता का जन्म

पार्श्वनाथ का समकालीन भारत अनाचार और हिसा से संत्रस्त था। राजनीति, अर्थव्यवस्था, धार्मिक संस्थान, शिक्षा इत्यादि सभी क्षेत्रो मे अराजकता और निरंकुशता थी। कोई किसी की सुनता नही था, कई मत-मतान्तर और सम्प्रदाय उठ खडे हुए थे। विशुद्ध आध्यात्मिक साधना की ओर किसी का ध्यान नही था, सब काय-क्लेश को महत्त्व देते थे। तन के तापस तो थे, मन के तपस्वी नही थे। ऐसे विषम समय मे पार्श्वनाथ ने चातुर्याम की बात कही। उन्होंने कहा 'हिसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, परिग्रह से बचो।' अन्य शब्दो मे उन्होंने अहिंसा अर्थात् करुणा, क्षमा, मैत्री , बन्धुत्व, सत्य, अस्तेय अर्थात् अचौर्य तथा त्याग की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया। इनसे एक नयी सामाजिकता ने जन्म लिया और मनुष्य मनुष्य के अधिक निकट आने लगा। उसका एक-दूसरे के प्रति विश्वास बढा और विशुद्ध अध्यात्म की ओर ध्यान गया।

पार्श्वनाथ के चातुर्याम से ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की दो अलग व्रत-शाखाएँ उत्पन्न

जव हम पार्श्वनाथ की समकालीन परिस्थितियो का जायजा लेते है तो ऐसा लगता है कि उस समय तक परिग्रह का सूक्ष्म विश्लेषण नही हो पाया था, उसे मोटे रूप में माना जा रहा था। इतनी सामाजिकता और आर्थिक जटिलताएँ नहीं थी कि उसका अलग से कोई विज्ञान खडा हो। धन-दौलत, यहाँ तक कि स्त्रियाँ और दास-दासियाँ, परिग्रह की परिधि मे आ जाते थे। स्त्री-पुरुष-संवन्धो को अलग से परिभाषित करने की समस्या सम्भवत: उस समय

इतनीजटिल नहीं थी , किन्तु तान्त्रिको की अराजकता और आध्यात्मिक निरंकुशता के कारण महावीर के युग तक आते-आते अ-ब्रह्मचर्य यानी विगडते हुए स्त्री-पुरुष-सबन्धों की ओर लोगो का ध्यान जाने लगा था। लोग सामाजिक और नैतिक शील को परिभाषित करने लगे थे। यही कारण था कि महावीर के जमाने मे स्त्री-पुरुष-संवन्धो की स्वतन्त्र समीक्षा हुई और पार्श्वनाथ के चातुर्याम से ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की दो अलग व्रत-शाखाएँ फूट निकली। अब नारी को परिग्रह की अपेक्षा एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व माना जाने लगा। महावीर की सबमे बडी विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने युग की सामाजिकता को एक नया मोड दिया और दो बहुत बडी कुप्रथाओ का अन्त किया। एक, नारी दासी नहीं है। वह परिग्रह नही है जिसकी खरीद-फरोख्त हो, वह पुरुष की तरह ही स्वाधिकार-सम्पन्न है और उसे जीवन के सभी क्षेत्रो मे समान अधिकार है , दूसरे, अपरिग्रह मात्र स्थूल त्याग नही है, वह मनुष्य के भावनात्मक और बौद्धिक स्तर से भी संबन्धित है, वाह्य त्याग की अपेक्षा भीतर से हुआ त्याग महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ऐसी कृत्रिमता और कूटभाव को जीवन से निष्कासित किया जो मनुष्य को बर्बर बनाता था और एक-दूसरे से दूर करता था। पार्श्वनाथ ने भी वही सव कुछ किया, किन्तु पार्श्वनाथ और महावीर के बीच ढाई सौ वर्षों का फासला था और भारत की तस्वीर उन दिनो तेजी से बदल रही थी।

चातुर्याम में समत्व स्वयंप्रसूत

कुछ लोग कह सकते है कि नेमिनाथ ने राजमती को छोड़ा और पार्श्वनाथ तथा महावीर के जीवन मे नारी के लिए जैसे स्थान ही नही है। तीनों ने नारी से पलायन किया और एक संघर्ष जिससे उन्हे जूझना चाहिये था, उससे वे बचे, किन्तु जब हम पार्श्वनाथ और महावीर के उपदेशो का समाजशास्त्रीय अध्ययन करते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनो के हृदय मे नारी के प्रति कोई जुगुप्सा नही थी, स्वय के विकास की उत्कट आकाक्षा थी। वे पुरुष और नारी दोनो को स्वतन्त्र मानते थे। पार्श्वनाथ के युग मे स्त्री-पुरुष-संवन्ध उतने विकृत नही थे, जितने वाद को चल कर वे हुए। तान्त्रिकों ने नारी को मात्र भोग्या माना और वे उसे साधन मानते रहे, किन्तु पार्श्वनाथ और महावीर ने नारी को उतना ही महत्त्व दिया जितना पुरुष को। उन्होंने नारी की न तो निन्दा की और न ही प्रशंसा। उन्होंने मोक्ष-शास्त्र की रचना की, मुक्ति का एक विज्ञान विकसित किया, और उस विज्ञान के माध्यम से पुरुष और नारी दोनो को उन्नत होने के अवसर दिये। महावीर के समाज मे, या पार्श्वनाथ के समाज मे कही कोई भेदभाव या पूर्वग्रह नही है। पार्श्वनाथ का सम्प्रदाय तो इतना उन्मुक्त है कि उसने नर-नारी की समस्या को कोई महत्त्व ही नही दिया है। परिग्रह और अपरिग्रह का जो विश्लेषण पार्श्वनाथ के युग मे हुआ, वह महत्त्व का था। परिग्रह मात्र मूर्च्छा है, वह जितनी पुरुष मे हो सकती है, वैसी ही और उतनी ही तीव्रता से स्त्री मे हो सकती है। पार्श्वनाथ को अपने युग मे स्त्री को अलग से महत्त्व देने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि उनके युग तक त्याग और भोग दोनों सन्तुलित थे। सयम और अपरिग्रह अन्योन्याश्रित थे, अपरिग्रही के जीवन मे सयम होता ही था। यही कारण था कि उन्होंने ब्रह्मचर्य को अलग से परिभाषित नही किया। समत्व मे नर-नारी-संवन्धो की समरसता स्वयं स्पष्ट है. और चातुर्याम मे समत्व स्वयप्रसूत है।

पार्श्वनाथ का आध्यात्मिक सन्देश

पार्श्वनाथ के युग की एक देन यह भी है कि उस समय आध्यात्मिक साधना मे जो धुँधलापन आ गया था वह हटा और एक स्पष्टता सामने आयी। अब तक लोग यह मान रहे थे कि शरीर को क्लेश देना, काय-क्लेश ही साधना का एकमात्र स्वरूप है, पार्श्वनाथ ने अपने युग के आदमी को स्थूलता से खीच कर सूक्ष्मताओ में प्रवेश दिया। उन्होने आदिनाथ के समय से चले आ रहे जैनदर्शन को अपनी युगानुरूप भाषा मे लोगो के सामने रखा। उन्होने कहा- 'शरीर को कष्ट देने से जीवन का लक्ष्य प्राप्त नही होगा। वह सूक्ष्म है। उसके लिए स्वस्थ और सम्यक् दृष्टि चाहिये। सांसारिक प्रलोभनो से प्रेरित मन आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ भी उपलब्ध करने मे असमर्थ है। यह सारा संसार जीव और अजीव दो अस्तित्वो मे विभक्त है। जीव का अपना व्यक्तित्व है, अजीव का अपना। दोनों अपनी-अपनी मौलिकताओ मे संचरण करते है। ऐसा सम्भव नही है कि जीव के व्यक्तित्व का अन्तरण अजीव मे हो सके और अजीव का जीव मे। जीव जीव है और अजीव अजीव है। शरीर शरीर है और आत्मा आत्मा। न कभी आत्मा शरीर बन सकता है और न शरीर आत्मा। इन दोनो की स्वतंत्र सत्ताओ को समझना ही सम्यक्त्व है। पहले आस्था विकसित करो, फिर अनुसन्धान करो और तदनन्तर उसे अपने जीवन मे प्रकट करो।' उनके इस कथन और समीक्षण ने आध्यात्मिक साधना को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया और लोगो को जीवन के कृत्रिम आचार से तुलना करने का अवकाश दिया। शरीर-कष्ट नहीं, अन्तर्दृष्टि महत्त्वपूर्ण है, जिसके पास अन्तर्दृष्टि है, वह कमल की पाँखुरी पर पड़ी ओस की बूँद की तरह संसार मे निर्लिप्त रह सकता है। पार्श्वनाथ का आध्यात्मिक सन्देश स्त्री-पुरुष सबके लिए एक समान है।

पार्श्वनाथ द्वारा अपने युग-जीवन को एक नया मोड़

पार्श्वनाथ के इस जीवन-दर्शन को, जो जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तो का ही एक आकार है, उत्तम प्रतिपादन हम तब देखते है जब उनका कमठ से साक्षात्कार होता है। कमठ पचाग्नि तप रहा है, हिसा कर रहा है, अपने युग की जनता से झूठे आध्यात्मिक वायदे कर रहा है, किन्तु जीवन की निश्छलता और सरलता से वंचित है, पार्श्वनाथ कह रहे हैं, जिस काठ-खण्ड को तू जला रहा है उसमें नाग-नागिन झुलस रहे है। तू इतने असख्य प्राणियो का घात क्यो कर रहा है ? अपनी ओर देख, भीतर यात्रा कर, वहाँ सब कुछ है। बाह्य तपश्चर्या से कुछ नही होगा, आभ्यन्तर तप की आवश्यकता है।' इस तरह पार्श्वनाथ ने अपने युग-जीवन को एक नया मोड दिया। कृत्रिमताओ को जीवन से निष्कासित किया, क्षमा और मैत्री से मानव-जीवन को अलकृत किया।

पार्श्व-क्षमा; कमठ-वैर

भारतीय लोक-जीवन पर पार्श्वनाथ की गहरी छाप है। गोरखनाथियो मे दो जैन योगियो के सप्रदाय अव भी अन्तर्भुक्त है। नीमनाथी (नेमिनाथी) और पारसनाथी। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ के जीवन का एक नैतिक पक्ष भी है। कविवर भूधरदास ने 'पार्श्वपुराण' मे सूक्तियो के माध्यम से इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। ३२० वे छन्द मे उन्होंने लिखा है, 'छिमा भाव फल पास जिन, कमठ वैर फल जान, दोनो दिसाविलोक के, जो हित सो उर आन-पार्श्वनाथ जीवन की एक दिशा है और कमठ दूसरी, एक क्षमा है, एक वैर, इन दोनो को ध्यान मे रख। इनमे-से जो तुझे कल्याणकारी दिखायी दे उसे तू अपने मन मे स्थापित कर।'

'पार्श्वपुराण' मे पार्श्वनाथ के पूर्वभवो का वर्णन हुआ है। उन्हीं के समानान्तर कमठ के भव दिखाये गये है। एक भव मे कमठ और पार्श्व विश्वभूति पुरोहित के पुत्र थे, यही से कमठ का पार्श्व के प्रति वैर ठन गया। पार्श्व कनिष्ठ और कमठ ज्येष्ठ थे।

पार्श्वनाथ करुणा ओर कोमलता तथा कमठ क्रूरता, कठोरता और कर्कशता के प्रतीक है। 'पार्श्वपुराण' क्षमा ओर वैर के परस्पर प्रतिघातो का सुन्दर काव्य है। इसमे क्षमा की विजय और वैर की पराजय बड़े प्रभावशाली शब्दो मे चित्रित है।

स्फुट विचार

पार्श्व-स्तुति

कविवर भूधरदासजी (सन् १६९३-१७४९) ने 'पार्श्वपुराण'-जैसी वहुमूल्य काव्य-कृति जैन वाङ्मय को प्रदान की है। उनकी पार्श्व-स्तुति 'नरेन्द्र फणीन्द्रं सुरेन्द्रं अधीश' भक्तो मे खूब लोकप्रिय है। उसे कही भी जैन से - विशेषत दिगम्बर जैन से - सुना जा सकता है। यह स्तुति गहरी है, इसमे जैन सिद्धान्तो का प्रतिपादन भी किया गया है।

पार्श्वनाथकालीन चातुर्यामी व्रत-व्यवस्था

तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक जीवन को नैतिक आकार देने के लिए चातुर्यामी व्रत-व्यवस्था चल रही थी। इसमे अहिसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह द्वारा व्यक्ति और समाज के जीवन को मांजा और निखारा गया था। अंश से ले कर परिपूर्णता तक का एक क्रम जमा हुआ था। साधक अपनी-अपनी योग्यताओ के अनुरूप इन व्रतो को उपलब्ध करता था। पार्श्वनाथ के समकालीन समाज मे स्त्री को परिग्रह के अन्तर्गत ग्रहण किया गया था। सपत्ति से पृथक् उसकी कोई सत्ता नही थी। सपत्ति के विसर्जन और त्याग मे स्त्री-त्याग भी सम्मिलित था।

भगवान् पार्श्वनाथ और उपसर्ग

भगवान् पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुए थे तब उनकी रक्षा किसने की थी ? निश्चय ही उनकी मौलिकताओ के उस अश ने जो तपश्चर्या के कारण प्रकट हुआ था या कहें प्रकट होने लगा था। कमठ के मठ गिरने लगे थे। धरणेन्द्र-पद्मावती सहज ही उपसर्ग-निवारणार्थ उपस्थित हो गये थे।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ और सर्प/साँप

साँप का संबन्ध भगवान् पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ से है। सभव है, पार्श्वनाथ के युग में तन्त्रवाद प्रचलित हो (इतिहास से इस तरह तथ्य/सूचनाएँ मिलती है)। योग मे कुण्डलिनी को सर्पाकार माना गया है। पद्मावती और धरणेन्द्र की कथा भी समीक्ष्य है। सर्प और पार्श्वनाथ-कालीन विश्वासो की समाजशास्त्रीय समीक्षा से कई गूढ रहस्य उजागर हो सकते है। भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व जीवन से हाथी का संबन्ध भी रहा है। भगवान् महावीर का एक भव सिंह का है ही; अत. हम इस उत्पत्ति को भी एकदम निरस्त नही कर सकते। यह एक उर्वर संभावना है, जिसकी वस्तुनिष्ठ निर्भय छानबीन की जानी चाहिये। □

तीर्थंकर चिह्न-गुरुओ से अंतरंग बातचीत के अन्तर्गत इंटरव्यू लेने के लिए अपना रिकार्डर उठाया और चल पड़ा। सबसे पहले कोई ऋषभकालीन बैल मेरे सम्मुख था, उससे बातचीत की। फिर क्रमश. तीर्थंकरो की प्रतिमाओ के चिह्न-गुरुओ से वार्तालाप करते हुए आगे बढता गया कि पार्श्वनाथ की फणावली ने मन मोह लिया। सुषुम्ना से हो कर पूरी कुण्डलिनी शीर्ष पर प्रतिष्ठित थी। मै मन्त्रमुग्ध था कि भीतर बैठा अवधूत फुसफुसाया - सर्प मेरा परम गुरु है। मैंने सर्प से जो सीखा है वह सुनो। मुनि को चाहिये कि सर्प की भाँति अकेला विचरण करे, किसी एक स्थान मे न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदि मे पडा रहे, बाह्य आचारों से स्वयं को छुपाये रखे तथा स्वल्पभाषी हो। इस अनित्य शरीर के लिए घर बनाने के बखेडे मे पडना व्यर्थ और दु.खदायी है। मैंने साँप से पूछा-अवधूत के इन शब्दो पर आपकी क्या टिप्पणी है ? कुण्डली को सुदृढ़ करते हुए उसने कहा-मै अनिकेत हूँ। मेरे जीवन मे स्थानहीनता (प्लेसलेसनेस) का महत्त्व है। मैं कही नही हूँ और सर्वत्र हूँ। पार्श्वनाथ मेरे पार्श्व मे है, मै उनके पार्श्व मे हूँ। आप भी मेरी तरह इनकी शरण मे हो लीजिये और फिर देखिये कि कितने अमृत-घट उफन पड़ते है आपके जीवन में। मैं उसके प्रस्ताव पर दस्तखत नहीं कर सका, किन्तु प्रस्ताव की सच्चाई मुझ मे लगातार गूँजती रही। आज भी उसके वे शब्द मन मे प्रतिध्वनित है, टंकृत है और मुझे सिर-से-पैर तक जकडे हुए है।

अन्त में इतना ही, हम से तो यह साँप ही अच्छा जो कम-से-कम अपनी वामी में प्रवेश करते समय सीधा हो लेता है। क्या हम स्वयं में साँप-जैसा आर्जव उत्पन्न नहीं करना चाहेंगे ?

'पार्श्वपुराण' का सूक्ति-वैभव

यह एक ऐसा काव्य है जिसे हम 'सूक्तिसरित्सागर' कह सकते हैं

'पार्श्वपुराण' कविवर भूधरदास-कृत एक सुन्दर चरितकाव्य है, जिसमे कवि ने काव्यसुषमा के समानान्तर जैनधर्म के सिद्धान्तपक्ष की भी व्यापक व्याख्या और विवृति की है। भूधरदास आगरे के रहनेवाले थे और उन्होंने अपनी इस अद्वितीय कलाकृति को सवत् १७८९ मे लिख कर पूर्ण किया था। 'पार्श्वपुराण' भूधरदास की अमर कीर्तिपताका है। इस ग्रन्थ मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का समग्र जीवनवृत्त और उनके पूर्वभवो का वर्णन तो है ही, साथ ही कवि ने बहुविध प्रसगो का लाभ उठा कर जैन तत्त्वदर्शन की भी सुन्दर विवेचना की है।

उक्त काव्य मे एक पीठिका और नौ अधिकार है, जिनमे क्रमश पार्श्वनाथ-स्तुति वर्द्धमान महावीर के समवशरण मे राजा श्रेणिक की पृच्छा, अधिकार एक से चार तक कमठ और मरुभूति के पूर्वभवो के वर्णन, पाँचवे मे गर्भावतार, छठे मे जन्मोत्सव, सातवे मे वैराग्य और दीक्षा, आठवे मे केवलज्ञान और नवमे निर्वाण वर्णन है। संपूर्ण काव्य सूक्तियो के वैभव से परिपूर्ण है। यह एक ऐसा काव्य है जिसे हम 'सूक्तिसरित्सागर' कह सकते है। सूक्तियाँ और सुभाषित इसमे इतने है कि उन पर एक स्वतन्त्र पुस्तक का संपादन सभव है।

कमठ और मरुभूति (बाद मे चल कर पार्श्वनाथ) के चरित्र-चित्रण भी बडे मनोवैज्ञानिक, मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। काव्य के माध्यम से कवि ने आध्यात्मिक मूल्यो की पुन स्थापना का सशक्त प्रयास किया है, उसे भाषा पर अपूर्व अधिकार है और वस्तु का विन्यास भी उसने बड़े कलात्मक ढँग से किया है। काव्य-सौन्दर्य को लेकर कवि की यह पक्ति महत्त्वपूर्ण है 'अच्छरमिताई तथा अर्थ की गभीरताई, पदललिताई जहाँ रीति तीनो है' (जहाँ अक्षरमैत्री, अर्थ-गाम्भीर्य तथा पदलालित्य तीनो ही है)। यहाँ हम बानगी के रूप मे कुछ चुनी हुई सूक्तियाँ दे रहे है -

(१) "वक्रचाल विषधर नहि तजै। हस वक्रता भूल न भजै" - १/५७ (साँप अपनी टेढ़ी चाल कभी नही छोड़ता और हँस भूल कर भी कौटिल्य को स्वीकार नहीं करता अर्थात् दुर्जन अपनी दुष्टता नही छोडता और सज्जन अपनी सहृदयता तथा निश्चलता का कभी त्याग नही करता)।

(२) "जरा मौत की लघु बहिन, यामै संसै नाहिं-१/६१ (वृद्धावस्था मृत्यु की छोटी बहिन है, इसमे तनिक भी सन्देह नही है।)

(३) " ग्यान बिना सब सोखै काय'-१/९६ (ज्ञान के अभाव मे तपश्चर्या काय-क्लेश है, व्यर्थ का शरीर-श्रम है।)

(४) "दुर्जन दूखित सन्त की सरल सुभाव न जाय। दर्पण की छवि छार सौ अधिकहि उज्जल थाय" -१/१०६ (दुर्जन के सताये जाने पर भी सन्त का स्वभाव नहीं बदलता, ज्यो-ज्यो दर्पण पर क्षार लगाया जाता हे त्यो-त्यो उसकी दमक चौगुनी होती है। सन्त की प्रकृति भी ऐसी ही है, वह सकटो मे निखरता है।)

(५) "दर्जन और सलेखमा ये समान जग माहि, ज्यो-ज्यो मधुरो दीजिये त्यो-त्यो कोप कराहि - १/११-१ (दुर्जन और कफजनित रोग (श्लेक्ष्मा) दोनो समान चाल-ढाल के है ये माधुर्य से अधिक कुपित होते है अर्थात् दुर्जन विनम्र और मधुर व्यवहार पा कर और अधिक उत्तेजित होता है, और श्लेक्ष्मा भी अधिक मिठाई या मिष्ठान्न खाने से वढती है।)

(६) "मुनिसूरज कथनी-किरनावलि, लगत भरमबुध भागी"-३/७७ (मुनि सूर्य है, उसकी सिखावन किरणो का समूह है। जिनके मन तक पहुँचते ही भ्रान्तियाँ तिरोहित हो जाती है अर्थात् मन निर्मल और नि·शंक हो जाता है।

(७) "ज्यो-ज्यों भोग सजोग मनोहर मन वाछित जन पावे। तिसना नागिन त्यों-त्यो डंके, लहर जहर की आवै-३/९३ (ज्यो-ज्यो मनुष्य को इच्छानुसार भोग और तदनुरूप अवसर मिलते जाते है, त्यो-त्यो उसे तृष्णा-नागिन अधिक डसती जाती है और उसमे विष की लहरे उठती है अर्थात् तृष्णा अबुझ है, अनन्त है।)

(८)"जैसी परवस वेदना सहै जीव बहुभाय। स्ववस सहै जो अंस भी तो भवजल तिर जाय-३/२०६ (जिस तरह प्राणी पराधीन रह कर अनेक कष्ट उठाता है, यदि स्वाधीन रह कर उसका एक अंश भी सहन करे तो संसार-सागर तिर सकता है। स्ववश वेदना ही तप है।)

(९) "बालक काया कूँपल सोय। पत्र रूप जोबन मे होय॥ पाको पात जरा तन करै। काल बयारि चलत झर परै-" -४/६५ (बालक की काया कोपल है, युव, देह हरा पत्ता है, बुढापे का शरीर पका पात है; जिसे मौत की आंधी झडा देती है।)

(१०) "पानी पहले बंधे जो पाल। वही काम आवै जलकाल-४/७० (वर्षा के पूर्व जो बाँध या मेड बंध जाती है। वही यथावसर काम आती है। मौका बीत जाने पर सजगता का कोई महत्त्व नही है।)

(११) "लोचनहीनै पुरुष कौ, अन्ध न कहिये भूल। उर-लोचन जिनके मुंदे वे अंधे निर्मूल " -५/६४ (जिनकी आँखे नही है उन्हे भूल कर भी अन्धा मत कहो, किन्तु जिनकी हृदय की आँखे मुंद गयी है, उन्हे ही असली अन्धा समझो।)

'पार्श्वपुराण' ऐसी बहुमूल्य सूक्तियो का खजाना है। कवि का अनुभव व्यापक है और उसका जगत् का निरीक्षण बड़ा विलक्षण और गहरा है।

पारस-पुरुष

○ श्रीमद् राजचन्द्र

(जिनके पुण्य-स्पर्श ने गाधी के मनोजगत् की रचना की)

○ पण्डित प्रवर श्री टोडरमल

(जिन्होने लोकभाषा ढूँढारी को सस्कृत-प्राकृत का दर्जा दिया)

○ आचार्य प्रवर श्री शान्तिसागर

(जो आध्यात्मिक क्रान्ति के हस्ताक्षर थे)

- डॉ. नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

रत्नत्रय

○ सरलता धर्म का बीज-स्वरूप है। प्रज्ञापूर्वक सरलता का सेवन किया जाए, तो आज का दिन सर्वोत्तम है।

○ सम्यक् नेत्र पा कर तुम चाहे जिन धर्मशास्त्र का विचार करो तो भी आत्महित की प्राप्ति होगी। शास्त्र ने मार्ग बताया है, मर्म नही। मर्म तो सत्यपुरुष के अन्तरात्मा मे रहा है।

○ जो देह पूर्ण यौवनमय और सपूर्ण आरोग्यमय दीखने पर भी क्षणभँगुर है, उस देह मे प्रीति करके क्या करे ? इस देह द्वारा करने योग्य कार्य तो एक ही है कि किसी के प्रति राग या किसी के प्रति किचित् भी द्वेष न रहे - सर्वत्र समदशा रहे, यही कल्याण का मुख्य निश्चय है । - श्रीमद् राजचन्द्र

○ सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है कि किसी भी द्रव्य का दोष या गुण नही भासित हो, इसलिए किसी को बुरा-भला न जाने, 'स्व' को 'स्व' जाने, पर को पर जाने, 'पर' से कुछ भी प्रयोजन मेरा नही है- ऐसा मान कर साक्षीभूत रहे। -प टोडरमल

○ एक दिन हम जगल की गुफा मे ध्यान कर रहे थे। इतने मे एक सात-आठ हाथ खूब मोटा लट्ठ सरीखा सर्प आया। उसके शरीर पर बमल थे। वह आया और हमारे मुँह के सामने फन फैला कर खड़ा हो गया। उसके नेत्र ताम्र लाल रग के थे। वह हमारे पर दृष्टि डालता था और अपनी जीभ निकाल कर लपलप करता था। उसके मुख से अग्नि के कण निकलते थे। वह बडी देर तक हमारे सिर और नेत्रो के सामने खड़ा हो कर हमारी ओर देखता था, हम भी उसे देखते थे। हम यही सोचते थे कि यदि हमने जीव का कुछ बिगाड पूर्व मे किया होगा, तो यह हमे बाधा पहुँचायेगा, नहीं तो स्वय चुपचाप चला जायेगा और वह चला गया। -आचार्य शान्तिसागर

पारस-पुरुष **डॉ. नेमीचन्द जैन**; सपादन **प्रेमचन्द जैन**
© **हीरा भैया प्रकाशन**; प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ , पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२००१**, मुद्रण **नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर-४५२००९** , टाइप सैटिंग **प्रतीति टाइपोग्राफिक्स, इन्दौर-४५२००१** , प्रथम सस्करण · **नवम्बर, १९९७**; मूल्य · **चार रुपये।**

श्रीमद् राजचन्द्र

जिनके पुण्य-स्पर्श ने गांधी के मनोजगत् की रचना की

भारत की ऋषि-परपरा विख्यात है। श्रीमद् राजचन्द्र-जैसे महान् साधक इसी कोटि के युग-पुरुष थे। उनके जीवन मे गहराई थी और वाणी मे अपूर्व मन्त्रशक्ति। भक्ति और दर्शन का अंकुर उनके मन की धरती पर जन्म से ही जम गया था। साधु-सन्तो, फकीर-महात्माओ के लिए उनमे खूब आस्था थी। अनादर या निन्दा तो वे जानते ही नहीं थे। आत्मा मे लीन रह कर जगत् के कार्य सफलतापूर्वक करते जाने की विलक्षण शक्ति के वे धनी थे।

इस पारस-पुरुष का जन्म संवत् १९२४ की कार्तिकी पूर्णिमा को ववाणिया मे हुआ। इसी दिन वैयाकरण श्री हेमचन्द्राचार्य-जैसी प्रतिभा ने भी जन्म लिया था। श्रीमद् का प्यार का नाम 'लक्ष्मीनन्दन' था जो सवत् १९२८ मे 'राजचन्द्र' मे रूपान्तरित हुआ। उनकी माता का नाम देवबाई और पिता का नाम रावजीभाई था।

भक्ति, दर्शन और आत्मान्वेषण के सरकार श्रीमद् को विरासत में मिले। उनके दादा पचाणभाई महेता कृष्णभक्त थे और माता देवबाई

जैन संस्कारो में पली-पुसी थी। इस तरह उनका जन्म ही धर्म-समन्वय के निर्विकारी वातावरण मे हुआ था। कृष्णभक्ति तथा जैन-दर्शन की गहरी पैठ उनके विचारों में स्पष्ट दिखायी देती है।

वे तत्त्वज्ञानी संत-पुरुष थे। उन्हें अल्प वय मे ही जातिस्मरण हुआ था। उनमे अलौकिक अवधान शक्ति थी। कहा जाता है कि इस मनीषी ने आठ वर्ष-जैसी कच्ची उम्र में कविता की ५००० पक्तियॉ लिख डाली थी। वे शक्ति और प्रतिभा के अद्वितीय पुज थे।

ऐसे तपोधन की संपूर्ण जीवन-गाथा तो इन पंक्तियो में दुष्कर ही है, उसके लिए चाहिये एक बृहदाकार ग्रन्थ, फिर भी यहाँ हम उनके जीवन के कुछ प्रेरक प्रसग और वचन देने का प्रयत्न करेंगे।

जीवन के सत्रहवें वर्ष में श्रीमद् ने जो सकल्प किये थे, उनका संक्षेप है ·

१ गृहस्थाश्रम को विवेकी बनाऊं। लोक-अहित कार्य नही करूं। धर्मपूर्वक अर्थ उपार्जन करू। २ कुटुम्ब को स्वर्ग बनाऊं। सृष्टि को स्वर्ग बनाऊं, तो कुटुम्ब को मोक्ष; ३ किसी कृत्य में प्रमाद न करूं, ४ मनोवीरत्व की वृद्धि करू, अयोग्य विद्या साधू नही, ५ किसी दर्शन की निन्दा न करूं। एकपक्षीय मतभेद नही बॉधूँ। आज्ञानपक्ष की आराधना करूं नहीं।

इसीलिए गांधीजी ने लिखा था "मैने प्रत्येक धर्म के आचार्य से मिलने का प्रयत्न किया है, परन्तु जो प्रभाव मेरे ऊपर राजचन्द्रभाई ने डाला है वह कोई नहीं डाल सका। उनके बहुत से वचन मुझमे सीधे अन्दर उतर जाते थे। उनकी बुद्धि के लिए मुझे मान था, उनकी प्रामाणिकता के लिए भी वैसा ही था।"

श्रीमद् में संसार में रह कर भीं उससे अलग बने रहने की अनोखी शक्ति थी। एक स्मरणीय प्रसंग है। लल्लूजी महाराज के शिष्य श्री देवकरणजी महाराज-जैसे कुशल व्याख्यानदाता एक बार श्रीमद् से मिलने आये। बातचीत में श्रीमद् ने उनसे पूछा "आप कौन हैं ?"

श्री देवकरण बोले "जितने समय तक वृत्ति स्थिर रहती है, तब तक साधु।" श्रीमद् ने कहा "इस प्रकार तो संसारी को भी साधु कह सकते है या नहीं ?" यह सुन कर देवकरणजी चुप रहे।

श्रीमद् पुन बोले "नारियल का गोला जैसे जुदा रहता है, वैसे ही हम रहते है।"

अन्याय के प्रति श्रीमद् राजचन्द्र मे बड़ा विद्रोह था। उन्हे झूठ-पाखण्ड ओर मिथ्याचरण बिलकुल पसन्द न थे। महात्मा गांधी ने इस सदर्भ मे लिखा हे "वे बहुधा कहा करते थे कि कोई चारों ओर से बरछियॉ चुभाये, उसे सहन कर सकूँ, परन्तु जगत् में जो झूठ, पाखण्ड ओर अत्याचार चल रहा है, धर्म के नाम से जो अधर्म प्रवर्त रहा है, उसकी बरछी सहन नही हो सकती।" अत्याचारों से खौलते हुए उन्हे मेने कई बार देखा है। उन्हे समस्त जगत् अपने कुटुम्ब समान था।"

साफगोई उनके जीवन का अभिन्न अग थी। जैन समाज को लेकर उन्होने लिखा था "जैन प्रजा (सारे हिन्दुस्तान मे मिल कर) २० लाख है। उनमे-से नव तत्त्व को पठन-रूप से दो हजार मनुष्य भी कठिनता से जानते होगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो अगुलियो पर गिन सके इतने भी न होगे। तत्त्वज्ञान की जब ऐसी हीनावस्था हो गयी है तब ही मतमतान्तर बढ गये है।"

अन्त करण की शुद्धि पर श्रीमद् का विशेष ध्यान था। एक रोचक प्रसग है, श्रीमद् के यशस्वी चरित्रकार श्री मुकुलभाई कलार्थी लिखते है "रसोई को देख कर, चखे बिना ओर हाथ से स्पर्श किये बिना, [illegible]-पानगी मे नमक कम या अधिक अथवा नहीं है, इस बात को श्रीमद्जी कह सकते थे। अमुक मनुष्य किस हाथ से पगड़ी बॉधता है, यह बात भी श्रीमद् उसके सिर की आकृति देख कर परख जाते थे। श्रीमद् स्वयं अन्दर घर मे बैठे हो और पगड़ी बॉधनेवाला मनुष्य यदि बाहर जा कर पगड़ी बांधता हो तो वह मनुष्य जिस तरह की [illegible] है, इस बात को श्रीमद् घर मे बैठे-बैठे कह देते थे।"

इसका कारण पूछने पर श्रीमद् कहते थे कि ''अन्त करण की शुद्धि के सिवाय कुछ नहीं हो सकता। सिखाने से नहीं आता।''

उनके दु ख की किस्म ओर बनक ही कुछ ओर थी। इस सबध मे उनके ये मर्म छूने वाले अश मननीय हैं ''तुम मेरा स्त्री-सबधी कुछ दु ख न समझना,' लक्ष्मी-संबधी दु ख नहीं समझना, पुत्र-सबधी दु ख नही समझना,, कीर्ति-संबंधी नहीं मानना, भय-संबंधी नहीं मानना, काया-संबंधी नहीं मानना , अथवा सर्ववस्तु-सबंधी नहीं मानना, मेरा दु·ख अन्य प्रकार का है। वह दर्द वात का नहीं है, कफ या पित्त का नही है, शरीर का नही है, वचन का नही है। और मन का भी नही है। मानो तो सभी का है और न मानो तो एक का भी नहीं है। परन्तु मेरी विज्ञापना (दु ख) न मानने की है, क्योकि इसमें कुछ और ही मर्म रहा है।''

श्रीमद् की दृष्टि विशाल थी। गाधीजी ने अपने संस्मरणों में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है ''धार्मिक पुरुष का धर्म उसके प्रत्येक कार्य में दिखायी देना चाहिये, ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रभाई ने अपने जीवन में प्रकट किया था। धर्म कुछ एकादशी के दिन, पर्युषण में ही, ईद के दिन या रविवार के दिन पालने का अथवा तो मंदिरों मे, देवलों में और मस्जिदों में पालने का है, परन्तु दुकान व दरबारो में नहीं, ऐसा कुछ नियम नहीं है। इतना ही नही, इस प्रकार से कहना धर्म की अज्ञानता सिद्ध करता है। यों राजचन्द्रभाई कहते, मानते तथा अपने आचार में आचरण करते थे।''

ऐसे पारस-पुरुष का, जिसका पुण्य-स्पर्श पाकर जीवन का लौह-लखंड़ सहज ही स्वर्ण बन जाता है, गुजरात मे जन्मे इस महापुरुष का देहावसान चैत्र वदी पंचमी सवत् १९५७ को हुआ। वे विचार थे, अमर थे; कल थे, आज है, कल होंगे।

पण्डित-प्रवर श्री टोडरमल

जिन्होंने लोकभाषा ढूँढारी को संस्कृत-प्राकृत का दर्जा दिया

कविवर भूधरदास ने कहीं 'बुधि थोरी, थिरता अलप अर्थात् बुद्धि थोड़ी और स्थिरता अल्प' का उल्लेख किया है, पडित-प्रवर टोडरमलजी इस कथन के अपवाद थे। वे चारो खूट चौकस प्रज्ञा और अध्ययनवृत्ति के धनी गृहस्थ थे। ससार मे, और संसार मे नहीं, यानी दृष्टि मे अनेकान्त और आचरण मे वैराग्य की वे सजीव प्रतिमा थे। ज्ञान के अतल समुद्र होते हुए भी उन्हे लेशमात्र घमण्ड न था। उनके लिए विद्या साधन और आत्मानुसन्धान सिद्धि थी। 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' मे उनकी यह विशेषता सर्वत्र प्रकट हुई है। वे स्वभाव के विनम्र, सरल, मृदु और 'जथालाभ सतोष' के जीवन्त उदाहरण थे।

साम्प्रदायिक मतभेदो के थूहर-वन मे उनकी निर्मल प्रज्ञा ने देशभाषा ढूंढारी के माध्यम से जैनधर्म-जैसे गहन धर्म के रहस्य को समझाया। आचार्यश्री कुन्दकुन्द की कुन्दनपुष्प-सी विमल प्रतिभा का उत्तराधिकार लेकर वे मरुस्थल मे नन्दनवन की भाँति आये और अल्पकाल मे ही हम से विदा हो गये। आज से लगभग २५० वर्ष पूर्व जयपुर मे साहूकार जोगीदास के विख्यात घराने मे उनका जन्म हुआ।

इसका कारण पूछने पर श्रीमद् कहते थे कि ''अन्त करण की शुद्धि के सिवाय कुछ नहीं हो सकता। सिखाने से नही आता।''

उनके दु ख की किस्म और बनक ही कुछ ओर थी। इस सबध मे उनके ये मर्म छूने वाले अंश मननीय हैं ''तुम मेरा स्त्री-सबधी कुछ दु ख न समझना,' लक्ष्मी-संबंधी दु ख नही समझना, पुत्र-सबधी दु ख नहीं समझना,, कीर्ति-संबंधी नहीं मानना, भय-सबधी नहीं मानना, काया-संबंधी नही मानना , अथवा सर्ववस्तु-सबधी नहीं मानना, मेरा दु ख अन्य प्रकार का है। वह दर्द वात का नहीं है, कफ या पित्त का नही है, शरीर का नहीं है, वचन का नही है। और मन का भी नहीं है। मानो तो सभी का है और न मानो तो एक का भी नही है। परन्तु मेरी विज्ञापना (दु ख) न मानने की है, क्योकि इसमे कुछ और ही मर्म रहा है।''

श्रीमद् की दृष्टि विशाल थी। गांधीजी ने अपने संस्मरणो में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है ''धार्मिक पुरुष का धर्म उसके प्रत्येक कार्य में दिखायी देना चाहिये, ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रभाई ने अपने जीवन में प्रकट किया था। धर्म कुछ एकादशी के दिन, पर्युषण में ही, ईद के दिन या रविवार के दिन पालने का अथवा तो मंदिरों में, देवलो में और मस्जिदो मे पालने का है, परन्तु दुकान व दरबारों में नहीं, ऐसा कुछ नियम नहीं है। इतना ही नही, इस प्रकार से कहना धर्म की अज्ञानता सिद्ध करता है। यों राजचन्द्रभाई कहते, मानते तथा अपने आचार में आचरण करते थे।''

ऐसे पारस-पुरुष का, जिसका पुण्य-स्पर्श पाकर जीवन का लौह-लखड़ सहज ही स्वर्ण बन जाता है, गुजरात मे जन्मे इस महापुरुष का देहावसान चैत्र वदी पचमी संवत् १९५७ को हुआ। वे विचार थे, अमर थे; कल थे, आज हैं, कल होगे।

पण्डित-प्रवर श्री टोडरमल

जिन्होंने लोकभाषा ढूँढारी को संस्कृत-प्राकृत का दर्जा दिया

कविवर भूधरदास ने कहीं 'बुधि थोरी, थिरता अलप अर्थात् बुद्धि थोड़ी और स्थिरता अल्प' का उल्लेख किया है, पडित-प्रवर टोडरमलजी इस कथन के अपवाद थे। वे चारों खूट चौकस प्रज्ञा और अध्ययनवृत्ति के धनी गृहस्थ थे। संसार में, और संसार मे नहीं, यानी दृष्टि मे अनेकान्त और आचरण मे वैराग्य की वे सजीव प्रतिमा थे। ज्ञान के अतल समुद्र होते हुए भी उन्हे लेशमात्र घमण्ड न था। उनके लिए विद्या साधन और आत्मानुसन्धान सिद्धि थी। 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' में उनकी यह विशेषता सर्वत्र प्रकट हुई है। वे स्वभाव के विनम्र, सरल, मृदु और 'जथालाभ सतोष' के जीवन्त उदाहरण थे।

साम्प्रदायिक मतभेदो के थूहर-वन मे उनकी निर्मल प्रज्ञा ने देशभाषा ढूंढारी के माध्यम से जैनधर्म-जैसे गहन धर्म के रहस्य को समझाया। आचार्यश्री कुन्दकुन्द की कुन्दनपुष्प-सी विमल प्रतिभा का उत्तराधिकार लेकर वे मरुस्थल मे नन्दनवन की भाँति आये और अल्पकाल मे ही हम से बिदा हो गये। आज से लगभग २५० वर्ष पूर्व जैपुर मे साहूकार जोगीदास के विख्यात घराने मे उनका जन्म हुआ।

देखिये न, दुनियावी पेचीदगियो से कोसों दूर जेपुरी पेच की पगड़ी, तनातनी से परे तनियोवाला अंगरखा, लालसा से विरक्त भव्य विशाल ललाट, आबदार तेजोमय चेहरा, ऑखो मे गोतेखोर-सी गहरी तलाश और तीखी जिज्ञासा, सीधा-सादा साधुई जीवन-यही सबकुछ पहिचान है राजस्थानी धरती के गौरव टोडरमल की।

जहाँ तक उनके लौकिक जीवन का प्रश्न है, उन्होंने न कोई डायरी लिखी है, न आत्मकथा। जो भी कुछ है उनकी कृतियाँ और टीकाएँ। उन्होंने जो भी लिखा है वह उनके आध्यात्मिक जीवन को बताया है, सांसारिकता की कोई विशिष्ट जानकारी नहीं देता। 'लब्धिसार' की टीका-प्रशस्ति में उनके जीवन की साधारण रूपरेखा मिलती है तदनुसार पिता जोगीदास, माता रम्भादेवी, गुरु बंशीधर, जाति खंडेलवाल; विवाह हुआ, हरिचन्द और गुमानीराम दो पुत्र हुए, गुमानी ने सन् १७८० में गुमानपथ चलाया जो आज भी जीवित है, अधिक जानकारी उपलब्ध नही है।

धर्म और चिन्तन के क्षेत्र में इतिहास उनका नाम एक क्रान्तिकारी व्याख्याकार के रूप में याद रखेगा। "का भाषा का संसकिरत, भाव चाहिये सॉच" वाली कहावत टोडरमलजी मे पूरी तरह चरितार्थ हुई। उन्होंने देशभाषा ढूँढारी को अपनाकर युगान्तरकारी कार्य किया। जिसे भाषाविज्ञानी ग्रियर्सन ने अपनी भाषा-सर्वे की नवी जिल्द, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३३ पर 'जैपुरी' कहाँ है। वह जैपुर तथा उसके पड़ौसी क्षेत्र मे बोले जाने वाली भाषा ढूँढारी है। जैपुरी नाम अंग्रेजों की देन है, अन्यथा ढूँढाहड़ प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे ढूँढारी कहना ही उचित है। यह पूर्वी राजस्थानी है। आश्चर्य है ग्रियर्सन की खोजी ऑखों को दादूपंथी साहित्य तो जैपुरी मे दिखायी दिया, किन्तु उसने अपनी जिल्दो में कहीं भी ढूँढारी-गद्यकार टोडरमलजी का नाम नहीं लिया है। शायद उस समय यह सब अप्रकट था। पडितजी की भाषा-दृष्टि बहुत साफ थी, वे उत्तम ज्ञान को लोकसुलभ बनाना चाहते थे। 'मोक्षमार्ग-प्रकाशन' मे उन्होंने भाषा की यथार्थता को स्पष्टत प्रतिपादित किया है, पहले अधिकार में उन्होंने लिख है "जैसे प्राकृत सस्कृत शास्त्रनिविषै" प्राकृत

संस्कृत पद लिखिए हैं तेसै इहा अप्रभ्रंश लिए वा यथार्थपनाको लिए देश-भाषारूप पद लिखिए है परन्तु अर्थ विषै व्यभिचार किछु नाही है।'' वे पहले महत्त्वपूर्ण व्याख्याकार है जिन्होने एक देशभाषा मे सामान्य पाठक का ध्यान रख कर भाषा की यथार्थता को अपनाया है। 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' के बारे में स्वतन्त्र कृतियो की अपेक्षा टीका-ग्रथो की अधिकता पायी जाती है, परन्तु उनके जीवनीकार श्री परमानन्द शास्त्रीने लिखा है ''हिन्दी गद्य-साहित्य मे स्वतन्त्र रूप मे लिखी गयी कृतियों में सबसे महत्त्वपूर्ण कृति 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' ही है।''

टोडरमलजी को डर किसी का न था, वे शुद्ध ज्ञानार्थी थे; किन्तु उनके विरोधी बेहिसाब थे। इसी विरोध ने उनके प्राण लिये और माधवसिह प्रथम के समय में उन्हें हाथी के पॉवोतले रुंधवा डाला गया। सुकरात - जैसे ऋषियों की पक्ति में वे भी अविचल भाव से खड़े है। विरोधी उनके थे, वे किसी के विरोधी नहीं थे। इसीलिए सही बात कहने मे वे कभी नहीं घबराये। 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' उनके तुलनात्मक चिन्तन का विश्वकोश है।

'प्रकाशक' ही पडितजी का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें नौ अधिकार हैं। अकाल मृत्यु के कारण नवां अधूरा रह गया है। प्रथम अधिकार में मगलाचरण, ग्रन्थ की प्रामाणिकता, श्रोता का स्वरूप और उसकी योग्यताएँ, रचना का उद्देश्य और सार्थकता; दूसरे अधिकार में कर्म-मीमासा, तीसरे में ससार-विवेचन और मिथ्यात्व -समीक्षा; चौथे मे प्रयोजन और अप्रयोजनभूत पदार्थो का वर्णन तथा मिथ्यात्व अज्ञान और असयम के स्वरूप की विवेचना; पांचवें में गृहीत मिथ्यात्व की गहन आलोचना, छठे में मिथ्यात्व के कारणों की युक्ति-युक्त विवेचना, सातवे में निश्चय और व्यवहार एकान्त की सुसगत चर्चा; आठवे में अनुयोग-विचार, तथा नवें में मोक्षमार्ग-का स्वरूप, सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मे-से केवल सम्यग्दर्शन का विवेचन है। यह अधिकार अधूरा है।

इसके अलावा उन्होंने कई टीकाएँ की। सन् १७६१-१७६४ के बीच तीन वर्षो मे उन्होंने ६५००० श्लोक-टीकाएँ कीं। इनमे-से गोम्मटसार ग्रन्थ की अड़तीस हजार, लब्धिसार-क्षपणासार

की तेरह हजार तथा त्रिलोकसार ग्रन्थ की चौदह हजार टीकाएँ है। इतना ही नही, उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने इनका पुनरीक्षण भी किया और बाद मे यथास्थान उन्हे शुद्ध भी।

मल्लजी का ज्ञान तो अपार था, वे कई भाषाओ के जानकार भी थे। सस्कृत, प्राकृत इत्यादि तो स्वाभाविक थीं ही, उन्हे दक्षिण की भाषाओं का ज्ञान भी था। श्री परमानन्द शास्त्री ने ब्रह्मचारी रायमलजी के पत्र से यह अंश उद्धृत किया है; 'अर धवल महाधवलादि ग्रन्थो के खोलवा का उपाय किया वा उहां दक्षिण देससूं पॉच-सात और ग्रन्थ ताडपत्रांविषै कर्णाटी लिपि मे लिखा इहॉ पधारे है। याकूँ मल्लजी बॉचें है, वाका यथार्थ व्याख्यान करे है वा कर्णाटी लिपि में लिखि ले है।' यह है ज्ञान की शुद्ध पिपासा जो राजनीति के भाषा-आन्दोलन से बहुत दूर पूरी तरह निष्कलक और पावन है। पिछली कई शताब्दियो में उत्तर-दक्षिण ज्ञान की पिपासा से जुड़े हुए थे, सही एकता यही थी। राजनीति नही, ज्ञान ही मित्रता का सच्चा अनुबन्ध हो सकता है।

बहुभाषाविद् होने के साथ ही मल्लजी न्याय, व्याकरण, गणित, छन्द, अलंकार इत्यादि के भी ज्ञाता थे।

यद्यपि पारस-पुरुष टोडरमलजी का देहावसान १७८० ई मे हुआ, तथापि उनके कई वाक्य सदियों तक प्रतिध्वनित रहेगे। वे लिखते है, ''उपदेश को ऑखे मूँद कर मत मानो ''उपदेशविषै'' कई उपादेय केई ज्ञेय तत्व निरूपिए हैं। तहॉ उपादेय तत्वनि की तो परीक्षा करि लेना। जाते इन विषैं अन्यथापनो भए अपना बुरा हो है। उपादेय को हेय मानि लें तो बुरा होय, हेयको उपादेय मानि ले तो बुरा होय।'' अर्थात् उपदेशों में कई उपादेय कई हेय और कई जानने योग्य तत्त्वों को प्रतिपादित करने वाले होते है। ऐसी स्थिति में उपादेय और हेय की परीक्षा कर लेनी चाहिये, क्योकि इस विषय मे अन्यथा या उदासीनता, होने पर अपना बुरा होता है, अहित होता है। ग्राह्य को त्याज्य और त्याज्य को ग्राह्य मान लेने से अपकार होता है।''

आचार्य प्रवर श्री शान्तिसागर

जो आध्यात्मिक क्रान्ति के हस्ताक्षर थे
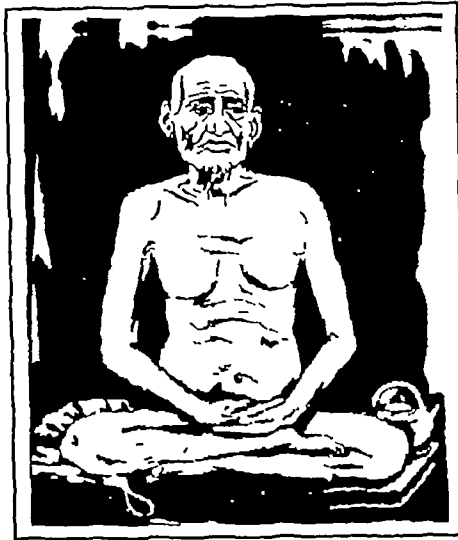
क्रान्ति का सीधा अर्थ है गतानुगतिकता को लॉघ जाना, जो चला आ रहा हो, उससे भिन्न अभिनव कुछ उपस्थित कर देना। आचार्यश्री शान्तिसागर से पूर्व की शताब्दियो मे जैनत्व के, मानवता के पॉव डगमगा गये थे। आचार्यश्री ने, श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ने, तथा श्रीमद् राजचन्द्र ने जन-जीवन को नये आध्यात्मिक आयाम दिये और आत्मा की शक्ति में लोगो के उखड़ते हुए उत्साह और विश्वास को लौटाया। उन्होने सदाचार का पुन प्रवर्त्तन किया, लोकमानस को साहस और पुरुषार्थ दिया और निबिड़ अन्धकार को चीर कर प्रकाश की एक नयी सरणि स्थापित की। आचार्यश्री शान्तिसागर आत्मा से दिगम्बर, चित्त से शुभ्राम्बर और उपयोग से यथास्थानक थे। वे सच्च भेदविज्ञानी थे। उन्होंने आत्मशक्ति को उद्घाटित करने के लिए लगभग १५०० उपवास किये, और ३६ दिन लम्बी सल्लेखना को 'जैसे-कुछ-हुआ-नहीं' -जैसी सरलता से स्वीकार किया।

सब जानते है जैन साधु की चर्या खड्ग की धार है। यह आसान नहीं है, उसकी पृष्ठभूमि पर स्वाध्याय है, सांगोपांग चिन्तन

आत्मोत्थान की प्रखर साधना है। वहाँ न राग है, न द्वेष; न काम है, न कामना; न तृष्णा है, न त्वरा, न काँचन है, न कीर्ति; है केवल आत्मसाधना; सम्यक्त्व की अविराम खोज, और उसका निराकुल अंगीकार। श्रद्धा में सम्यक्त्व, चिन्तन में सम्यक्त्व, और चारित्र मे सम्यक्त्व जब तक अपने सपूर्ण व्यक्तित्व के साथ जैन मुनि मे प्रकट नहीं होता, उसकी साधना कच्ची मानी जाती है। जैन साधु के लिए शरीर गौण और आत्मा प्रमुख होती है। वह आत्मा के अन्वेषण का तीर्थयात्री बन कर अनथक अपने पाँव उठाता जाता है। उसकी यात्रा न कभी रुकती है, और न वह कभी सुविधाओं का मार्ग ही स्वीकार करता है।

एक बार आचार्यश्री शान्तिसागर से किसी ने प्रश्न किया था- ''महाराज, मुनि-जीवन पलायन मार्ग का है। जो लोग ससार की वास्तविकताओं से नहीं जूझ पाते, वे इस ओर चले आते है। वे सघर्ष से घबरा कर साधु-जीवन को स्वीकार करते है।'' इस पर आचार्यश्री ने कहा था- ''मैं अन्य साधुओ के सबन्ध में तो नहीं कह सकता, किन्तु जहाँ तक दिगम्बर जैन साधु का सवाल है, वह ऐसा नहीं करता। वह जन्म-मरण के दुश्चक्र से मुक्त होने के साधना के इस मार्ग को अपनाता हे।'' उन्होंने अधिक गंभीरता से कहा- ''दिगम्बर साधु बनना कोई खिलवाड़ नहीं है। दिगम्बर जेन साधु कर्मक्षय के लिए अपने शरीर को कठोर यातनाओं मे तपाता है। एक दिन मे एक बार भोजन-पान करने वाले दिगम्बर जेन साधु-जेसा एक भी भारत मे नहीं मिल सकता। उपवास के समय मरने का ही खतरा क्यो न हो, दिगम्बर जैन साधु एक बूँद पानी भी मुँह मे नहीं डालेगा। भोजन के समय भी उसे छियालीस अन्तरायो से बच कर आहार करना पड़ता है। इनमें-से यदि एक भी अन्तराय हो जाए तो उस दिन वह निराहार रहता है। चिलचिलाती धूप मे, और कड़ाके की गर्मी में वह दिन-भर में एक ही बार आहार के समय पानी की एक बूंद तक मुंह मे नही डाल सकता। इसी प्रकार सर्दी से ठिठुरने पर भी वह अपने शरीर पर सूती, ऊनी, रेशमी आदि किसी भी तरह के कपड़ा का टुकड़ा तक नहीं डाल सकता। ये सारी यातनाएं वह स्वेच्छा से सहता है, इसे तुम कष्टों से [illegible]।''

जो लोग जैन साधु की चर्या को नहीं जानते, उन्हें उसकी दुर्द्धरता का बोध कैसे हो सकता है ? जैन-साधुत्व कोई फूलों की डगर नहीं है, वह सर तानते रक्तपिपासु नोकदार कॉटो की दुर्गम डगर है। नग्नता स्वय मे एक सुदीर्घ तप है। देह को सर्वऋतुओ का कष्ट, और इन्द्रिय-जय साधु-जीवन का चरम लक्ष्य होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य उसके जीवन मे अणुरूप में नहीं, विराट् रूप में प्रकट होते हैं। उसे कहीं भी किसी तरह की शिथिलता की छूट, या रियायत नहीं है। वह आठो प्रहर कॉटों पर पगतली रख कर सावधान-अप्रमत्त चलता है। वह अग्निपथ का राही सुविधाओं की राह कभी नहीं तलाशता। प्रश्न उठ सकता है कि ''क्या ऐसा करते हुए उसे कोई कष्ट नहीं होता ?'' यही तो असली सवाल है। जैन मुनि कष्टों में-से आत्मोपलब्धि करता है। वह मुस्कराता जाता है, और जीवको अजीव से भिन्न करता चला जाता है। वह संकट, और यातना को यातना मानता ही नहीं; वह तो इन सबको आत्मानुसन्धान के शुभ समाचार मानता है और अपने पॉव तेज़ी से आगे उठाता है। इससे उसकी साधना और अधिक तेजोमय हो उठती है क्योंकि वह जानता है कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता ही आध्यात्मिक जीवन की सार्थकता है, सफलता की असली कुंजी है।

आचार्यश्री शान्तिसागर का जीवन तो विषधरों की बामी है, तथापि वे साधना के पथ पर अविराम-अभीत चलते चले गये है। कॉटे उन्हे कभी नहीं चुभे; क्योंकि उन्होंने हर बार हर कॉटे से पूछा-''कहो, कुशल से तो हो, मेरी कठोर पगतली से तुम्हें तो चोट नहीं पहुँची।'' कष्टो में, इसीलिए, वे अकम्प बने रहे। विषधर काया से लिपट गये, तो चुपचाप अपनी डगर चले गये। उनका कहना था-''तुम किसी को मत सताओ, कोई तुम्हें नहीं सतायेगा''। वे आत्मा के सच्चे, एकनिष्ठ आराधक थे; उनमें अलौकिक ऊर्जा थी, असाधारण ओज था।

एक प्रसंग है।

सातगौड़ा (आचार्यश्री शान्तिसागर का पूर्वनाम) और उनके चचेरे भाई मे बातचीत चल रही थी। दोनों नारियल के बड़े बगीचे में खड़े थे। चचेरे भाई के हाथ में बन्दूक थी। वह बोला- ''देखो अन्

चलाना सीखने के कितने लाभ हैं ? यदि मुझे प्यास लगे तो मै गोली चला कर नारियल गिरा सकता हूँ, और अपनी प्यास बुझा सकता हूँ, किन्तु तुम्हे इसके लिए पेड़ पर चढना पड़ेगा।''

सातगौड़ा सकल्पी पुरुष थे। उन्हें अपने अदृप्त पुरुषार्थ पर भरोसा था। वे शान्त भाव से बोले- '' तुम खुद मान रहे हो कि नारियल पाने के लिए गोली चलाने के अलावा और भी कई तरकीबे है, और फिर यदि गोली चला कर ही नारियल गिराया हो तो उसे भी मै असभव नही मानता। मेरा विश्वास है, मै भी गोली चला कर नारियल गिरा सकता हूँ।''

चचेरे भाई ने बड़ी उपेक्षा से कहा- ''लेकिन तुमने तो बन्दूक कभी छूयी भी नहीं है, एकदम ही निशाना कैसे मार सकोगे ?''

सातगौड़ा ने कोई उत्तर नही दिया। चुपके से बन्दूक हाथ में ले ली, और उसे कैसे चलाया जाता है, गोली-चालन कैसे करते है इत्यादि दो-तीन काम की बातें जान ली। इसके बाद निशाना जमाया और क्षण-भर में एक नारियल जमीन पर आ गिरा। इस पर भाई के विस्मय की सीमा नहीं रही। उसने सातगौड़ा को शत-शत साधुवाद दिये, और बोला- ''अभी कुछ देर पहले तुमने मुझसे बन्दूक का परिचय माँगा था, और इतनी ही देर में इतने अचूक निशानेबाज बन गये।'' सातगौड़ा ने कहा- ''मैंने निश्चय कर लिया था कि मै नारियल एक ही बार में गिरा दूँगा, बस गिरा दिया''। यही सातगौड़ा आगे चल कर अध्यात्मविद्या का ऐसा धनुर्धर हुआ कि लोग अचम्भे मे पड़ गये। जमाने की विषमताओं और असंगतियो के बीच उनकी साधना निष्कलक और निराली थी। अस्सी से ऊपर तक जीने वाले इन महान् तपस्वी ने सारे देश की पदयात्रा की और लोगों को बताया कि ''जियो और जीने दो'' की जीवन-कला क्या है।

आचार्यश्री में संकल्प-शक्ति अपूर्व थी। वे देह और आत्मा के पुख्ता पुरुष थे। ऐसे कुछ प्रसग हैं। जो उनकी ओजस्विता को प्रकट करते हैं। सातगौड़ा के पिता भीमगौड़ा खेतिहर थे। उन्होंने सातगौड़ा को आरम्भ मे खेतीबाड़ी के काम मे लगाया। अटल ब्रह्मचर्य के कारण सातगौड़ा में देह की अपार ऊर्जा थी। वे अपने समवयस्को की तुलना में अधिक बलिष्ठ थे। उनके यहाँ मोट से सिंचाई होती थी। चौड़ी जगत

के कुओ से बैलो द्वारा पानी खींचा जाता था और नालियो से खेत मे पहुँचया जाता था। इस तरह पानी सीचते-सींचते सातगौड़ा का तरुण-मन एक दिन 'बोर' हो गया और सोचने लगा-"ये दोनो बैल मिल कर पानी से भरे मोट की खींचते है। इसका मतलब यह हुआ कि भरा हुआ मोट और बैल, दोनो समान शक्ति के हैं। अब मुझे इस बात की परीक्षा करनी है कि मै इन दोनो से अधिक शक्तिशाली हूँ, या नहीं ? 'युवावस्था' थी ही। देह में खूब ओप, और मन मे अदम्य साहस था। जब भरे हुए मोट बैल आधी दूर तक खीच चुके, तब सातगौड़ा ने बीचोबीच मोट की रस्सी व बैलों को मध्य की ओर खींचा। पूरी ताकत से खींचने पर जहाँ मोट ऊपर आ गया, वहीं दूसरी ओर बैल भी पीछे की तरफ खिच कर आ गये। अब जाकर कहीं सातगौड़ा को सतोष हुआ कि वह बैलों और मोट की सम्मिलित शक्ति की समता कर सकता है, इतना ही नहीं वक्त आने पर उन्हे हरा भी सकता है।

ऐसे कई अविस्मरणीय प्रसग है आचार्यश्री के जीवन के जो प्रेरणा तो देते ही है, साथ ही उनके आध्यात्मिक बल को भी प्रकट करते है। यथार्थ मे उनमे अविचल सकल्प-शक्ति थी, और अपरिमित पुरुषार्थ था।

मन की एकाग्रता कितना दुष्कर कार्य है इसे वे ही जानते हैं जो इसके गुलाम बने इसकी आज्ञा में कोल्हू के बैल बने चक्कर काट रहे है। आचार्यश्री ने मन पर कड़ी लगाम दे ली थी। वे उपवास, व्रत, भक्ति आदि को हेय नहीं मानते थे, उपकारक मानते थे। उन्होंने अपने जीवन मे 'समयसार' के मर्म को उतार लिया था। इसलिए वे व्यवहार और निश्चय में सतुलन की स्थिति अनिवार्य मानते थे। वस्तुस्वरूप को समझने के लिए उनकी दृष्टि में दोनो ही जरूरी थे। आचार्यश्री का सपूर्ण जीवन समन्वय और समरसता का जीवन था। वे शान्ति के अतलान्त उदधि थे। उन्होंने शान्ति को उपलब्ध नहीं किया, वरन् शान्ति ने उन्हें उपलब्ध किया और स्वयं को गौरवशाली माना।

उपवास का एक प्रसंग है। इसे हम उपवास-दर्शन की मीमासा ही कह सकते है। लम्बे उपवास भी आचार्यश्री के मन को निराकुल रखते थे। और फिर सच तो यह है कि उनका ध्यान शरीर पर था ही नहीं व

था आत्मा पर; यही कारण था कि बड़े-से-बड़े संकट और उपसर्ग को उन्होंने मुस्कराहट के साथ सहन किया। जिस तरह अग्नि मे पड़ कर स्वर्ण और अधिक दमक उठता है, वैसे ही तपश्चर्या और ध्यान की अग्नि मे तप कर उनकी देह भी तेजोमय हो गयी थी। उपवास की निर्जरात्मक उपयोगिता पर एक आचार्यश्री ने लिखा है-''जो जीव अज्ञान से अत्यन्त भीषण पापकर्म का बन्ध करता है, वह उपवास से उसी प्रकार भस्म हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि द्वारा ईधन।'' उपवास की अवधि मे स्थितप्रज्ञता बहुत जरूरी है। जैन साधु उपवास के समय आत्मचिन्तन में लीन रहते हैं। बाह्य वस्तुओ के सबन्ध में मन को अनासक्त करते हुए वे यही सोचते है-''मेरे लिए भगवान् महावीर की ही शरण हैं''। इस समर्पण-भाव से उनमे अपार आध्यात्मिक ऊर्जा जन्म ले लेती है। एक बार डॉ सुमेरचन्द्र दिवाकर ने आचार्य शान्तिसागरजी से पूछा था- ''महाराज, लम्बे उपवासो को करते हुए आपकी नीद की क्या हालत थी।''

महाराज ने कहा- ''नीद नाम-मात्र को आती थी।''

डॉ सुमेरचन्द्र- '' तब महाराज आप क्या सोचते थे ?''

महाराज- ''उस समय हम आत्मा का ही विचार करते थे। और पदार्थों की ओर चित्त स्वय ही नहीं जाता है। हम आर्त्त और रौद्र ध्यान उत्पन्न न हो इसकी सावधानी रखते थे।''

उपवास, एकाग्रता, और स्थितप्रज्ञता के मर्म को आचार्यश्री भलाभॉति जानते थे। उन्होंने उपवास के लिए उपवास कभी नहीं किये; क्योंकि वे जानते थे कि आत्मशोधन के लिए उपवास एक बात है और विवशता में, या कीर्ति-कामना मे उपवास बिलकुल भिन्न चीज है। आचार्यश्री अपूर्व-अलौकिक भेदविज्ञानी थे, उपवास उनके लिए पुद्गल और जीव को पृथक् देखने के निमित्त खुर्दबीन-जैसे थे।

आषाढ वदी ६, संवत् १९२९ में जन्म, तथा भादों सुदी २०१२ को समाधिमरण उनके जीवन के दो निर्मल छोर है। वे जैनत्व, और जैनतत्त्व के लिए मील के पत्थर की तरह हैं - आज भी शान्त, सयत, सरल, वीतराग, अनासक्त मुद्रा में उनकी साधना किसे प्रभावित नही करती ? वे दुर्द्धर अध्यात्म साधना के धनी थे।

जैन संस्कृति–साहित्य के साधक

तीन वर्णी

☆ क्षुल्लक-प्रवर श्री गणेशप्रसाद वर्णी

- रोशनी का बेटा, जिसकी वाणी का वर्ण-वर्ण स्वर्ण बना

☆ क्षुल्लकश्री मनोहर वर्णी 'सहजानन्द'

- 'हूँ स्वतन्त्र निश्चल-निष्काम, ज्ञाता-दृष्टा आतमराम' के प्रणेता

☆ क्षुल्लकश्री जिनेन्द्र वर्णी

- 'जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के मेधावी कोशकार

-डॉ. नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (

जैन समाज में तीन वर्णी

जैन समाज मे तीन वर्णी विख्यात है

श्री गणेशप्रसाद वर्णी (सन् १८७४-१९६१), श्री मनोहर वर्णी (१९१४-७८) और श्री जिनेन्द्र वर्णी (१९२१-८३)। तीनो के अविस्मरणीय बहुमूल्य अवदान है- सास्कृतिक, सामाजिक, दार्शनिक, धार्मिक। तीनो ने समाज को एक नई दिशा-दृष्टि देने का प्रयत्न किया - तीनो प्रणम्य है।

क्षु. श्री गणेशप्रसाद वर्णी अन्धविश्वासो और अन्धी रूढियो के विरोधी थे उन्होने जैन समाज को अन्धे गलियारो से निकाल कर उजेलो मे खड़ा किया। उनकी मुख्यभूमि बुन्देलखण्ड रही। उन्होने वहाँ अलख जगाया इस तरह कुछ कि वह सारे देश के लिए प्रेरणा का अजस्र स्रोत बना। उन्होने एक रचनात्मक क्रान्ति का शखनाद किया ऐसी क्रान्ति का जिसकी प्रतीक्षा थी- जिसकी जरूरत थी।

क्षु. श्री मनोहर वर्णी हर दिल अजीज इसान थे। उन्होने कुछ इस तरह की जिन्दगी बसर की कि खुद तो धन्य हुए ही जो भी उनके सपर्क मे आया वह भी धन्य हुआ। उन्होने विपुल साहित्य सिरजा। प्रवचन किये वे हिसाब। कुन्दकुन्दाचार्य का शायद ही कोई ग्रन्थ बचा हो जिस पर उन्होने प्रवचन न दिये हो।

क्षु. श्री जिनेन्द्र वर्णी मौन/शान्त साधक थे। वे इजीनियर थे। उनका जीवन एक ज्ञान-पिपासु का जीवन था। उन्होने 'जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश' (चार खण्ड/ १९७०-७३ ई) जैसा समुद्र-मन्थन प्रस्तुत किया और अपनी समकालीन पीढी को एक अद्भुत/अपूर्व विश्वकोश प्रदान किया। श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वर (१८२७-१९०६ ई) कृत 'अभिधान राजेन्द्र कोश' (७ खण्ड/१९१३-३४ ई) के बाद इतिहास मे इसी कोश का नाम आता है।

- डॉ नेमीचन्द जैन

जैन संस्कृति-साहित्य के साधक तीन वर्णी : डॉ. नेमीचन्द जैन, संपादन : **प्रेमचन्द जैन; © हीरा भैया प्रकाशन;** प्रकाशन · **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ , पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२001,** मुद्रण . **नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर-४५२००९ ;** टाइप सैटिग **प्रतीति टाइपोग्राफिक्स, इन्दौर-४५२001 ,** प्रथम संस्करण **नवम्बर, १९९७ ;** मूल्य **चार रुपये।**

क्षुल्लक-प्रवरश्री गणेशप्रसाद वर्णी

रोशनी का बेटा, जिसकी वाणी का वर्ण-वर्ण स्वर्ण बना

आदमी जनमता है, जीता है, और कालकवलित हो जाता है। यह उसकी स्पष्ट नियति है। सामान्यत इस प्रक्रिया मे लोग जान भी नहीं पाते कि कभी कोई हुआ भी था, या नहीं। ऐसे लोग धरा के बोझ होते है और धरती इनकी अपेक्षा बॉझ होना अधिक पसन्द करती है, किन्तु श्री गणेशप्रसाद वर्णी का जीवन आरम्भ से ही बिलकुल भिन्न था। वे जिस धातु के थे, उसके बहुत कम लोग होते है। यह नहीं कि उनमे दुर्बलताएँ नहीं थीं, किन्तु वे बहिरन्तर उन्हे जानते थे और उनसे अनवरत जूझते थे। उनमे अन्तर्दृष्टि का एक बारहमासी दिया सदैव जलता रहता था।

क्षुल्लक श्री गणेशप्रसाद वर्णी की निष्कामता, सारल्य, साफगोई और प्रतिक्षण जागरूकता की कोई मिसाल नही है। वे अपनी निष्कपटता और साहस के आगे किसी के भी बहिरन्तर को जान जाते थे। वे कभी किसी से डरते न थे। नीतिकुशल और आत्माभिमानी वे थे ही, साथ ही सकल्प और धुन के भी पक्के थे। बहुधा धुन के पक्के लोग व्यसनो की ओर मुड़ जाते है और उनकी सकल्पशक्ति रचना की अपेक्षा ध्वस मे उतर जाती है, किन्तु वर्णीजी एक दूरदृष्टा पुरुष थे, और जानते थे उन्हे क्या करना है ? उनका एक-एक पल अज्ञान से जूझने और उसे पूरी ताकत से पछाड़ने मे गया। उन्होने जो, जैसा और जितना काम किया है वह कई सौ आदमी एक पूरे युग मे लगे रहने पर भी नहीं कर सकते थे। वे ज्ञान की, विचार की, विवेक की शक्ति को भलीभाँति जानते थे, इसीलिए ज्ञान की शमाई उनके जहॉ बनी वहॉ उन्होने प्रज्वलित कर दी। यथार्थ मे वे रोशनी के बेटे थे। उनकी माता का नाम ही उजियारीबाई था। पिता बाल्यावस्था मे ही नहीं रहे। वर्णी महाराज की दूरदर्शिता यह थी कि जैनेत्तर परिवार मे रह कर भी वे जैनो के सद्विचार को पकड़ते रहे। उनमे किसी भी धर्म के प्रति द्रोह था ही नहीं, वे तो आत्मकल्याण के पथिक थे।

'मेरी जीवन-गाथा' :भव्य-जीवन्त व्यक्तित्व का चरित्र

माना, उनका असली क्षेत्र कर्म का, साधना का, बुन्देलखण्ड ही रहा, किन्तु उसे भी उन्होने किसी सकीर्ण धरातल पर नही रखा। उन्होने जैनधर्म से प्रेरणा लेकर मानव-जाति की सेवा की। उनकी सेवा-भावना ने कभी यह नहीं देखा कि कोई किस जाति, या सप्रदाय का है, उन्हे जहॉ भी, जब भी कोई सकट मे दिखलायी दिया, उसकी भरपूर मदद उन्होने की। करुणा उनके रोम-रोम मे थी। जैनधर्म का मुख्य धरातल करुणा ही है। 'मेरी जीवन-गाथा' ऐसा दस्तावेज है जिसमे जैन समाज के सौ वर्षो के मानसिक विकास को दर्पण की तरह देखा जा सकता है। इस 'गाथा' को पढ कर ऐसा लगता है कि वह विराट्-भव्य-जीवन्त व्यक्तित्व आज भी हम सबके बीच है। ऐसे लोग मरा नहीं करते, समाज के प्राणो मे वितरित हो जाते है। सौ साल हुए एक महाशक्ति ने जन्म लिया था, यह अध्यात्म की ताकत थी, कर्मठता, निश्छलता, और निश्चलता की ताकत थी। यही कारण है कि क्षुल्लक श्री गणेशप्रसाद वर्णी ने जिन कामो का श्रीगणेश किया वे आज भी उनकी कीर्ति-कथा कह रहे है। आज स्थिति बदल गयी है, नये काम हो नहीं पाते है, पुराने कामो को चलाने की जोखिम उठाने को कोई तैयार नहीं है, इसीलिए आज नये काम शुरू करना उतना जरूरी नहीं है जितना यह जरूरी है कि हम देखे कि जो काम इस आदमी के द्वारा, वास्तव मे जो आदमी था ही नही, था कई सस्थाओ का एक प्रखर पुँज, स्थापित किये गये है आज किस स्थिति मे है। इन्हे देखे, निभाये और इनकी अगली सॉस की व्यवस्था करे।

खुर्दबीन की भॉंति सूक्ष्मदृष्टा/दूरबीन की तरह दूरदृष्टा

श्री गणेशप्रसाद वर्णी स्वभाव के क्रोधी थे, सस्कार के सुकुमार थे। स्वभाव मे खालिस चाणक्य थे, किन्तु सस्कार मे धरती-जेसी क्षमा के स्वामी थे। वे खुर्दबीन की भॉति सूक्ष्मदृष्टा थे और दूरबीन की तरह दूरदृष्टा। वे गुलाब से खिले हुए, और आषाढ़ के पहले दिन की धरती की तरह सुवासित थे। उनकी सबमे वड़ी विशेपता, जो आज के नेतृत्व मे नहीं है, यह थी कि वे प्रशसा जम कर करते थे। निन्दा तो वे जानते ही नहीं थे। उनकी 'मेरी जीवन-गाथा' का काफी वड़ा भाग प्रशसाओ से भरा पड़ा है। यही कारण है कि उनके अनुयायियो के ऐसे दल आज उपस्थित हे जो कुछ कर गुजरने की अभिलाषा रखते है। वे असीम उदारता के धनी थे, उपेक्षा, अवहेलना, या तिरस्कार की बात उनके दिमाग मे कभी आती ही नहीं थी। किसी को आत्मीय वना लेना और मगल कार्य की ओर उसके चित्त को मोड़ देना वर्णीजी के लिए वच्चो-जेसा खेल था, इसीलिए उनकी वाणी टकसाल थी, जिससे वे जब चाहते, जितना चाहते अपने वर्ण-वर्ण को स्वर्ण वना लेते थे। उनकी जीवन-गाथा मे ऐसे अनगिनत प्रसग है जो इस

कथन की साक्ष्य भर सकते है। असल मे वे मानवीयता की कला के धनी थे और ऐसे किसी अवसर को हाथ से नहीं जाने देते थे जिसके द्वारा रूढियो के कीचड़ मे गहरे धँसे समाज को ऊपर खींचा जा सके। श्री गणेशप्रसाद वर्णी ही पहले व्यक्ति थे जिन्होने जैन समाज को अन्धी परम्पराओ के अन्धे कुए से बाहर खींचा और अनेकान्त की शुभ निसैनी से सज्जित किया ताकि वे ऊपर ही बने रह सके। धन-दौलत का मोह तो उन्हे था नहीं, साधना और समर्पण उनके दाये-बाये हाथ थे। वे समर्पित होना जानते थे, काम करना जानते थे। वे इस बात का प्रतिपग ध्यान रखते थे कि जहॉ तक सम्भव हो आदमी की आँख को ज्ञानार्जन की शलाका से ऑजा-मॉजा जाए। मूलत उनका ध्यान समाज के स्थूल, या बाह्य व्यक्तित्व की ओर नहीं था, वे चाहते थे वर्तमान तो बने ही भावी पीढियो को भी रोशनी मिलती रहे।

आत्मानुशासन अपूर्व

वर्णीजी जैसे बहुत सुन्दर नहीं थे, किन्तु हम उन्हे कुरूप भी नहीं कह सकते, वे शौकीन भी नहीं थे, किन्तु उनकी आत्मा का अनुशासन अपूर्व था और वे अन्तरग मे अत्यन्त व्यवस्थित थे। उनका चित्त सुन्दरता की खान था, विशुद्धत्व का कोष था। उन्हे अनुशासन खूब रास आता था और इसीलिए वे व्यर्थ की पोगापथी मे नहीं पड़ते थे। वे कभी किसी पोथी से बँधे नहीं और न ही कभी किसी पोथीधारी की खुशामद उन्होने की। वे ज्ञान की पूजा करते थे, और वह उन्हे जहॉ भी मिला, उसे पाने के लिए वे लम्बी और कष्टसाध्य यात्राएँ करते रहे।

चिरौंजाबाई का व्यक्तित्व

चिरौंजाबाई का व्यक्तित्व उनकी सॉसो मे ढल गया था। बाईजी ने गणेशजी को खूब सहा है। गणेशजी का गुस्सा, उनके करुणा से ओतप्रोत ख़ब्त, उनकी मनमानी, सबकुछ बाईजी ने सहे, किन्तु बाई बहुत गहरी थीं। वे धर्म का मर्म जानती थीं, वे यह भी जानती थीं कि श्री गणेशप्रसाद कोई मामूली व्यक्ति नहीं है। उसमे समाज की नयी 'इमेज' बैठी है, इसीलिए उन्होने 'वर्णीजी इन द मेकिग' को अभग सहन किया। बाईजी की अपार सहिष्णुता और सयम ही आगे चल कर वर्णीजी के व्यक्तित्व का अभिन्न अग बने।

'मेरी जीवन-गाथा' : एक बहुमूल्य आलेख

वर्णीजी की 'मेरी जीवन-गाथा' मानव-समाज का एक बहुमूल्य आलेख है। वह इतिहास की भॉति महत्त्वपूर्ण तो है ही, प्रकाश-स्तम्भ की भॉति व्यक्ति की और समाज

रक्षा करने मे भी समर्थ है। जितना महत्त्व अशोक शिलालेख का या 'पावा नयी, पावा पुरानी' की बहस का है, उससे कही अधिक महत्त्वपूर्ण है यह किताब जिसके लाखोलाख सक्षिप्त सस्करण निकलने चाहिये। इसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि जीवन-गाथाकार ने कही भी स्वय को क्षमा नहीं किया है। इसमे कोई ऐसा प्रसग नहीं है जो जैन समाज के हृदय को प्रकट नही करता हो। दोनो खण्ड पढ कर जहाँ एक ओर वर्णीजी महाराज का व्यक्तित्व अपनी सपूर्णता मे हमारे सामने आ जाता है, वहीं दूसरी ओर समाज के उपयोगी अवयवो का भी अन्दाज लग जाता है और हम यह भी जानने लगते है कि हम कहाँ कमजोर है और हमे कहाँ-कहाँ मरम्मत की जरूरत है।

वर्णी-जीवन : जैनधर्म का एक आचरणगत भाष्य

वर्णीजी मे नेतृत्व की, निष्काम और सकल्पवान् नेतृत्व की बहुत बड़ी प्रतिभा थी वे जो भी धार लेते थे, उसे बड़ी नीतिमत्ता से पूरा करते थे। समाज को सचरित्रता औ सम्यग्ज्ञान की ओर मोड़ने का काम जिस कुशलता से उन्होने किया वह हर आदमी वे हाथ की बात नही थी। वस्तुत उनकी जीवन-गाथा धूप-सी सुखद और चाँदनी-सं शीतल है। वह सकट मे मुस्कराहट भरती है और परिग्रह मे निष्काम अपरिग्रह क उपदेश देती है। वह जैनधर्म का एक आचरणगत भाष्य है, जो मानवता की डगर प कदम डाले किसी भी आदमी के लिए पाथेय का काम दे सकती है। उनकी यह जीवन गाथा बड़े-से-बड़े अधेरे से जूझने का पुरुषार्थ उत्पन्न करने मे समर्थ है।

गुणग्राही, सारग्राही, आत्मानन्दी

वर्णीजी का व्यक्तित्व पुण्यशाली था। धन-दौलत पर वे न्यौछावर नही थे, धन-दौलत उन पर न्यौछावर थी। वे समाज के अनुगामी नहीं थे, समाज उनका अनुगामी था। वे स्वभाव के स्वच्छन्दतावादी थे, रूढियो का व्यर्थ बोझ उनको पसन्द न था। इसीलिए वे कभी बधी-बँधायी स्थितियो मे नहीं चले। उन्हे जड़ता अप्रिय थी, जीवन्तता मे जीने मे उन्हे आनन्द मिलता था। चुप बैठना उनकी प्रकृति नहीं थी, वे कुछ-न-कुछ स्व-पर कल्याण मे करते ही थे। उनकी जेनधर्म पर अटल आस्था थी, किन्तु वे रेशे भर भी अन्धविश्वासी नहीं थे। उनमे किसी प्रकार का पूर्वाग्रह भी नहीं था, जहाँ जो भी अच्छा दिखलायी देता था, उसे वे स्वीकार कर लेते थे। वे गुणग्राही थे, सारग्राही थे, आत्मानन्दी थे। उन्हे जहाँ भी, जो भी अच्छा दिखायी देता था, उसकी मुक्त सराहना से वे कभी उदासीन नही होते थे। 'मेरी जीवन-गाथा' ऐसे प्रसगो का विश्वकोश ही हे।

आदमियत की परख

वर्णीजी की सबमे बड़ी विशेषता यह थी कि वे आदमी का मूल्य करते थे, आदमियत की परख रखते थे। नफरत का उनके व्यक्तित्व मे कोई स्थान ही नहीं था। वे करुणावान् थे, और उनके हृदय मे अकारण बन्धुत्व और अहेतुक स्नेह सदैव हिलोरे लेता था। उनकी करुणा जिसे भी छू लेती थी, वह सुवर्णी, वर्णी से बड़ा, बन जाता था। उनमे व्यक्ति की गहरी परख थी, इसीलिए वे सही वक्त पर, सही आदमी को, सही सदर्भ के लिए चुन लिया करते थे। उनकी मेधा का यह करिश्मा भी 'मेरी जीवन-गाथा' मे कई जगह देखा जा सकता है।

आत्मकल्याण के साथ समाज-कल्याण

गुणो की परख, या सूँघ उनमे गजब की थी। एक अच्छे शातिर जासूस की भॉति उन्हे यह भॉपते देर नहीं लगती थी कि कौन व्यक्ति कैसा है, और उसका किस सदर्भ मे उपयोग किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि वे परम आत्मा के गुप्तचर थे, और सारे जीवन-भर यही पता लगाते घूमते रहे कि जैन समाज मे कौन कितना भव्य है और कितना काम कर सकता है। कहॉ कौन से अचल मे जैन सस्थाओ की आवश्यकता है, कहॉं की जैन समाज बिना देव-दर्शन के अन्न-ग्रहण कर रही है, कहॉ कौन जैन मन्दिर अन्तिम साँस तोड़ रहा है, कहॉ जैनत्व खण्डित, या दूषित हुआ है। ऐसी सारी नाजुक स्थितियो की परख-पहिचान उनमे थी, और उस ओर निधड़क दौड़ पड़ने का अपार साहस-पुरुषार्थ भी उनमे था। यही कारण है कि बीमारी के दिनो मे भी वे आत्मकल्याण के साथ-साथ समाज के कल्याण मे भी बराबर घूमते रहे।

८७ वर्ष की जीवनावधि में अपूर्व कार्य

ऐसे सकट के समय जबकि जैनधर्म का अध्ययन-अध्यापन-अनुसधान एक बहुत ही नाजुक दौर से गुजर रहा था, इस महापुरुष ने वाराणसी मे एक नहीं दो-दो सस्थाओ को जन्म दिया। ८७ वर्ष की जीवनावधि मे इस व्यक्ति ने अतिस्वन विमान की गति-सा काम किया और जैन समाज के रथ को प्रगति, कुण्ठाहीनता, और वैज्ञानिक चिन्तन के राजमार्ग पर डाल दिया। मजा यह था कि वर्णी महाराज तो बिलकुल पैदल चलते थे, किन्तु उनकी सेवा-भावना उनसे कई कदम आगे चलती थी। उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड अचल मे जन्म लेकर इस महान् व्यक्तित्व ने मानवता की इतनी सेवा की कि सारा भारत निरुत्तर रह गया। पता नहीं आज का नेतृत्व वर्णी महाराज की अपरिग्रही निष्काम चेतना से कोई सीख-सबक क्यो नहीं लेना चाहता है, वस्तुत दोष व्यक्ति का नहीं है, युग का है। आदमी आज जितना स्टेशनरी पर खर्च करना चाहता है,

प्रचार-प्रसार पर खर्च करना चाहता है, उतना वास्तविक काम पर खर्च करने की उसकी नीयत नही है। वर्णीजी के पोस्टकार्ड यदि एक सस्था को जन्म दे सकते थे किन्तु आज का आदमी अच्छा सुटंकित पत्र लिख कर भी एक मामूली-सी सस्था खड़ी नही कर सकता। भावना चाहिये, भावना मे पावनता का बल चाहिये और भीतर से फुसकार भरती उमग चाहिये। यह सब था वर्णी महाराज मे।

क्षेत्रकालातीत व्यक्तित्व का स्मारक भी क्षेत्रकालातीत हो

इसीलिए आज जबकि उनकी जीवन-गाथा की लाखो जेबी प्रतियॉ घर-घर पहुँच जानी चाहिये तब हम पाषाणपट्ट, या छायावान, या अभिनन्दन-ग्रन्थ की ओर ध्यान दे रहे है। ऐसा क्यो नहीं किया जाता कि वर्णीजी को सच्ची श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए हम एक 'जैन शिक्षा-महाविद्यालय' की स्थापना करे जो सपूर्ण भारत के लिए अधुनातन जानकारियो से लैस जैन पण्डित, अध्यापक और प्रसारक तैयार करे, जहॉ उनका विधिवत् प्रशिक्षण हो और जब भी जरूरत हो उनमे ज्ञान को नयी महक और ताजगी देने को वहॉ उन्हे बुलाया जाए। वर्णीजी को जन्मभूमि हसेरा हो, कर्मभूमि सागर हो और निधन भूमि ईसरी हो, किन्तु इन पक्तियो के लेखक का विश्वास है कि उनका व्यक्तित्व क्षेत्रकालातीत था और इसलिए उनका स्मारक क्षेत्रकालातीत ही होना चाहिये।

क्षुल्लकश्री मनोहर वर्णी 'सहजानन्द'

'हूँ स्वतन्त्र निश्चल-निष्काम, ज्ञाता-दृष्टा आतमराम' के प्रणेता

क्षु श्री मनोहर वर्णी का जन्म दमदमा (उ प्र) मे कार्तिक कृ १०, वि स १९७२ (सन् १९१४) मे हुआ था। उनके पिता का नाम श्री गुलाबराय और माता का नाम श्रीमती तुलसीबाई था। जन्म-नाम पहले 'मदन मोहन' बाद मे मगनलाल आषाढ शु १५, वि स २००० (सन् १९४५) को सम्मेदशिखरजी क्षु श्री गणेशप्रसादजी वर्णी से-मे उन्होने सातवीं प्रतिमा धारण की। उनका निधन ३० मार्च , १९७८ मे हुआ। उनकी लगभग ५०० प्रकाशित-अप्रकाशित कृतियॉ है।

उनके प्रवचन : सरल, सुगम, सुबोध

उनके प्रवचन सरल, सुगम, सुबोध, और भाषा-की-सादगी से भरपूर है। दृष्टान्तो के द्वारा विषय-वस्तु को श्रोता के गले उतारने की कला उनमे विलक्षण थी। वे तब तक चैन नहीं लेते थे जब तक श्रोता के गले प्रतिपाद्य को बूँद-बूँद उतार न देते।

व गाँव मे पढ़े। गवेषणा मे इसीलिए उनका मन बहुत गहरे गया। बचपन से ही उनकी स्मरण-शक्ति प्रखर थी। श्री गणेशप्रसाद वर्णी उनके गुरु थे, इसलिए सागर मे-से उन्होने अपने ज्ञान-की-गागर भरी और अपने चातुर्मासो मे उस सचित अमृत को उदारता से बॉटा-लगभग पूरे देश को अभिषिक्त किया।

धर्म/अध्यात्म को खिलाड़ी तरह जिया

खेलकूद मे उनका चित्त खूब रमता था, यही कारण है कि उनके मन मे कभी किसी के प्रति रागद्वेष नहीं रहा।

उन्होने धर्म को/अध्यात्म को खिलाड़ी की तरह जिया। जगत्-का-रणागण उनके लिए खेल-का-मैदान बना रहा। ससार मे वे रहे, किन्तु काफी निर्लिप्त। जैसे कमल-की-पॉखुरी पर ओस-की-बूॅद रहती है मोती-सी आब लिये विविक्त, ठीक वैसे ही वे बने रहे इन दुनिया मे।

हरफन मौला

वे हरफन मौला थे। कलाओ से उन्हे प्रेम था। उनकी दार्शनिकता रसवन्ती थी। सगीत से उन्हे बेहद प्रेम था। एक बार उन्होने हारमोनियम लिया। सीखा। बजाया। किन्तु यह सोच कर कि उनके गुरुजी क्या कहेगे, बेच दिया, किन्तु हारमोनियम के सरगम उनकी अध्यात्म-साधना मे समा गये।

हारमोनियम के बाद उन्होने बॉसुरी खरीदी। उसका रियाज किया। उसमे महारत प्राप्त किया और फिर उसे भी छोड़ दिया। बॉसुरी भी उनमे रम गयी। बॉंसुरी को उन्होने छोड़ा, किन्तु बॉसुरी उन्हे न छोड़ सकी। वह अदृश्यरूप मे उनके व्यक्तित्व मे समा गयी। बॉसुरी की तान, उसकी माधुरी उनके प्रवचनो मे सर्वत्र सुनी जा सकती है। उनकी वाणी मे तो सहज माधुर्य था ही, इसलिए हम जब भी उनके प्रवचनो को पढ़ते है तब उनमे-से कहीं हारमोनियम तो कहीं बॉसुरी-के-सुर सुनायी पड़ते हैं।

भाषा पर उनका अच्छा खासा अधिकार

भाषा पर उनका अच्छा खासा अधिकार था। उन्हे अपने विचारो को प्रकट करने के लिए शब्दो को नहीं ढूँढना पड़ता था, बल्कि शब्द आपोआप उन्हे ढूंढ लिया करते थे। लगता है शब्द और उनके बीच खेल का, सखा का रिश्ता था। शब्दो को उनकी व्युत्पत्तियो मे पाने और उनमे-से रसवन्ती अर्थधारा को प्रवाहित करने मे उन्हे बड़ा आनन्द आता था।

उनके 'नियमसार प्रवचन' पढते-पढते अनायास
उनके शब्द-शिल्प/उनकी प्रतिपादन-शैली पर मेरा ध्यान गया है।
लगा है वे शब्दो के भी हरदिल अजीज हैं। शब्दो से उनकी इतनी सघन
आत्मीयता है कि कोई शब्द उनसे अपना अतरग छुपाता नही है। वे शब्दो
को दिगम्बर/साम्बर सभी मुद्राओ मे देखने मे दिलचस्पी रखते है, इसलिए
शब्द उनसे कोई दुराव नही रखते और न ही वे उनसे। उनका शब्दो से
बड़ा निश्छल 'डायलॉग' है। दोनो एक-दूसरे से मुकाबिल एक-दूसरे से प्यार करते है।

सधी हुई प्रतिपादन-शैली

'नियमसार प्रवचन' का प्रथम भाग पढते-पढते उनके अथाह ज्ञान पर ध्यान तो
गया ही, ध्यान गया उनकी सधी हुई प्रतिपादन-शैली पर।
एक-एक गाथा को उन्होने उसकी तल-अतल गहराइयो मे देखा है। गाथा
की सपूर्ण जीवन-गाथा जब तक उन्होने अपने प्रिय श्रोताओ को नहीं कह ली
है, वे चुप नही हुए है। छोटे-छोटे समस्त, किन्तु स्वय मे परिपूर्ण
शीर्षको मे उन्होने विषय-वस्तु को दर्पण-मे-पड़ते प्रतिबिम्ब की तरह स्पष्ट झलकाया है।

जितना प्यार उन्हे विद्वद्भोग्य भाषा से है उतना ही लोकभाषा से है। वे
कभी नहीं चूके है उन शब्दो के इस्तेमाल से जो ठेज ग्रामीण है, किन्तु
जिनके प्रयोग से उन्हे अपनी अनुभूति को स्पष्ट करने/कहने मे मदद मिली है।
प्रथम भाग के पृष्ठ ४ पर 'झक्काटा' शब्द आया है। यह ठेठ देहाती
प्रयोग है, किन्तु साहित्य के स्तर पर इस अनुभूति को व्यक्त करने के
लिए कोई अन्य शब्द काम नहीं दे सकता। वाक्य है- 'कोई लोग
कहते है कि जब वे ध्यान मे बैठते है तो भीतर-मे-सफेद उजेले का झक्काटा
दीखता है।' यहां 'झक्काटा' शब्द पर ध्यान दीजिये। यह धवलिमा
का ही एक भेद है, किन्तु ऐसा भेद जो तेजी से मनोपटल पर आता है और
भीषण वेग से गुजर जाता है। सफेदी जो बिजली-की-तरह मन पर बनती है और
तुरन्त लुप्त हो जाती है। गति और प्रकाश की तीव्रता के बोध कराने
मे 'झक्काटा' पूरी तरह सफल है। इस तरह के शब्द-प्रयोग में उन्हे कोई सकोच नहीं है।

पृष्ठ [illegible] पर '[illegible]' [illegible] उन्होने लिखा है- 'सड़क शब्द अशुद्ध है।
[illegible] नहीं [illegible] सरक। [illegible] आदमी सरकते हो उसका नाम सरक है।'
[illegible] '[illegible]' [illegible] अरबी के '[illegible]' [illegible] मे-से विकसित शब्द है।
[illegible] पृष्ठ [illegible] पर [illegible] है- 'जानते हो पायजामा किसे
[illegible] (पा [illegible] / [illegible] पाजामा) ? जिसमे पांव जम जायं वह

पायजामा है ?' शब्दो की तह मे पहुँचने के लिए वे सरलार्थ ढूँढ़ लेते है और फिर जा कर अपने प्रिय श्रोता को परोस देते है।

'चोखट' शब्द है। इसे ले। सहजानन्दजी ने पृष्ठ ४४ पर कहा है- 'चारो तरफ जिसमे खट (हि काठ/स काष्ठा) हो - जो ऊपर सिर मे खट्ट से लग जाय, नीचे सोये तनिक से लेटे-लेटे सरक दे तो नीचे की देरी (देहरी) खट लग जाय, अगल-बगल सिकुड़ कर न जाय तो डडा लग जाय सो जिसमे चारो तरफ से खट (खट्ट) की आवाज हो सो चौखट है।'
वे कहते है कि शब्द अर्थ की प्रशस्ति मात्र है- 'वह शब्द के अतरग की झलक-झाँकी देने वाला परम सत्त्व है। उनका कथन है कि 'कौन-सा नाम है ऐसा जो शब्द की विशेषता न बताता हो ?'

सहजानन्द

सहजानन्दजी बहुत सहज किन्तु अर्थगर्भित इन्सान है। वे शब्द को उसके इर्द-गिर्द के वातावरण मे-से भी 'एन्जॉय' करते है। शब्द को ले कर वे किसी मनहूसियत मे ठहरना/उतरना पसद नहीं करते बल्कि उसे आनन्द-के-सरोवर-तट पर ले जाकर उसके साथ जल-क्रीड़ा पसद करते है। वे उसके साथ किलोल करते है, डुबकियॉ लगाते है, तैरते है, सुस्ताते है - और उससे, चारो ओर से, वाकिफ होने के प्रयत्न करते हे।

परमात्मा

एक शब्द है 'परमात्मा'।
कहा जाता है कि तीर्थकर २४ ही होते है। वे परमात्मा है। हिन्दुओ मे भी अवतारो की सख्या २४ मानी गयी है।
सहजानन्दजी ने सहज ही 'परमात्मा' को अपने पास बिठा लिया है और उसकी लिखावट मे-से (गुजराती लिपि, जो शिरोरेखा-रहित नागरी से काफी मेल रखती है) २४ होने की सचाई को 'एन्जॉय' किया है (पृष्ठ ४५)।
हारमोनियम और बॉसुरी का अनुरागी ही तो इस तरह की रसवन्ती कोशिश कर सकता है। खेल-खेल मे सच को पाना, उसे ढूँढ/तलाश कर अपनाना बहुत मुश्किल काम है, किन्तु सहजानन्दजी के लिए वह सहज आनन्द का विषय है- वे शब्दो को उनके सपूर्ण ऐश्वर्य और तल-अतल मे पाने का पूरा-पूरा प्रयास करते है उनमे मगन हो जाते है, डूब जाते है। ऐसा करना उनके लिए प्राविड़ पाणायाम नहीं है-सहज है। वे कहते हैं-'तो अब एक चीज जरा

देखो। परमात्मा की ऐसी लिखावट है कि उसके अको का जोड़ २४ होता है।
प यो लिखते है जैसे ५। र यो लिखते हे तो २ जेसा लगता है ओर मा
लिखते है गुजराती लिपि मे सो ४।। जैसा लगता हे और फिर आधा त
लिखते कि ८ जैसा मालूम होता है और बाद मे बड़े मा महाराज आ गये
सो ४।। जैसा मालूम होता है। इन सबको जोड़ लो तो २४ की सख्या पड़ी
हुई है।' यदि 'परमात्मा' को गुजराती मे लिखे तो मनोहर वर्णी की मनोहारी
वर्ण-कल्पना का स्पष्ट बोध होता है और जोड़ बिलकुल २४ बैठता है।
परमात्मा की ऐसी विलक्षण व्याख्या वही व्यक्ति कर सकता है जो कल्पनाशील
हो और शब्द को रेशे-दर-रेशे जानता हो- जानने की कोशिश/साधना
करता हो। साधना भी ऐसी सहज जो मन को भारी न पड़े।
असल मे कोशिश कोई भी हो उसे ऐसा होना चाहिये कि जिसमे-से आनन्द
के हजार-हजार झरने खुल पड़े। सहजानन्दजी की
साधना मधुर है-सफल है-सार्थक है।
और अपने सपर्कों के लिए प्रेरणादायी है।

न्यायतीर्थ

ऐसा नहीं है कि वे शब्द को सिर्फ लोकमेधा के तल पर ही खोजते है। वे
'न्यायतीर्थ' है, अत अन्याय की ओर झुकना/झुकाना उन्हे नापसद है। आज जो
डिग्रीधारी न्यायतीर्थ है उनसे वे इसलिए जुदा है कि वे 'न्याय' का
अर्थ मात्र 'तर्क' ही नहीं लेते बल्कि उसका अर्थ 'इन्साफ' भी करते है
इसीलिए सहजानन्दजी को नाइन्साफी बिलकुल पसद नही है फिर चाहे वह
धर्म का क्षेत्र हो या समाज का या शब्दार्थ का।

विनोदप्रियता

सहजानन्दजी की इस विनोदप्रियता ने ही उन्हे सच्चा साधक बनाया है।
वस्तत जो मुस्करा नहीं सकता वह भला साधक कैसे हो सकता है ? जो बाहर
मुस्कराते-मुस्कराते भीतर मुस्कराने लगता है वही तो सच्चा तपोधन है -
जो बाहर मुस्कराता हो भी भीतर फन उठाये रखता हो वह कपटी है और
जो भीतर मुस्कराता हो और बाहर शान्त बना रहता हो वह परम वीतरागी
है। वह परिपक्व है। परिपक्व साधक मे होता है कदम-दर-कदम
अद्वैत। सहजानन्दजी मे इस अद्वैत की झलक को हम उसके सपूर्ण वैभव मे देखे
सकते है - पा सकते है - छू सकते है।

सुन्दर, मनोहर, अभिराम

'सुन्दर', 'मनोहर', और 'अभिराम' शब्दो की बहुविध विवक्षाओ (शेड्स ऑफ मीनिंग्ज) को स्पष्ट करते हुए पृष्ठ १४६ पर उन्होने कहा है-

'देखो भैया। भली बात बताने के लिए तीन शब्द आया करते हैं सुन्दर, मनोहर, अभिराम। इसमे 'सुन्दर' शब्द तो बड़ा ओछा शब्द है, उससे बढ कर तो 'मनोहर' शब्द है और उससे बढ कर 'अभिराम' शब्द है। जिसको जो सुन्दर लगता है उस ही से वह आफत मे पड़ जाता है। सुन्दर से अच्छा तो मनोहर हे, जो मन को हरे। इस शब्द मे तड़फाने की बात नहीं भरी हुई है। अगर वह तड़फता है तो, तो उसमे सुन्दर का सवन्ध है, किन्तु मनोहर शब्द के अर्थ मे थोड़ा बिगाड़ है, मन को हर लिया। जैसे कोई किसी धन को हर ले तो उसमे पाप लगता है ना ? इन सबसे अच्छा शब्द है 'अभिराम'। है तीनो एकार्थक शब्द, पर अभिराम मायने जो अपनी आत्मा मे सर्वप्रकार से ऋद्धि और सपन्नता वर्ते उस परिणति का नाम अभिराम है।'

वीर

अन्त मे हम 'वीर' शब्द को लेते है। प्रथम पृष्ठ पर ही सहजानन्दजी ने इसकी व्युत्पत्ति पर विचार किया है।

वे कहते है- 'वीर' शब्द का अर्थ है-वि,ई,र इसमे तीन शब्द है। 'वि, का अर्थ है विशिष्ट, 'ई' का अर्थ है लक्ष्मी, और 'र' का अर्थ है देने वाला। विशिष्टा ई लक्ष्मी राति ददाति इति वीर -
(जो विशिष्ट ज्ञान-लक्ष्मी को देवे उसे वीर कहते है।)
लक्ष्मी का नाम है ज्ञानदर्शनस्वभाव का -पर लोकव्यवहार मे लोगो ने हजारो-लाखो-करोड़ो की सपदा का लक्ष्मी नाम रखा लिया है।'

सत्य-के-प्रति समर्पित-खोजी

इस तरह हम देखते है कि जो साधक है वह शब्द की गहराइयो मे उतरता है और न सिर्फ अपने लिए वरन् तमाम दुनिया के लिए रत्नो का/जवाहरात का खजाना ढूँढ लाता है। उसके इस करिश्मे से गलतफहमियाँ तो दूर होती ही है,
सत्य-के-खोज़ियो को सत्य तक अपनी पहुँच बनाने मे सहजता होती है।

सहजानन्दजी सत्य-के-प्रति समर्पित-खोजी थे इसीलिए उनके 'आत्मसकीर्तन' की ये पक्तियो आज भी लाखोलाख मुमुक्षुओ की प्रेरणा-स्रोत बनी हुई है-

'हूँ स्वतन्त्र निश्चल-निष्काम, ज्ञाता-दृष्टा आतमराम'।

क्षुल्लकश्री जिनेन्द्र वर्णी

'जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के मेधावी कोशकार

होते है कई लोग ऐसे जो पार्थिव हो कर भी अ-पार्थिव होते है, वे होते पृथ्वी के/ पृथ्वी पर है, किन्तु उनका अजर-अमर कृतित्व क्षेत्रकाल को लॉघ जाता है। जिनेन्द्र वर्णी का नाम भले ही आज बहुत सारे लोग न जानते हो, किन्तु वे एक ऐसी महान् विभूति थे, जिन्होने देह-मे-बैठ विदेह-की-अभीक्ष्ण-आराधना की, एक पल भी उससे विरत नही हुए। जैन कई है, किन्तु सच्चे जैन (कहे मनुष्य) की इबारत वर्णीजी के इन शब्दो मे ही प्रतिध्वनित है, पूरे बल से झनझना रही है 'मै न श्वेताम्बर हूँ न दिगम्बर, न जैन न अजैन, और न हिन्दू न मुसलमान-सब कुछ हूँ।' यह है 'वर्णी' विशेषण की सार्थकता जिसमे वे वर्ण की सारी सकीर्णताओ को लॉघ गये है कौन कह सकता है ये शब्द ? किसमे है वह कलेजा जो वर्ण की इस सुदृढ़ जिजीविषा को अपने कर्म और कृतित्व मे बदल सके ? श्री जिनेन्द्र वर्णी ही वह अप्रतिम व्यक्तित्व हो सकते है, क्योकि उनका शब्द उनका चरित्र था , उनका कथन कर्म था, एक तो वे बोलते ही कम थे, दूसरे जितना बोलते थे उतना नपातुला, उपादेय, तर्कसगत, अत्यत प्रासगिक। आगे चल कर, इसलिए, मौन ही उनका वर्ण बन गया।

'जैन सिद्धान्त कोश' के शिल्पी

विश्व दो व्यक्तियो को कदाचित् ही भूल पाये 'अभिधान राजेन्द्र कोश' के प्रणेता श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी को, और 'जैनन्द्र सिद्धान्त कोश' के शिल्पी श्री जिनेन्द्र वर्णी को। माना, कोश एक ऐसी रचना होती है, जिसे कभी कभार, भूले-भटके कोई छूता-देखता है, किन्तु सम्यक्त्व की अविचलता और असदिग्धता के लिए इससे बड़ा कोई आधार भी तो नही है। एक-अकेला 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' ही ('समणसुत्त' भी) वर्णीजी को अक्षर-पुरुषो की कतार मे अव्वल ला खड़ा करने मे समर्थ है। यदि इस अभूतपूर्व कोश को बड़े टाइप मे छापा जाता तो सभवत कमोवेश दस हजार पृष्ठ होते। यह कोश न सिर्फ जैन धर्म/दर्शन का एक अपरिहार्य/गहन सन्दर्भ है, अपितु कोश-विज्ञान के क्षेत्र का भी एक प्रशस्त प्रकाश-स्तम्भ है। इसमे जिस तरह शब्द-प्रविष्ठियॉ और व्याख्याएँ दी गयी है, दृष्टव्य है। एक इस कोश का स्वाध्याय मात्र ही मनुष्य को ठीक-से मनुष्य, और जैन को ठीक-से जैन बना सकता है।

कालजयी अक्षर-पुरुष

वर्णीजी एक कालजयी अक्षर-पुरुष थे। मौत से वे कब डरे ? हॉ, मौत उनसे बराबर खौफ खाती रही। उसे वे कभी श्वासरोग, कभी क्षय और कभी सल्लेखना-सकल्प के रूप मे बार-बार पुकारते रहे, किन्तु उस बहरी ने उनकी कभी सुनी नहीं , अन्तत जब उसने विलकुल ही नकार दिया तब १२ अप्रैल १९८३ को उन्होने खुद-ब-खुद एक शानदार दावत दी उस सल्लेखना-सकल्प की शक्ल मे। आयी वह, विलम्ब से, ४३ दिनो तक उसने उन्हे प्रतीक्षारत रखा। निर्मलताओ और उज्ज्वलताओ के कुबेर वर्णीजी ने अन्ततोगत्वा २४ मई, १९८३ को उसे कृत-कृत्य/धन्य किया (मृत्यु-को-मृत्यु दे कर)। मुस्कराते-हॅसते पूरे होशहवास मे मृत्यु से सवादरत वर्णीजी ने उस दीपक्ति मे एक और अखण्ड दीप सॅजो दिया, जिसे सत विनोबा ने प्रज्वलित किया था (१४ नवम्बर, १९८२)। 'विनोबा' और 'वर्णी' इन दो को शायद ही कोई भूल पाये सूरज-चॉद की उम्र तक ।।

वर्ण-विशेषज्ञ

'वर्णी' शब्द को लोग सुनते-बोलते जरूर है, किन्तु इसके अर्थ को प्राय नहीं जानते। यह लफ्ज 'वर्ण' से बना है, जिसका अर्थ है वर्ण-विशेषज्ञ यानी अग्रेजी मे 'मेन ऑफ लेटर्स'। और फिर वर्ण का कोई एक अर्थ तो है नही कम-से-कम ३ अर्थ तो हॅई है स्वर-व्यजन, रग, समूह-विशेष। वर्णीजी को ले कर ये तीनो मायने सार्थक है। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' उन्हे वर्ण के प्रथमार्थ से जोड़ता हे, आत्मा के अपूर्व शिल्पी होने के नाते दूसरा अर्थ प्रासगिक है-क्योकि वे १९२१ से १९८३ तक प्रतिपल अपनी जीवन-मूर्ति को ही तराशते रहे, उसमे-से व्यर्थताओ को भीतर-भीतर खिराते-चुकाते रहे, तीसरा अर्थ उनसे आत्मौपम्य के कारण जुड़ जाता है। उनमे सबके लिए समत्व था, अपरपार समत्व, इसीलिए क्रमश उनमे शब्द शान्त होता गया और अ-शब्द गतिशील।

जीवन-यात्रा : भाषा की चार अवस्थाओं में अग्रसर

उनकी जीवन-यात्रा को हम भाषा की चार अवस्थाओ/पड़ावो के विश्लेषण से अधिक अच्छी तरह समझ सकेगे। ये है वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा। वस्तु वे पड़ाव मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की सपूर्ण विकास-कथा हे। इन्हे जीवन मे अक्षरश पकट करना मुश्किल है, किन्तु वर्णीजी ने इन्हे वर्णश जिया है। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' वैखरी (श्वास) है, 'शान्तिपथ-पदर्शन' विश्वास (श्वास-प्रक्रिया की अपरिम अतिक्रान्ति) -जहाँ पहुंच कर भाषिक सब कुछ शान्त हो गया है वे अनुदत्त चिन्तन-मनन मे डूब गये हे, ईसरी पहुंचना और समाधिमरण के लिए निवेदन करना

उनकी पश्यन्ती अवस्था है, जहॉ वे अक्षर-मे-से-अक्षर-को-देख-रहे-है, ग्रन्थ पूर्णत शान्त हो गया है, तथा परा उनकी वह अवस्था है जहॉ वे कैवल्य से निर्विकल्प सवाद मे शान्त/सपन्न हे।

उन्होंने वर्ण, बुद्धि, विकल्प को अतिक्रान्त किया

इस तरह, इस परम पुरुष को हम सबके असख्य प्रणाम, जिसने क्रमश वर्ण, बुद्धि, विकल्प को अतिक्रान्त किया और भौतिक अतिवादो के बीच तड़पती-कराहती इस दुनिया को आत्मा की अमरता का सन्देश किया। उनका यह समाधिमरण चेतना की विजय का एक ऐसा अमर काव्य है, जो युगयुगो तक मानवता के विशाल भाल पर कुकुम-रोली का तिलक बना दमकता रहेगा।

(क्षु श्री जिनेन्द्र वर्णी जन्म-पानीपत (पजाब) जेठ वदी २, वि स १९७८ (१९२१) पिता - जयभगवान् एडवोकेट, प्रथम क्षु दी १९६१, समाधिमरण का प्रथम विचार-१९७०, सल्लेखना-व्रत १२ अप्रैल १९८३, ईसरी (बिहार), सान्निध्य आचार्यश्री विद्यासागर, निधन, २४ मई १९८३, ईसरी , दीक्षोपरान्त नाम-क्षु सिद्धान्तसागर, **कृतियाँ** कर्म-सिद्धान्त १९५७, शान्तिपथ-प्रदर्शन १९५९, नय-दर्पण १९६०, कुन्दकुन्द-दर्शन १९६७, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश खण्ड १-४, १९७०-७३, वर्णी-दर्शन १९७४, समणसुत्त १९७५, पदार्थ-विज्ञान १९७७, कर्म-रहस्य १९८१, महायात्रा, सर्वधर्मसग्रह इत्यादि, अप्रकाशित-वैदिक कोश २ खण्ड।

मैं 'जिनवाणी-का-शिशु' हूँ

डॉ. नेमीचन्द जैन मुझे याद है, दिल्ली मे 'समणसुत्त' को ले कर २९-३० नवम्बर १९७४ मे सगीति हुई थी, मै भी उसमे था। इस अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ ने आपका अभिनन्दन किया था। उत्तर मे आपने कहा था 'मै तो एक शिशु हूॅ। शब्दो से खेला करता हूॅ।' इस कथन को तनिक विस्तार से समझाइये।

क्षु जिनेन्द्र वर्णी मै जिनवाणी-का-शिशु तो हूॅ ही। इस शरीर मे सिर्फ आत्म-कल्याण के लिए हूॅ। सारा जीवन जिनवाणी की गोद मे बीता/बीतेगा। मेरा विश्वास है कि मेरा कल्याण उसी की शरण मे होगा , न सही इस भव मे , अगले भव मे तो होगा ही।

ने दिगम्बर मुनि को शिशु की उपमा दी गयी है।

जि शैशव आर्जव धर्म का प्रतीक है। जब तक आर्जव नहीं होता, तब तक आत्म-कल्याण नही होता। यह तो शुरू से है। मै जिनवाणी-जननी की शरण मे आया हूॅ तब तक बना रहूॅगा, जब तक आत्म-कल्याण न हो जाए।

(बातचीत २९ अक्टूबर, १९८१ एक अश)

प्रमुख दिवंगत जैन पण्डित/विद्वान्

- **पं. गोपालदास बरैया** का चरित्र बडा ही उज्ज्वल था। इसमें वे पण्डित–मण्डली में अद्वितीय थे। उनकी प्रतिष्ठा और सफलता का सबमें बडा कारण उनका नि स्वार्थ सेवा का या परोपकारशीलता का भाव था।

- **सुखलाल संघवी** के सम्मानार्थ सन् १९५५ में तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ एस राधाकृष्ण की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक समारोह आयोजित किया गया। सम्मानार्थ प्राप्त राशि रु ८०,००० से उन्होंने ज्ञानोदय ट्रस्ट की स्थापना की थी। वे प्रज्ञाचक्षु थे।

- **ब्र. पं. चन्दाबाई** की शिक्षित अनेकों बालिकाएँ समाज में विदुषी महिलाओं के रूप में सम्मानित हैं। उनके कृति और व्यक्तित्व तथा पाण्डित्य की तुलना में समाज में बिरली महिला रहीं।

- **डॉ. हीरालाल जैन** ने स्वय और प्रेरणा देकर लगभग ३० ग्रन्थों का सृजन किया, जिनमें 'भारतीय संस्कृति को जैनधर्म की देन' उच्चकोटि का है। वे प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही।

- **डॉ आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये** के व्यक्तित्व में प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वान् का एक अद्भुत सम्मिश्रण था। उन्होंने जैन साहित्य और सस्कृति के विकास तथा पुनरुद्धार के लिए ऐतिहासिक कार्य किया।

- **डॉ. नेमिचन्द शास्त्री ज्योतिषाचार्य** ने केवल साहित्य–साधक थे, अपितु समाज–सेवक एव लोक सेवक भी थे। वे छात्रों और अध्यापकों के परम हितैषी एवं कल्पतरु थे।

– डॉ. नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

गुरुवर्य पं. गोपालदास बरैया

(१८६६-१९१७)

पण्डितजी का जन्म आगरा मे वि स १९२३ (सन् १८६६) मे हुआ था। पिता की मृत्यु छुटपन मे हो गयी थी। माताजी की कृपा से मिडिल तक हिन्दी और छठे सातवीं तक अग्रेजी पढ सके। बचपन मे धर्म के प्रति रुचि नहीं थी। १९ वर्ष की अवस्था मे अजमेर मे रेलवे के दफ्तर मे नौकरी कर ली। यहाँ प मोहनलालजी की सगति से चित्त जैनधर्म की ओर आकर्षित हुआ और वे जैन ग्रन्थो का स्वाध्याय करने लगे। दो वर्ष के बाद उन्होने रेलवे की नोकरी छोड़ दी और सेठ मूलचन्दजी के यहाँ नौकरी की। उनकी ईमानदारी और होशियारी से सेठजी प्रसन्न रहे। अजमेर मे ६-७ वर्ष तक रहे। इस बीच उनका अध्ययन बराबर चलता रहा। सस्कृत का ज्ञान भी वहीं पर हुआ। वहाँ की जैन पाठशाला मे उन्होने लघुकौमुदी और जैनेन्द्र व्याकरण के कुछ अश और न्यायदीपिका - ये तीनो ग्रन्थ पढे थे। 'गोम्मटसार' का अध्ययन भी उन्होने उसी समय शुरू कर दिया था।

कुशल व्यापारी : सवत् ४९ मे सेठ मूलचन्दजी के साथ वे जैनबद्री-मूडबिद्री की यात्रा पर साथ गये। लौटते समय वे बम्बई आये। वहीं रहने का निश्चय किया। नौकरी की। स ५८ मे सेठ नाथाजी के ही साझे मे पण्डितजी ने मोरेना (म प्र.) मे आढत की दुकान खोल ली। साझेदारी मे काम करने लगे।

सार्वजनिक जीवन : उनके सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ बम्बई मे हुआ। वहाँ उन्होने और प धन्नालालजी के सहयोग से स १९४९ मे दि जैन सभा की स्थापना की। स ५० मे महासभा के महाविद्यालय का प्रारम्भ उन्होने किया। स ५३ के लगभग भारतवर्षीय दि जैन परीक्षालय स्थापित हुआ, उसका काम उन्होने बड़ी कुशलता से किया। इसके बाद दि जैन सभा, बम्बई की ओर से जनवरी, १९०० (स ५६ के लगभग) उन्होने 'जैनमित्र' निकालना शुरू किया। स ६५ के १८ वें अक तक 'जैनमित्र' के सपादकी मे पण्डितजी का नाम रहा।

जैन सिद्धान्त विद्यालय : पण्डितजी को स्वतन्त्र जैन पाठशाला खोल कर काम करने की इच्छा हुई। यही पाठशाला 'जैन सिद्धान्त विद्यालय' के नाम से प्रसिद्ध है, इसके द्वारा जैनधर्म के बड़े-बड़े ग्रन्थ के पढनेवाले अनेक पण्डित तैयार हो गये है। (प माणिकचन्दजी, प बशीधरजी शास्त्री, प बशीधरजी न्यायालकार, प खूबचन्द्रजी शास्त्री, प देवकीनन्दनजी शास्त्री, प मक्खनलालजी शास्त्री आदि इसी की देन हैं।)

उपाधियाँ : मोरेना मे उन्हे ऑनरेरी मजिस्ट्रेट का पद प्राप्त था। बम्बई प्रान्तिक सभा ने उन्हे 'स्याद्वाद वारिधि', इटावे की जैन तत्त्व प्रकाशिनी सभा ने 'वादिगज केशरी', और कलकत्ता के गवर्नमेण्ट सस्कृत कॉलेज के पण्डितो ने 'न्याय वाचस्पति'

पदवी प्रदान की थी। सन् १९१२ मे दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा ने उन्हे वार्षिक अधिवेशन का सभापति बनाया था और उनका बहुत बड़ा सम्मान किया था।

अगाध पाण्डित्य : उन्होने स्वावलम्बनशीलता और निरन्तर के अध्यवसाय से पाण्डित्य प्राप्त किया था। पण्डितजी जीवन भर विद्यार्थी रहे। वे न्याय और धर्मशास्त्र के बेजोड़ विद्वान् हो गये और इस बात को न केवल जैनो ने, किन्तु कलकत्ते के बड़े-बड़े महामहोपाध्यायो और तर्कवाचस्पतियो ने भी माना। विक्रम की बीसवी शताब्दि के वे सबसे बड़े दिगम्बर जैन पण्डित थे, उनकी प्रतिभा और स्मरण-शक्ति विलक्षण थी।

व्याख्यान-कला : उनके व्याख्यान विद्वानो के ही काम के हुआ करते थे। वाद या शास्त्रार्थ करने की शक्ति उनमे बड़ी विलक्षण थी।

उनकी रचनाएँ पण्डितजी मे अच्छी लेखन-शक्ति थी। उनके बनाये तीन ग्रन्थ है जैन सिद्धान्त दर्पण, सुशील उपन्यास और जैन सिद्धान्त प्रवेशिका। 'जैन सिद्धान्त दर्पण' का केवल एक ही भाग है। यदि इसके आगे के भी भाग लिखे गये होते, तो जैन साहित्य मे यह बड़े काम की चीज होती। यह पहला भाग भी बहुत अच्छा है। 'प्रवेशिका' जैनधर्म के विद्यार्थियो के लिए एक छोटे-से पारिभाषिक कोश का काम देती है। इसका बहुत प्रचार है। सुशील उपन्यास उस समय लिखा गया था, जब हिन्दी मे अच्छे उपन्यासो का एक तरह से अभाव ही था और आश्चर्यजनक घटनाओ के बिना उपन्यास ही नहीं समझा जाता था। उस समय की दृष्टि से इसकी रचना अच्छे उपन्यासो मे की जा सकती है। इसके भीतर जैनधर्म के कुछ गभीर विषय डाल दिये गये है, जो एक उपन्यास मे नही चाहिये थे, फिर भी वे बड़े महत्त्व के है। इन तीन पुस्तको के सिवाय पण्डितजी ने सार्वधर्म, जैन जागरफी आदि कई छोटे-छोटे ट्रैक्ट भी लिखे थे।

चारित्रिक दृढ़ता : पण्डितजी का चरित्र बड़ा उज्ज्वल था। इस विषय मे वे पण्डित-मण्डली मे अद्वितीय थे। उन्होने अपने चरित्र से दिखला दिया था कि ससार मे व्यापार भी सत्य और अचौर्यव्रत को दृढ रख कर किया जा सकता है। पण्डितजी को कोई व्यसन नहीं था। खाने-पीने की शुद्धता पर उनका अत्यधिक ध्यान था। धर्म-कार्यो के द्वारा उन्होने अपने जीवन मे कभी एक पैसा भी नही लिया।

प्रगाढ़ श्रद्धा : जैन ग्रन्थो पर पण्डितजी की प्रगाढ श्रद्धा थी। वे अच्छे विचारक थे। यदि उनके विचारो का क्षेत्र केवल अपने ग्रन्थो की ही परिधि के भीतर केद न होता, सारे ही जेन ग्रन्थो को प्राचीन ओर अर्वाचीनो को वे केवली भगवान् की ही दिव्य-ध्वनि के सदृश न समझते होते, तो वे इस समय एक अपूर्व विचारक होते, उनकी प्रतिभा जैनधर्म पर एक अपूर्व ही प्रकाश डालती और उनके द्वारा जेन समाज का अशातीत कल्याण होता।

नि.स्वार्थ सेवा . पण्डितजी की प्रतिष्ठा ओर सफलता का सबसे बडा कारण उनकी नि स्वार्थ सेवा का या परोपकारशीलता का भाव था। एक इस गुण से वे एक समय के सबसे बड़े जैन पण्डित कहलाये। जेन समाज के लिए उन्होने अपने जीवन मे जो कुछ किया, उसका बदला कभी नहीं चाहा। जैनधर्म. की उन्नति हो, जैन सिद्धान्त के जानने वालो की सख्या बढे, केवल इसी भावना से उन्होने निरन्तर परिश्रम किया। यही कारण है कि जो बिना किसी स्थिर आमदनी के वे विद्यालय के लिए लगभग दस हजार रुपया साल की सहायता प्राप्त कर लेते थे।

कौटुम्बिक विपदाएँ : पण्डितजी को जहाँ तक हम जानते है, कुटुम्ब-सबन्धी सुख कभी प्राप्त नही हुआ। इस विषय मे हम उन्हे ग्रीस के प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात के समकक्ष समझते है।

अन्य विशेषताएँ . वे बहुत ही सीधे और भोले थे। एकाग्रता का उन्हे बहुत ही ज्यादा अभ्यास था। स्मरण-शक्ति भी उनकी विलक्षण थी। हिन्दी से उन्हे बहुत ही ज्यादा प्रेम था। उनके विद्यालय की लायब्रेरी मे हिन्दी की अच्छी-अच्छी पुस्तको का सग्रह है। पण्डितजी बड़े देशभक्त थे। 'स्वदेशी'-आन्दोलन के समय उन्होने 'जैनमित्र' के द्वारा जैन समाज मे अच्छी जागृति उत्पन्न की थी।

सक्षेप मे, पण्डितजी केवल धर्मशास्त्र की ही नही, द्रव्यानुयोग के भी अपूर्व विद्वान् थे। पचाध्यायी के पठन-पाठन का प्रचार उनके ही प्रयत्न का फल है। वे गोम्मटसार, त्रिलोकसार और पचाध्यायी के अन्तस्तलस्पर्शी विद्वान् थे। मोरेना मे महाविद्यालय की स्थापना उनकी ही अनुपम देन है। उनकी वाणी बड़ी ओजपूर्ण आगम के अनुकूल थी। पॉचो अणुव्रतो मे-से हर व्रत का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे और इन के व्रतो के प्रति सचाई ही उनमे एक ऐसा जादू बनी हुई थी, जिससे सभी उनकी ओर आकृष्ट होते थे।

वर्तमान सभी दिगम्बर जैन विद्वान् उन्हीं के शिष्य-प्रशिष्य है।

पण्डितजी का निधन चैत्र शुक्ला पचमी सवत् १९०४ के दिन ५१ वर्ष की आयु मे हो गया।

('गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ' मे स्व नाथूराम प्रेमी के 'पण्डित श्री गुरु गोपालदास बरैया · जीवन-वृत्त' से सक्षिप्त)

पं. सुखलाल संघवी

(१८८०-१९७८)

जन्म लीमली ग्राम (जिला सुरेन्द्रनगर-सौराष्ट्र) मे ८ दिस १८८० को एक स्थानकवासी जैन परिवार मे हुआ। सोलह वर्ष की अवस्था मे उनकी दोनो ऑखे भयकर चेचक मे चली गयीं। उन्होने विवाह का विचार त्याग दिया और आजीवन नेष्ठिक ब्रह्मचारी रहने का व्रत लिया।

शिक्षण एव अध्यापन उनकी वास्तविक शिक्षा उनके अन्धेपन के बाद ही शुरू हुई। अध्ययन के प्रति उनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। १८ वर्ष की आयु मे वे वाराणसी गये, वहाँ स्व महा प वामाचरन भट्टाचार्य से न्याय पढा। नव्यन्याय के अध्ययन हेतु मिथिला गये, जहाँ उन्हे महा प बालकृष्ण मिश्र जैसे नव्यन्याय के सुयोग्य गुरु मिले। नव्यन्याय के अध्ययन के पश्चात् वे चार वाराणसी लौट आये और कई वर्षो तक संस्कृत, दर्शन और साहित का अध्ययन किया। वाराणसी से वे आगरा गये , वहाँ पर उन्होने पचप्रतिक्रमण, कर्म-ग्रन्थ, योगदर्शन और योगविशिका जैसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक एव दार्शनिक ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद, विवेचन एव प्रस्तावना के साथ सपादित किया। सन् १९२२ मे महात्मा गाधी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के पुरातत्त्व मन्दिर मे वे भारतीय दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हुए। वहाँ रह कर उन्होंने सिद्धसेन दिवाकर-कृत 'सन्मति तर्क' पर लिखी अभयदेव की वृत्ति के सपादन का भगीरथ कार्य सपन्न किया। यह कृति लगभग ९०० पृष्ठो की है और उसके पूरा होने मे ८-९ वर्ष लगे ह। इस कार्य के सपन्न होने पर गाधीजी ने उन्हे एक वर्ष का विश्राम लेने की सलाह दी थी।

सन् १९३३ मे वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हुए , वहा से वे स्वेच्छा से सन् १९४४ मे सेवा-मुक्त हुए। इस अवधि मे उन्होंने सस्कृत, हिन्दी एव गुजराती मे कई ग्रन्थो का लेखन तथा सपादन किया। तत्त्वार्थसूत्र के वैशिष्ट्य को समझने के लिए उनका विवेचन तथा हिन्दी एव गुजराती अनुवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इसमे सभी शकाओ का सरल एवं सुबोध भाषा मे समाधान किया गया है। ज्ञान-बिन्दु एव प्रमाणमीमासा का प्रस्तावना के साथ सपादन कर उन्होने न्यायशास्त्र के सस्कृत ग्रन्थो को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज मे प्रकाशित पण्डितजी द्वारा सपादित जयराशि भट्ट-कृत तत्त्वोपप्लवसिंह विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योकि चार्वाक-परम्परा के इस व्यवस्थित ग्रन्थ मे भारतीय दर्शन के सभी समुदायो का खण्डन किया गया है। इसी सीरीज मे उन्होंने धर्मकीर्ति-कृत हेतुबिन्दु का अर्चट की टीका और दुर्वेक मिश्र की अनुटीका के साथ सम्पादन किया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से निवृत्त होकर पण्डितजी ने बम्बई के भारतीय विद्या-भवन को अपनी सेवाएँ अर्पित की। अन्तत सन् १९४७ मे वे अहमदाबाद आये और बी जे विद्या-भवन मे अवैतनिक प्रोफेसर के रूप मे कार्य किया। ला द भारतीय सस्कृति विद्या-मन्दिर (एल डी इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी), अहमदाबाद के वे अकादमिक सलाहकार भी थे।

सम्मान एवं उपाधियाँ · सन् १९४७ मे जैन साहित्य की उल्लेखनीय सेवा के उपलब्ध मे भावनगर की श्री यशोविजय जेन ग्रन्थमाला ने विजयधर्मसूरि जैन साहित्य स्वर्ण पदक प्रदान किया। सन् १९५६ मे राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने दार्शनिक एव आध्यात्मिक ग्रन्थो का हिन्दी मे रचना कर हिन्दी भाषा की सेवा करने के उपलक्ष्य मे रु १५०१ का महात्मा गाधी पुरस्कार प्रदान किया।

सन् १९५५ मे 'प सुखलालजी सन्मान समिति' का अहमदाबाद मे गठन हुआ। सन् १९५७ में समिति ने पण्डितजी के सन्मानार्थ तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ एस राधाकृष्णन् की अध्यक्षता मे एक सार्वजनिक समारोह का आयोजन किया। इस अवसर पर 'दर्शन और चिन्तन' नाम से उनके लेखों का सकलन गुजराती मे दो भागों मे और हिन्दी में एक भाग मे प्रकाशित किया गया। इसी समारोह मे उन्हे रु ७०,००० की थैली भी भेट की गयी। इस निधि से उन्होने ज्ञानोदय ट्रस्ट की स्थापना की।

सन् १९५९ मे साहित्य अकादमी, दिल्ली ने 'दर्शन अने चिन्तन' पर रु. ५००० का पुरस्कार प्रदान किया। सन् १९६१ में भारत के राष्ट्रपति ने सस्कृत का विशेष योग्यता प्रमाणपत्र प्रदान किया। सन् १९६३ मे 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' नाम ग्रन्थ पर गुजरात सरकार ने रु २००० का पुरस्कार दिया।

सन् १९५७ मे गुजरात विश्वविद्यालय ने, सन् १९६७ मे सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभनगर ने और सन् १९७३ में सौराष्ट्र विश्वविद्यालय ने उन्हे डी लिट् की उपाधि से सम्मानित किया।

सन् १९७४ मे भारत सरकार ने उन्हे 'पद्मभूषण' की उपाधि प्रदान की।

सन् १९७५ मे नवनालन्दा बिहार (बोद्ध अध्ययन एव शोध केन्द्र) ने उन्हे 'विद्यावारिधि' की सम्मानार्थ उपाधि से अलकृत किया।

सन् १९५१ मे १६ वे अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के लखनऊ-अधिवेशन मे वे प्राकृत एव जैनधर्म विभाग के अध्यक्ष चुने गये। सन् १९५६ मे वे भारतीय दार्शनिक सम्मेलन के अहमदाबाद-अधिवेशन मे गुजराती विभाग के अध्यक्ष चुने गये। सन् १९५८ मे गुजराती साहित्य परिषद् के अहमदाबाद-अधिवेशन मे तत्त्वज्ञान विभाग के अध्यक्ष चुने गये। सन् १९६१ में अ भा प्राच्य विद्या सम्मेलन के कश्मीर-अधिवेशन मे दर्शन एव धर्म विभाग के अध्यक्ष चुने गये।

सन् १९५५ मे गुजरात सभा, अहमदाबाद के तत्त्वावधान मे श्री पोपटलाल हेमचन्द्र अध्यात्म व्याख्यानमाला के अन्तर्गत 'अध्यात्म-विचारणा' पर उनके तीन व्याख्यान हुए। सन् १९५७ मे महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ विश्वविद्यालय, बड़ौदा के तत्त्वावधान मे सर सयाजीराव गायकवाड़ व्याख्यानमाला के अन्तर्गत 'भारतीय तत्त्वविद्या' पर पाँच व्याख्यान हुए। सन् १९५९ में बम्बई विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' पर पाँच व्याख्यान हुए।

रचनाएँ . प. सुखलालजी द्वारा सपादित, विवेचित तथा अनूदित ग्रन्थ. आत्मानुशास्तिकुलक, कर्मग्रन्थ १ से ४ दण्डक, पञ्चप्रतिक्रमण, योगदर्शन, सन्मति-तर्क, जैन दृष्टिऐ ब्रह्मचर्य विचार (गुजराती), तत्त्वार्थसूत्र, न्यायावतार, प्रमाण-मीमासा, जैन तर्क भाषा, ज्ञानबिन्दु, तत्त्वोपप्लवसिह, हेतुबिन्दु, वेदवादद्वात्रिशिका, आध्यात्मिक विकासक्रम (गुजराती), निर्ग्रन्थ संप्रदाय, चार तीर्थकर, धर्म और समाज, अध्यात्म विचारणा, भारतीय तत्त्वविद्या, दर्शन अने चिन्तन, खण्ड १,२, दर्शन और चिन्तन, समदर्शी आचार्य हरिभद्र, जैनधर्मनो प्राण (गुजराती और हिन्दी)। कुल मिलाकर उनकी २८ पुस्तके है।

(नगीन जे शाह के 'श्रमण' (अप्रैल, '७८) मे प्रकाशित लेख पर आधारित)

ब्र. पं. चन्दाबाई

(१८८९-१९७७)

जन्म · उनका जन्म आषाढ शुक्ला तृतीया वि स १९४६ (सन् १८८९) को वृन्दावन म हुआ था। पिता बाबू नारायणदासजी और माता राधिकादेवी थी। पिताजी सपन्न जमींदार, प्रतिभाशाली एव ग्रेजुएट विद्वान् थे। अपनी कर्मठता और सेवावृत्ति के कारण लोकप्रिय थे।

बालिका चन्दाबाई का विद्या-संस्कार पाँच वर्ष की अवस्था मे सपन्न हुआ गया। वैष्णव परिवार मे जन्म लेने के कारण रामायण और गीता धर्म-ग्रन्थ उनके लिए श्रद्धा और भक्ति की वस्तु बने। अध्ययन मे तत्पर और एकान्त मे चिन्तनशील इस आठ वर्ष की बालिका को देख कर हर व्यक्ति को आश्चर्य होता था। इन दिनो कन्याओ को अधिक शिक्षा देना बुरा समझा जाता था, अतएव आरम्भिक शिक्षा पाने पर ही उनका लिखना-पढ़ना समाप्त कर दिया गया।

सपन्न बन्धु के निधन से किकर्त्तव्य विमूढ हो गये। १२ वर्ष की उम्र मे बालिका चन्दाबाई का सब कुछ छिन गया, वे ठीक-ठीक जान भी न पाई ओर वेधव्य की ज्वाला मे उनका सर्वस्व भस्म हो गया।

१२ वर्ष की एक सुकुमार बालिका, जो दुनिया को देखती हे, पर समझ नहीं पाती, जो समझती हे, अपने व्याकरण से, अपने कोश से, अपनी ही लक्षण से। इतना विशाल विश्व और अकेले यात्रा का यहाँ भाग्य का अस्तित्व हे। योग्य अभिभावक मिले, पथ बना। वैष्णव की श्रद्धा का सम्बल लिये वे चली, जैनत्व की साधना ने उन्हे प्रगति दी। श्रद्धा और साधना दोनो दूर तक साथ-साथ चली। श्रद्धा समर्पणमयी है, साधना ग्रहणशील, श्रद्धा साधना मे लीन हो गयी।

चन्दाबाई का जैनदर्शन और धर्मशास्त्र का स्वाध्याय उत्तरोत्तर बढता जा रहा था। उनकी अद्‌भुत प्रतिभा और प्रखर पाण्डित्य के समक्ष बडे-बड़े विद्वान् भी मूक होने लगे। बाबू देवकुमारजी अपनी अनुज वधू की इस विद्वता से अत्यन्त प्रसन्न थे। उनकी महत्त्वाकाक्षा अपनी इस वधू को सर्वश्रेष्ठ विदुषी, समाज-सेविका और साहित्यकार बनाने की थी।

चन्दाबाई ने निश्चय किया कि सेवा के क्षेत्र मे पदार्पण कर मै अवश्य ही नारी-जाति के सान्त्वना प्रदान कर सकूँगी। इस उद्देश्य को ले कर अपनी प्रेरणा से सन् १९०७ मे आरा मे ही बाबू देवकुमारजी से एक कन्या पाठशाला स्थापना करवायी और उसकी देखरेख करने लगीं। आगे चल कर उसी कन्या पाठशाला ने जैन बाला विश्राम का बृहद् रूप कारण किया।

अ भा दिगम्बर जैन महिला परिषद् की स्थापना कर उन्होने उसके सगठन को सुदृढ़ बनाया।

बहुमुखी प्रतिभा होने के कारण वे लेखिका होने के साथ सफल पत्रकार भी थीं। सन् १९२१ मे अ भा दि जैन महिला परिषद् द्वारा सचालित 'जैन महिला दर्श' का बड़ी कुशलतापूर्वक सपादन ५२ वर्षो तक करती रही। इस पत्र की विशेषता यह रही कि इसमे स्त्रियो द्वारा लिखित रचनाऍं स्थान पाती थीं, जिसके फलस्वरूप समाज मे आज अनेक लेखिकाऍं और साहित्य-सेविकाऍं है। उनके द्वारा लिखित सपादकीय, टिप्पणियाँ, सपादिका की डाक, प्रश्नोत्तर, शका-समाधान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और मार्गदर्शक रहते थे।

मार्च, १९५४ मे अ भा जैन महिला परिषद् की ओर से उनका विशेष सम्मान किया गया था, और उनके सम्मान मे जो अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, वह राषट्रपति डॉ राजेन्द्रप्रसादजी के द्वारा उन्हे समर्पित किया गया था।

प चन्दाबाई की शिक्षित अनेको बालिकाएँ समाज मे विदुषी महिलाओ के रूप मे सम्मानित है। उनके कृतित्व और व्यक्तित्व तथा पाण्डित्य की तुलना मे समाज मे विरली महिला रही ।

ऐसी विदुषी-महिला-रत्न का निधन २८ जुलाई, १९७७ को हो गया।

(ब्र प चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, विद्वत् अभिनन्दन ग्रन्थ और जैन जागरण के अग्रदूत पर आधारित)

डॉ. हीरालाल जैन

(१८९८-१९७३)

जन्म गागई ग्राम, जि नरसिहपुर (म प्र) मे १८ सितम्बर, १८९८ को पिता - श्री बालचन्द मोदी, व्यवसायी धार्मिक वृत्ति से सपन्न परिवार।

शिक्षण : प्रारभिक शिक्षण गाडरवारा और नरसिहपुर मे, जबलपुर मे रह कर राबर्ट्स कॉलेज (वर्तमान महाकोशल महाविद्यालय) से बी ए की परीक्षा उत्तीर्ण परीक्षा मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने के कारण पारितोषिक तथा छात्रवृत्ति प्राप्त, एम ए और एल एल बी की परीक्षाएँ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी मे अध्ययन करते हुए सन् १९२२ मे उत्तीर्ण की, सस्कृत मे प्रथम स्थान के कारण शोध-छात्रवृत्ति प्राप्त।

शोध-प्रवृत्ति · वकालत या अध्यापन कार्य ? मध्यप्रदेश के सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता रा ब डॉ हीरालालजी द्वारा उन्हे अध्यापन-कार्य करने की सलाह, जो उन्हे उचित प्रतीत हुई, इस समय रा ब डॉ हीरालालजी मध्यप्रदेश और बरार के मध्यगत प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो की सूची तैयार कर रहे थे। उनकी प्रेरणा से डॉ हीरालालजी ने कारजा (विदर्भ) के विशाल जैन ग्रन्थ-भण्डारो की छानबीन करके सस्कृत और प्राकृत के प्रचुर जैन ग्रन्थो की परिचयात्मक सूची तयार की, यह सूची रा ब डो हीरालालजी के द्वारा सपादित एव प्रकाशित मध्यप्रदेश और बरार मे उपलब्ध समस्त हस्तलिखित ग्रन्थो की उस सूची के परिशिष्ट मे प्रकाशित, इसी समय उनका लेख जैन साहित्य सशोधक (त्रैमासिक) मे कहाकवि स्वयम्भू के समय-निर्णय पर प्रकाशित।

अपभ्रंश साहित्य का प्रसार : इसी समय कारंजा मे अम्बादास चवरे ग्रन्थमाला की स्थापना हुई, डॉ. पी.एल. वैद्य का सहयोग प्राप्त होने से जसहरचरिउ का सपादन उनसे करवा कर प्रकाशित करवाया (१९३१), णायकुमारचरिउ का सपादन स्वय कर १९३२ मे करवाया, दोनो ग्रन्थ उक्त ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुए। तीसरा ग्रन्थ महापुराण का मा दि जैन ग्रन्थमाला के मत्री स्व नाथूरामजी प्रेमी के सहयोग से इसी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत डॉ वैद्य द्वारा सपादित कर तीन भागो मे हुआ। चवरे ग्रन्थमाला के अन्तर्गत उनके द्वारा सपादित सावयधम्म दोहा (१९३२), पाहुड दोहा (१९३३), और करकडचरिउ (१९३४) हुए। करकडचरिउ (१९३४), णायकुमारचरिउ (१९७२) और जसहरचरिउ (१९७३) उनके द्वारा हिन्दी अनुवाद के साथ दुबारा सपादित हो कर भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित जसहरचरिउ का सपादन उन्होने रुग्णावस्था मे किया, जो मरणोपरान्त प्रकाशित हुआ। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा सपादित होकर अपभ्रश मे निम्नाकित ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुए मयण पराजय (१९६२), सुगध दसमी कथा (१९६६), सुदसणचरिउ (१९७०)। कहकोसु का प्रकाशन प्राकृत सोसायटी, अहमदाबाद ने किया।

षट्खण्डागम का प्रकाशन : डॉ. हीरालालजी और उनके मित्र स्व. जमनाप्रसादजी कलरैया (एडीशनल डिस्ट्रिक्ट जज) की प्रेरणा से स्व. सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी, भेलसा ने जैन साहित्योद्धार के लिए रु ११००० निकाले, उनके इस दान से सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धार फण्ड की स्थापना हुई। उससे आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि विरचित धवला टीका एव हिन्दी अनुवाद के साथ १६ भागो मे प्रकाशित हुआ है, इतना विशालकाय ग्रन्थ, जो रु ११००० के अल्प फण्ड से प्रकाशित हो सका, यह डॉ हीरालालजी की कर्तव्यनिष्ठ, विद्वत्ता, साहित्यिक अभिरुचि, त्यागवृत्ति और तन्मयता का द्योतक है।

विशेष उपलब्धियाँ : अमरावती से नागपुर पहुँच जाने पर सन् १९४५ मे पूर्व सपादित अपभ्रंश साहित्य के महत्त्व को आँकते हुए नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा उन्हे डी लिट् उपाधि से सम्मानित किया गया।

सन् १९४६ मे नागपुर मे उनके कुशल सयोजन मे अ भा प्राच्य विद्या परिषद् का अधिवेशन आयोजित किया गया, जिसमे स्व नाथूरामजी प्रेमी को उनकी साहित्य-सेवाओ के उपलब्ध मे अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया गया।

सोलापुर से स्व ब्र. जीवराज गौ. जी दोशी द्वारा सस्थापित सन् १९४१ 'जैन सस्कृति सरक्षक सघ' के अन्तर्गत जीवराज जैन ग्रन्थमाला और १९४४ मे स्थापित भारतीय ज्ञानपीठ के अन्तर्गत 'मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला' का जीवनपर्यन्त सपादन डॉ. आ ने उपाध्ये के साथ किया।

सन् १९५४ मे सेवा-निवृत्त हुए, इसी समय श्री जगदीशचन्द्र माथुर शिक्षा-सचिव, बिहार के सत्प्रयत्न से मुजफ्फरपुर मे 'वैशाली जैन प्राकृत विद्यापीठ' की स्थापना हुई। विशेष आग्रह पर डॉ. साहब ने पाँच वर्षो तक सचालक बड़ी कुशलतापूर्वक किया। जबलपुर आने पर जबलपुर विश्वविद्यालय के अधिकारियो के आग्रहवश उसमे सस्कृत, पालि और प्राकृत विभाग के अध्यक्ष रह कर सन् १९६९ तक सेवा की। उनकी सहधर्मिणी का निधन सन् १९३८ मे हो गया था। तत्पश्चात् स्वास्थ्य के अनुकूल न रहने से अपने सुपुत्र श्री प्रफुल्लकुमार मोदी जहाँ भी रहे, वहीं उन्हीं के पास रहे।

मध्यप्रदश शासन साहित्य परिषद् के आमत्रण को स्वीकार डॉ हीरालालजी ने भोपाल ७ से १० मार्च १९६० को जैनधर्म का उद्‌भव और विकास, जैन साहित्य, जैन दर्शन, जैन इतिहास और सस्कृति, जैन वास्तु, मूर्ति चित्रकला पर जो सारगर्भित भाषण दिए थे, वे 'भारतीय सस्कृति को जनधर्म की देन' शीर्षक ग्रन्थ मे सकलित है, जो १९६२ मे परिषद् द्वारा प्रकाशित किया गया था और इस उच्चकोटि के ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण सन् १९७५ मे हुआ है।

उन्होने स्वय व प्रेरणा देकर लगभग तीस ग्रन्थो का सृजन किया। उनका निधन १३ मार्च, १९७३ को हुआ।

(तुलसी प्रज्ञा स्मृति विशेषाक, अप्रैल-जून १९७६ पर आधारित)

डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

(१९०६-१९७५)

जन्म एवं शिक्षा उनका जन्म ६ फरवरी १९०६ को बेलगाव जिले के अन्तर्गत सदलगा ग्राम (कर्नाटक) मे एक कृषक उपाध्याय-परिवार मे हुआ। उनका शिक्षण सदलगा, बेलगाव, कोल्हापुर और सागली मे सपन्न हुआ। उनके गुरु डा उपाध्ये का ध्यान अर्धमागधी की ओर हुआ। सन् १९३० मे उन्होने प्रमुख विषय अर्धमागधी और गौण विषय सस्कृत लेकर एम ए की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। सन् १९३३ मे राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर मे प्राध्यापक नियुक्त हुए। इस पद पर प्रतिष्ठित रह कर उन्होने लगभग ३० वर्ष तक सेवा की।

सन् १९४१ मे स्व जीवराज गौ दोशी द्वारा सस्थापित जैन सस्कृति सरक्षक सघ के अन्तर्गत जीवराज जैन ग्रन्थमाला तथा साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा १९४४ मे स्थापित भारतीय ज्ञानपीठ के अन्तर्गत मूर्तिदेवी जेन ग्रन्थमाला के वे प्रारम्भ से ही स्व डॉ हीरालालजी के साथ अन्त तक सपादक रहे। दोनो ने मिल कर जैन वाङ्मयकी महती सेवा की। ग्रन्थराज धवला के १६ भागो का सपादन दोनो ने किया। दोनो अनवरत सहयोगी बने रहे।

सन् १९४१ मे हैदराबाद मे सपन्न अखिल भारतीय प्राच्य विद्या-परिषद् के अधिवेशन मे वे प्राकृत और जैनधर्म विभाग के अध्यक्ष रहे।

सन् १९६६ मे अलीगढ मे सपन्न अ भा प्राच्य विद्या-परिषद् के अधिवेशन के वे अध्यक्ष रहे।

भारत सरकार के प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य के रूप मे कॅनबरा और पेरिस जाकर विश्व प्राच्य विद्या सशोधन परिषद् मे सम्मिलित हुए।

सन् १९६७ मे वे कन्नड़ साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष हुए।

सन् १९७४ मे वे धर्म और विश्व शान्ति परिषद् मे सम्मिलित होने के लिए बेल्जियम गये।

वे सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र ग्रन्थमाला, विदिशा, वैशाली इन्स्टीट्यूट, मुजफ्फपुर (बिहार), विश्वेश्वरानन्द वेदी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पजाब, प्राकृत ट्रैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, ओरियटल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा से सम्बद्ध रहे। वे गया, पूना, नागपुर विश्वविद्यालयो के बोर्ड ऑफ स्टडीज के सम्मानित सदस्य भी रहे।

वे सस्कृत-प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओ के अन्तर्राष्टीय ख्याति के विद्वान् थे। उनकी साहित्यिक सेवाओ के उपलक्ष्य मे १५ अगस्त, १९७५ को तत्कालीन राष्ट्रपतिजी ने उन्हे प्रशस्तिपत्र प्रदान कर सम्मानित किया था।

उन्होने जैन विद्या तथा भारतीय सस्कृति-सबन्धी तथा सस्कृत-प्राकृत भाषा विषयक अध्ययन-अनुसधानपरक लगभग १०० लेख और २५ से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सशोधन-सपादन किया। उनके द्वारा सपादित ग्रन्थ विशेषकर शोधपूर्ण प्रस्तावनाएँ देश-विदेश के जैन विद्या के अभ्यासियो के लिए आदर्श और उपयुक्त सिद्ध हुई।

वे २५०० वे वीरनिर्वाण-महोत्सव के निमित्त केन्द्रीय एव प्रान्तीय समितियो की साहित्य-सबन्धी अनेक योजनाओ के मार्गदर्शक तथा सलाहकार थे।

उन्हे मैसूर विश्वविद्यालय ने दो हजार रु के १९७३ के स्वर्ण जयन्ती पुरस्कार से उनकी जैनाचार्य सिद्धसेन से सबन्धित कृति के लिए पुरस्कृत किया था।

मैसूर विश्वविद्यालय मे साहू जैन चेयर इन जेनालॉजी (जैन विद्यापीठ) के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर के पद का कार्यभार उन्होने १ जनवरी, १९७१ को ग्रहण किया था। उनकी कार्यावधि मे इस विभाग ने उल्लेखनीय प्रगति की, वे अन्त तक इस पद पर रहे।

सपादित ग्रन्थ पचसूत्र, प्रवचनसार, परमात्म प्रकाश, वराग चरित, कसवहो, बृहत् कथाकोश, धूर्ताख्यान, लीलावती, आणद सुन्दरी, उसाणिरुद्ध, कुवलयमाला, चन्द्रलेखा, सिगार मजरी, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, प्रभाचन्द्र विरचित कथाकोश, न्यायावतार।

इनके अतिरिक्त जीवराज जेन ग्रन्थमाला, सोलापुर से प्रकाशित निम्न ग्रन्थो का सपादन स्व डो हीरालालजी के सहयोग से किया, वे ग्रन्थ ह तिलोयपणत्ती भाग १, २ जम्बूदीवपण्णत्ति सगहो, पद्मान्दि-पचविंशति, आत्मानुशासन पुण्य।

डॉ उपाध्ये के व्यक्ति मे प्राच्य एव पाश्चात्य विद्वान् का एक अद्भुत सम्मिश्रण था। उन्होने जैन साहित्य और सस्कृति के विकास तथा पुनरुद्धार के लिए जो कार्य किया, वह न कवल जैन समाज के इतिहास मे, वल्कि भारतीय इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे अंकित किये जाने योग्य है।

(तुलसी प्रज्ञा, अप्रैल-जून १९७६ और विद्वत् अभिनन्दन ग्रन्थ पर आधारित)

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य

(१९२२-१९७४)

जन्म वायरपुर ग्राम (राजस्थान) मे १६ सितम्बर, १९२२, पिता- श्री [illegible] सिंह माता-श्रीमती जावित्रीबाई, डेढ वर्ष की अवस्था मे ही पिताजी का निधन, [illegible] माता और नाना के सरक्षण मे पालन-पोषण।

(हिन्दी १९५८), एम ए (प्राकृत, स्वर्ण पदक १९५९), पी एच-डी (भागलपुर विश्वविद्यालय से १९६२ मे 'हरिभद्र के कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन)', डी लिट् (मगध विश्वविद्यालय से १९६७ में 'सस्कृत-काव्य के विकास मे जैन कवियो का योगदान)'।

इस प्रकार १९३७ से ६८ तक लगातार ३० वर्ष सतत ज्ञानार्जन मे निरत रहे और तीव्र गति से समग्र शैक्षणिक उपलब्धियाँ अर्जित करने मे सफल हुए। प्रत्येक परीक्षा मे प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी मे उत्तीर्ण होते गये।

साहित्य-सृजन और पुरस्कार-प्राप्ति . भारतीय ज्योतिष (उ प्र सरकार द्वारा रु ११००), आदिपुराण में प्रतिपादित भारत (उ प्र सरकार द्वारा रु ५००) सस्कृत-गीति काव्यानुचिन्तनम् (उ प्र सरकार द्वारा रु ११००, इसी पर वृषभदे संगीत पुरस्कार, श्रमण संघ, दिल्ली द्वारा रु २५००), सस्कृत-काव्य के विकास मे जैन कवियों का योगदान (उ प्र सरकार द्वारा रु ५००)।

अन्य प्रकाशित रचनाएँ : स्नातक-सस्कृत-व्याकरण, चन्द्र सस्कृत-व्याकरण, हेमशब्दानुशासन एक अध्ययन (व्याकरण शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन), अभिनव प्राकृत-व्याकरण, प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, हरिभद्र के प्राकृत-कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, हिन्दी जैन साहित्य-परिशीलन, णमोकार मत्र एक अनुचिन्तन, भाग्यफल, प्राकृत-प्रबोध, सस्कृत-प्रबोध, पुराने घाट नयी सीढियाँ, भास (मोनोग्राफ), पण्डित गोपालदास बरैया सक्षिप्त झाँकी, आचार्य जुगलकिशोर व्यक्तित्व और कृतित्व, विश्वशान्ति और जैन धर्म, तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा चार खण्डो मे (मरणोपरान्त प्रकाशन, २ फरवरी, ७५ को विमोचित)।

संपादन-अनुवाद - व्रत तिथि निर्णय, केवलज्ञान प्रश्न चूडामणि, भद्रबाहु - सहिता, मुहूर्त्तर्पण, रिट्ठसमुच्चय, रत्नाकर शतक, धर्मामृत लोकविजय यत्र, अलंकार - चिन्तामणि, रघुवश (द्वितीय सर्ग), कुमारसम्भवम् (पचम सर्ग) पाइम पज्ज-संग्रहो पटमो भागो, पाइय गज्ज-सगहो, पढमा भागो, पाइया पज्ज सगहो वीमो भागो, बरैया स्मृति ग्रन्थ, प्रोसीडिग्ज ऑफ स्कॉलर्स इन प्राकृत एण्ड पालि एट मगध युनिवर्सिटी, बोधगया (१९७१)।

पत्र-संपादन मागधम् (सस्कृत), जैन सिद्धान्त भास्कर (हिन्दी), जैन एटीक्वारी (अंग्रेजी), भारतीय जेन साहित्य परिवेशन।

ग्रन्थ संपादन (मुद्रण मे) युगो-युगो मे जैनधर्म।

अपूर्ण अधूरे ग्रन्थ महाकवि कालिदास की उपमान-याजना, वाक्य गठन वृत्ति विचार, अर्थ मीमासा-सिद्धान्त आर विनिमय, महाकवि वाण के शत शब्द, सस्कृत ऐतिहासिक नाटको का विवेचनात्मक अनुशीलन, जेन दर्शन, सस्कृत कवियो का जीवन-दर्शन, समराइचकहा (सपादन), चन्द्रान्मीलन प्रश्न (सपादन)।

कार्य-क्षेत्र . आरम्भ मे रात्रि पाठशाला, आरा (बिहार) मे अध्यापन-कार्य, जन बाला विश्राम मे प्रधानाध्यापक पद पर, जेन सिद्धान्त भवन, आरा के पुस्तकालयाध्यक्ष के रूप मे, शासकीय सस्कृत विद्यालय, सुल्तानगज मे ज्योतिष का अध्यापन, एच डी जैन कालज में कार्य।

सस्था-सबन्ध मानद निदेशक-देवकुमार जेन प्राच्य विद्या शोध-सस्थान, उपाध्यक्ष-अखिल भारतीय दि जैन विद्वत्परिषद, सयुक्त मत्री-श्री गणेश वर्णी दि जेन सस्थान, ट्रस्टी-वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, सदस्य-प्रबन्धकारिणी स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, मानद सदस्य-अहिसा, प्राकृत आर जैन विद्या शोध सस्थान वशाली (बिहार), बिहार प्रान्तीय दि जेन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, उज्जैन (म प्र) मे सपन्न अ भा प्राच्य विद्या सम्मेलन के २६ वे अधिवेशन मे प्राकृत आर जैन विद्या विभाग के अध्यक्ष।

सक्षेप म, वे न केवल साहित्य-साधक मनीषी थे, अपितु समाज-सेवक एव लोकसेवक भी थे। उनकी सेवाऐं एवं प्रवृत्तियाँ बहुमुखी थीं। उनका समग्र जीवन लोकसेवा एव सास्कृतिक पवृत्तियो मे सदेव ओतप्रोत रहा। एक दर्जन से अधिक छात्रो को विभिन्न जेन अथवा अन्य विषयो मे पी एच डी कराया और उसके लिए सदा उद्यत रहे। वे छात्रो और अध्यापकों के परमहितैषी एव कल्पतरु थे।

१० जनवरी, १९७४ को आकस्मिक निधन के समय उनके परिवार मे वृद्धा माता, [illegible] पत्नी, एकमात्र सुपुत्र श्री नलिनकुमार थे।

पण्डित : शब्दों की सार्थकता

- पण्डित को लेकर शब्दो की एक पॉत-की-पॉत खड़ी होती है। इसकी नाना विवक्षओ को व्यक्त करने के लिए कम-से-कम ३० समानार्थक शब्द सस्कृत-हिन्दी मे है। ये है - शास्त्रज्ञ, विद्वान्, विपश्चित्, दोषज्ञ, सुधी, कोविद, बुध, धीर, मनीषी, ज्ञ, प्राज्ञ, सख्यावान्, कवि, धीमान्, सूरि, कृती, कृष्टि, लब्धवर्ण, विचक्षण, दूरदर्शी, दीर्घदर्शी, विशारद, कवी, विदग्ध, दूरदृक्, वेदी, वृद्ध, बुद्ध, सबुद्ध, विधानज्ञ, प्रज्ञिल। इतने सारे शब्द पण्डित के व्यक्तित्व को परिभाषित करने के लिए प्रयुक्त है। इनके अलग-अलग अर्थों से पता चलता है कि पण्डित को अपने दोष जानना चाहिये, सुदूर तक देखना चाहिये, धीरजवान् होना चाहिये, वर्ण-वर्ण का पारखी होना चाहिये, इत्यादि। इस तरह पण्डित शब्द के साथ चरित्र के उदात्त/श्रेष्ठ गुण सयुक्त है।

- आज भी जैन समाज मे ऐसे पण्डित हे, जिनका जीवन, जगत् और ज्ञान यकर्ता है और जो ज्ञान ओर आचरण दोनो के माध्यम से समाज को दिशा-दृष्टि दे सकते हे। आज हमे ऐसे ही पण्डित वर्ग की आवश्यकता हे जो उपस्थित सदर्भो मे हमे दिशाबोध दे सके ओर जीवन को अथवा शास्त्र को जीवन से जोड़ सके।

- डॉ. नेमीचन्द जैन

प्रमुख दिवंगत जैन पण्डित/विद्वान् डॉ नेमीचन्द जैन, सपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन, प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र) मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर -४५२००९ (म प्र); टाइपसैटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म प्र), प्रथम सस्करण मार्च, १९९८, मूल्य चार रुपये।

महात्मा गांधी और संत विनोबा

महात्मा गांधी का ध्यान अन्तिम आदमी पर था; उन्होंने अपनी जिन्दगी का एक-एक पल उस आदमी की खुशहाली के लिए न्योछावर कर दिया। सन्त विनोबा ने भी उस उत्तराधिकार को निभाया।

-डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

गांधी और विनोबा पैदल चले

अन्तिम आदमी चलता है पॉव–पैदल, महावीर और बुद्ध, गाध
और विनोबा पैदल चले, क्योकि आत्मीयताएँ, स्वाभाविकताएँ औ
शालीनताएँ पैदल चलती है। उन्होने पैदल चल कर भारत की अन्तरात्म
के भीतर झॉक कर उस आदमी को देखा जो अन्तिम छोर पर है औ
जिसे कोई भी तन्त्र अपनी कामयाबी की आधारशिला बना सकता है
यह आदमी न तो गरीब है और न मोहताज, न अमीर है, न दम्भी है, य
आदमी है, यही उसकी विशेषता है। यह लोकतन्त्र का जन है, जो अजर-
अमर है, और बीज–रूप मे विषमतम स्थितियो मे भी जीवित है। इसर्क
जय महावीर की जय है, बुद्ध की जय है, गाधी की जय है, विनोबा की जर
है और सदियो से प्रगति की ओर पग उठाये भारत की जय है।

महात्मा गांधी और संत विनोबा : डॉ. नेमीचन्द जैन; सपादन **प्रेमचन्द जैन © हीर
भैया प्रकाशन;** प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ , पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर - ४५२००१,** (म.प्र.) मुद्रण **नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९** (म प्र),
टाइप सैटिंग **प्रतीति टाइपोग्राफिक्स, इन्दौर - ४५२००१** (म प्र), प्रथम संस्करण
नवम्बर, १९९७ ; मूल्य **पाँच रुपये।**

अगामी सौ साल

२ अक्टूबर १९६९ से २ अक्टूबर १९७० तक सारा देश, सारे अन्तर्देश प्रात स्मरणीय महात्मा गाँधी की जन्म-शताब्दी मनायेगे (मनाई हे)।

नि सन्देह समवेत् श्रद्धाञ्जलि का यह आयोजन अभिनव, सुखद, मगलप्रद और अविस्मरणीय है।

किन्तु यह श्रद्धाञ्जलि समवेत् भले ही हो अविकृत और सम्पूर्ण नही है, क्योकि अञ्जलि के पोरो मे दरार है और इसीलिए जल के चुक जाने की आशङ्का है -

क्योंकि चारो ओर युयुत्सा का नग्न ताण्डव है और खण्डित मनुष्य कलुष और विकार को [illegible] सम्यक् व्यक्तित्व मान रहा है -

क्योंकि नये मनुष्य को जन्म देने के लिए उत्कण्ठित कोई अनछूई, उन्मन असूर्यम्पश्य किरण [illegible] के क्षितिज पर उगना चाहती है, किन्तु वह है निपट विवश, विपन्न, विकल और भय-[illegible]। क्योंकि यही किरण किसी गाँधी-प्रतिमा के अनावरण से टँक गई है, क्योंकि यही किरण [illegible] गाँधी-स्मृति की उथली नीव मे उलझ कर व्यथित है,

क्योंकि इसी किरण को किसी विश्व विद्यालय के गाँधी-भवन की छत के नीचे रोमन लिपि [illegible] भाषा मे राष्ट्रीयता के नवपाठ के लिए गिरफ्त मे लिया जा रहा है ,

इस किरण के धुँधलके में एक सवाल बार-बार आ खडा होता है कि अन्तर्विरोधो और विडम्बनाओ के बीच हाँफती-लडखडाती मानवता के आनेवाले सौ साल कैसे होगे ? २ अक्टूबर १९६९ का उष.काल और १ अक्टूबर २०६९ की सान्ध्य-बेला का मध्यान्तर कैसा होगा ? वह दूसरी सौ मजली इमारत कैसी होगी ? क्या उसका सच्चा शिलान्यास इसी शताब्दी-वर्ष मे होने को है ? एक सुरम्य स्वप्न आँखो मे बार-बार उलझ पड़ता है । देखना है, यथार्थ काल-पुरुष की तूलिका से कैसा रूपायित होता है ? यथार्थ से हम चिढे भले ही, और कितना ही कष्टप्रद क्यो न हो वह, किन्तु हम उसे अयथार्थ नही कर सकते।

'४८ से '६९ (अब '९७) को गाँधी की अनुपस्थिति मे गाँधी-चिन्ताधारा के समीक्षण और पर्यवलोकन का काल माना जाएगा। देखना यह है कि जो तथ्य हमारे पगो को उठने नही देते, जो प्रश्न बार-बार हमारी अन्तश्चेतना से टकरा-टकरा कर लौट आते है, क्या उन्हें आगे और टाला जा सकता है ? क्या गाँधी-चिन्तन के पुनर्मूल्याङ्कन से हम इस बोझ को कम कर पाने मे सफल हो सकेगे ? क्या हम गाँधी-जीवन की यथ्यान्वेषिणी वृत्ति को छोड कर केवल मट्ठे मे ही दूध का स्वाद लेने के दिग्भ्रम के शिकार नही हो गये है ? क्या हमारा जीवन स्वार्थपरता की बेडियो मे जकड गया है ? क्या हम इसी तरह 'स्व-हिताय' अपने त्याग-बलिदान की कीमते वसूल करने मे ही अपनी रचनात्मक शक्ति को क्षीण नही कर रहे है ? बडी विडम्बना है कि हम एक खौफनाक असन्तुलन मे-से उत्कृष्ट सन्तुलन की स्थिति को प्रमाणित करना चाहते है, विषमताओ मे-से भी भ्रान्त समरसता का प्रदर्शन करना चाहते है । खण्डित मनुष्य को अखण्ड बनाने की बात तो स्वप्न रही, हम उसे इस तरह ध्वस्त कर देना चाहते है कि फिर उसे कभी जोड पाना सम्भव ही न हो। हमने मनुष्यता की मूर्ति को एक नादान बच्चे के खिलौने की तरह छिन्न-भिन्न, चूर-चूर कर दिया है जिसके टुकडे अब यत्नपूर्वक भी नही जुड पायेगे। मनुष्य की एक समग्र, अखण्ड, अक्षत प्रतिमा उत्तरोत्तर स्वप्न हुई जा रही है और हम मुखौटो पर जूझ रहे है।

गाँधी के समस्त यत्न एक अखण्ड मानव की रचना मे लगे रहे। उसने सस्कृति, समाज, इतिहास, प्रागैतिहास, भूगोल, खगोल सबको कराहते देखा और क्षणभर मे उन सबको एक मानवीय सवेदना और करुणा से अभिसिञ्चित कर दिया।

उसने अन्त्यज के गिरे मन को उत्साहित किया, उसने युग-युगो से सत्रस्त निराश्रिता-उपेक्षिता नारी को नये सिरे से परिभाषित किया, उसने अनवरत गुलाम बन रहे हिन्दुस्तानी को राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की वर्णमाला पढाई, उसने स्थितियो को नवार्थ दिये और दुनिया को एक निर्बन्ध-मुक्त मानवता के दर्शन कराये।

स्फुट विचार

श्रीमद् राजचन्द्रजी और गाँधीजी

गाँधीजी ने लिखा था : "मैने प्रत्येक धर्म के आचार्य से मिलने का प्रयत्न किया है परन्तु जो प्रभाव मेरे ऊपर राजचन्द्रभाई ने डाला है वह कोई नही डाल सका। उनके बहुत से वचन मुझमे सीधे अन्दर उतर जाते थे। उनकी बुद्धि के लिए मुझे मान था, उनकी प्रामाणिकता के लिए भी वैसा ही था।" इस तरह श्रीमद् राजचन्द्रजी के पुण्य-स्पर्श ने गाँधीजी के मनोजगत् की रचना की।

गाँधीजी की आत्मकथा

तीन पुस्तके ऐसी है, जिन्हे मै गत कई सालो से हर साल पढता रहा हूँ। ये है १. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा (मो. क गाँधी), २. रमण महर्षि एवं आत्मज्ञान का मार्ग, ३ विवेकानन्द। इन किताबों ने मेरे जीवन को नखशिख माँजा है, मुझे निर्वैर रखा है और मुझे लोकोपकार के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान की है। मै अपने अन्तिम वर्ष तक इन्हे साल-मे-एक-बार पढ़ने के लिए प्रतिबद्ध हूँ।

मैने गाँधीजी की आत्मकथा को जब-जब पढा है, तब-तब मै यह सोचता रहा हूँ कि यदि आज का राजनीतिज्ञ, समाजसेवी, साधु-सन्त, या कोई भी इसे पढता है तो मेरा विश्वास है कि देश की तस्वीर बदल सकती है। गाँधीजी आज जितने प्रासंगिक है, उतने वे अपने समय मे भी नही थे।

अहिंसा–का–राजनीति–में–सफलतम–प्रयोग

महात्मा गाँधी ने बीसवी सदी मे अहिसा-का-राजनीति-में-सफलतम-प्रयोग किया। अहिंसा के व्यक्ति-गुण होने के बावजूद गाँधीजी ने इसे सामाजिक सरचना के एक मौलिक तत्त्व के रूप मे लिया और इसे एक महान् शक्ति के रूप मे प्रवर्तित किया। उनका कहना था कि जब हिसा का कोई हथियार हो सकता है तो अहिसा का भी हो सकता है। हिसा असत्य और अलगाव के रास्ते चलती है तो अहिसा सत्य और समन्वय के रास्ते चल कर इस पराजित करती है।

'सत्य का सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिंसा के बिना असंभव है'

गांधीजी ने अहिंसा और सत्य के बड़े जीवन्त प्रयोग किये है। उन्होंने सत्य और अहिंसा को भिन्न-भिन्न के रूप मे कभी नही देखा। उन्होंने इन्हे एकमेक देखा। अपनी आत्मकथा के अन्त म उन्होंने लिखा है- 'सत्य मे भिन्न कोई परमेश्वर है, ऐसा मैने कभी अनुभव नही किया। ... कि सत्यमय बनने का एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है, तो मै अपने प्रयत्न को ... समझता हूँ।' वे लिखते है- 'हजारो सूर्यों को इकट्ठा करने मे भी जिस सत्य-रूपी सूर्य के तेज ... नही निकल सकता, सत्य की मेरी झाँकी ऐसे सूर्य की केवल एक किरण के दर्शन के ... है। आज तक के प्रयोगो के अन्त मे मै इतना अवश्य कह सकता हूँ कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन- अहिंसा के बिना असंभव है।'

'अहिंसा विनम्रता की पराकाष्ठा'

अहिंसा के बारे मे उनका निष्कर्ष है कि 'मनुष्य जब तक स्वेच्छा से अपने को सबसे नीचे ... तब तक उसे मुक्ति नही मिलती। अहिंसा विनम्रता की पराकाष्ठा है और यह अनुभव ... है कि इस नम्रता के बिना मुक्ति कभी मिल नही सकती।'

अहिंसा : अपराजिता–शक्ति

... बुद्ध/वर्धमान महावीर ने अहिंसा के सूक्ष्मतर विज्ञान को विकसित किया और उसकी ... 'अपराजिता-शक्ति' को न सिर्फ शब्दो मे पेश किया अपितु जीवन मे-से सारे विश्व के ... प्रकट किया। ... गांधीजी और विनोबाजी ने भी इन्ही पदचिह्नो पर चल कर ... जीवन मे उतार कर लोक जीवन मे प्रतिष्ठित किया और बताया कि यह कोई ... शक्ति नही है, अपितु एक ऐसी अचूक/अविचल/अमर शक्ति है जो ... को ... मे बदल सकती है।

... सामुदायिक जीवन मे प्रयोग

ब्रह्मचर्य : अन्तर्मुख शक्ति

ब्रह्मचर्य शरीर की अन्तर्मुख शक्ति है। महात्मा गाँधी ने लिखा है . 'ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण इन्द्रि के संयम का नाम है। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय है मन, वचन और कर्म का हर समय और हर स्थान सम्पूर्ण इन्द्रियो का सयम'। वे लिखते है 'ब्रह्मचर्य केवल मशीनवत् कुँवारापन नही है। ब्रह्म... का अर्थ है सारी इन्द्रियो का पूर्ण सयम और मन, वचन और कर्म से काम-लिप्सा से मुक्ति तभी तो यह आत्मज्ञान का राजसी मार्ग है।' अन्यत्र उन्होने कहा है 'आदर्श ब्रह्मचारी को भोग-विलास अथवा सन्तानोत्पत्ति की इच्छाओ से भिडना नही पडता। ये तो उसे कभी सताती ही नही। उसके लिए तो सारी वसुधा ही कुटुम्ब होती है। उसकी सारी आकांक्षाएँ मनुष्य-जाति के क्लेश से छुटकारा दिलाने मे ही केन्द्रीभूत रहती है।' गाँधीजी ने ब्रह्मचर्य-प्राप्ति के चार-चरण सुझाये है. १. ब्रह्मचर्य की आवश्यकता का अनुभव, २ इन्द्रियो का क्रमश संयम, ३ पवित्र साथी, पवित्र मित्र और पवित्र पुस्तके, ४. प्रार्थना।

ब्रह्मचर्य के परिपालन मे गाँधीजी ने जीभ को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। वे लिखते है 'जो अपनी जिह्वा अपने कब्जे मे रख सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्य सुगम हो जाता है।'

गाँधीजी ने ब्रह्मचर्य की महिमा-गरिमा का वर्णन करते हुए अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि 'ब्रह्मचर्य मे शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मरक्षण है।' उन्होने इसे 'असिधाराव्रत' निरूपित किया है। वर्ष १९०६ से १९४८ तक उन्होने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। उन्होने कडोम-जैसे किसी क्रूर/बर्बर/हिसक साधन की कल्पना भी नही की थी। उनके हिसाब से 'ब्रह्मचर्य मन, वचन, काय से समस्त इन्द्रियो का संयम है।' क्या हम राष्ट्रपिता के जीवन से प्रस्फुरित इस सदेश को भारत के रंग-रेशे में घोल कर इसे एक संपुष्ट, शक्तिशाली, समृद्ध और सस्कारवान् राष्ट्र बनाने का प्रयत्न-पुरुषार्थ नही करेगे ?

ब्रह्मचर्य जहाँ एक ओर सामाजिक मर्यादा का संयोजक तत्त्व है, वही दूसरी ओर वह नारी-गौरव मे वृद्धि करने वाला एक प्रमुख आधार भी है, किन्तु जबसे पश्चिमी जीवन-शैली ने भारतीय जीवन-शैली पर अपना असंयत वासनोन्मुख पजा रोपा है, उसके तमाम नैतिक मूल्य तहस-नहस हो गये हैं। भारतीय स्वतन्त्रता के इस अर्द्धशताब्दी वर्ष मे हम नैतिक जीवन-मूल्यो की रक्षा करने की अपेक्षा उन्हे छिन्न-भिन्न और ध्वस्त करने पर आमादा है। 'कंडोम-संस्कृति' ने तो भारतीय लोकजीवन की सयम-संरचना को जो चुनौती दी है, यदि वक्त रहते हमने उसका ठीक से मुकाबला नही किया और मन्दिर-मसजिद की नकली लडाई जूझने रहे तो भारत का नैतिक नक्शा पूरी तरह लडखडा कर धराशायी हो जाएगा।

परिग्रह का समाधान : अनासक्त भाव

आखिर क्या समाधान है इस परिग्रह का, जो जड है तमाम रोगो की ? एक ही मार्ग है। हम माने कि यह हमारा नही है। हमारे लिए यह साधन मात्र है जिसका हमे बडे अननुरक्त/अनासक्त

... दूसरों के लिए छोड़ते हुए- उपयोग करना है। छोडना है उन लोगो के लिए जिन्हे इसके ... उतना ही ... है जितना हमे है। क्या हम सग्रह की भावना को ताला-ए-ताक रख कर ... नहीं कर सकते ? क्या 'हम पेट समाता लेय' वाली सूक्ति पर ध्यान नहीं दे ... ध्यान गाँधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त की ओर नहीं जा सकता ? इस तरह कुछ ... है ? मै तो मात्र इसकी देख-भाल के लिए नियुक्त हूँ। जितनी आवश्यकता ... है, उस-से मुझे उतना ही लेना है, शेष का मालिक तो यह समाज है यह जगत् है।

अपरिग्रह : ट्रस्टीशिप का पर्याय

अपरिग्रह ट्रस्टीशिप का पर्याय शब्द है। हम माने कि जो हमारे इर्द-गिर्द है वह सब अमानत ... अनासक्त उपभोग करना है। समर्पण और त्याग की भावना से किया गया उपभोग ... और अपरिग्रह की परिधि मे आता है। अपरिग्रह मे प्रथम शर्त अहिंसा है, यह कि हम ... किन्तु इस तरह कि किसी का जी न दुखे, किसी को क्लेश न हो। सब को सुख-शान्ति सुलभ ... और हम भी आत्मोत्थान के मार्ग मे बने रहे, उसे दूसरे के लिए प्रशस्त करे- इस भावना से जो ... किया जाएगा / किया जाता है, वह सब अपरिग्रह है।

अपरिग्रह : ममत्व पर प्रहार

'गाँधीजी इन्दौर में' पुस्तिका

महात्मा गाँधी की १९१८ एव १९३५ मे इन्दौर की दो ऐतिहासिक यात्राओ पर हिन्दी मे प्रकाशित लगभग पचास पृष्ठीय पुस्तिका का संपादन मैंने सन् १९६९ मे किया था। इसका विमोचन इन्दौर मे गाँधीजी की पौत्री सुश्री मनुबहत गाँधी ने २३ अप्रैल, १९६९ को किया था। गाँधी शताब्दी-कार्यक्रम के अन्तर्गत इसका प्रकाशन केन्द्रीय गाँधी स्मारक निधि के सहयोग से म भा हिन्दी साहित्य समिति ने किया था। अ भा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आठवे वार्षिक महाधिवेशन के सभापति महात्मा गाँधी ने इन्दौर मे २८ मार्च, १९१८ मे स्पष्ट किया था कि भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जन-समूह सहज ही समझ ले । इसी प्रकार अ भा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चौबीसवे अधिवेशन के अवसर पर इन्दौर मे २० अप्रैल, १९३५ मे अपने भाषण मे 'पहले हिन्दी विश्वविद्यालय' बनाने का आवाहन किया था।

गाँधीजी युग-पुरुष

गाँधीजी युग-पुरुष थे अत स्वभावतया उन्होंने समसामयिक समस्याओं के नाना प्रश्नो पर अपने विचार प्रकट किये है, वे इतने अधिक है कि उनको चुन कर संकलित करना एक दुष्कर कार्य ही है।

संकलन के एक साथ दो लाभ हैं एक संकलिक उद्धरणो के माध्यम से गाँधीजी की एक वैचारिक प्रतिमा अपनी समग्रता मे उपस्थित हो जाती है, दूसरे, उनके द्वारा तत्कालीन भारत का एक सम्पूर्ण चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है।

गाँधीजी का उपयोग अण्डों के प्रचार में; राष्ट्रीय चरित्र को स्वच्छ, अहिंसक, सत्यनिष्ठ और प्रामाणिक बनाने में नहीं

इंडियन पौल्ट्री इंडस्ट्री इअर बुक १९८६   इंडियन पौल्ट्री इंडस्ट्री इअर बुक १९९४

इन दिनों हमारे राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा रास्ता भटक कर कुछ उल्टी ही बहने लगी है। अब हम अपने महापुरुषों का उपयोग श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों की स्थापना और प्रचार में न कर अपने व्यापारिक स्वार्थों को पूरा करने में करने लगे हैं। १९९४ की वार्षिकी [illegible] प्रकाशित हुई है, जिनके क्रमश छठे एव दसवे पृष्ठों पर गाँधीजी की एक लघु [illegible] 'की टू हेल्थ' (आरोग्य की कुञ्जी) के पृष्ठ ६ और ७ से उन लाइनों को सन्दर्भ में [illegible] गया है, जिनमें गाँधीजी ने आज से लगभग आधी सदी पूर्व (२ सितम्बर [illegible]) निर्जीव अण्डों के बारे में अपने विचार रखे हैं। 'खुराक' वाले पूरे भाग में उन्होंने [illegible] और मांसाहार की तुलना करते हुए शाकाहार को श्रेष्ठ बताया है। दूध को उन्होंने [illegible] की श्रेणी में लिया है। ध्यान रहे, यूरोप में ऐसे लोग हैं जो दूध को मांसाहार [illegible]। भारतीय धर्मों में भी इस समस्या पर विचार हुआ है, किन्तु उनमें बछड़े के लिए [illegible]-छोड़-कर' प्राप्त दूध को मातृत्वभाव से ग्रहण करने की स्वीकृति दी है। माँ-जैसे दूध [illegible], [illegible]/उस अहिंसक शैली में हम अपने पशुओं से दूध लें।

[illegible] के संपादक का ध्यान शुद्ध धन्धे पर है, इन तथ्यों पर शायद नहीं है कि गाँधीजी ने [illegible] अहिंसा के असाधारण प्रयोग किये थे और जन-जीवन को प्रामाणिकता और स्वच्छता की [illegible] था। ताज्जुब, आज जबकि हमारे सामने भ्रष्टाचार और मिलावट-जैसी समस्याएँ [illegible] रही हैं, गाँधीजी का सचित्र उपयोग हम अण्डों के प्रचार-प्रसार में कर रहे हैं, [illegible] ऊपर उठाने में नहीं॥

शब्द-शिल्पी विनोबा

विनोबाजी समाज-शिल्पी ही नही, शब्द-शिल्पी भी है। 'शिल्प' शब्द सस्कृत की 'शील्' धातु मे-से विकसित शब्द है, जिसका सीधा-सादा अर्थ है: 'ध्यान करना, अर्चन करना, साधना करना, पूजा करना'। शब्द की व्युत्पत्ति मे ही यह स्वाभाविक अनुगूँज है कि विनोबा शब्द-प्रयोग पर ध्यान रखते है, उसकी सामाजिक और वैयक्तिक भगिमाओ मे कमोवेश करते है, उसके अर्थ की विलक्षण, किन्तु सन्तुलित साधना करते है। वे शब्दो के पारखी है और अभिनव अर्थों के अन्वेषक। उनके सम्मुख शब्द को अपनी डायरी या गोपनीय दस्तावेज नि संकोच पढ देने होने है, दाई से भला पेट कही छिपता है ? शब्द विनोबा के समीप दिगम्बर है, वे उसे तरह-तरह के रंग-बिरंगे, गंभीर-विनोदी परिधानो से युक्त करने की कला मे कुशल है।

विनोबाजी के लिए शब्द एक सामाजिक ऊर्जा है। वे शब्द को परम्परा मे उगा दिखाकर भी कालातीत होने की दुर्धर्ष प्रतिभा रखते है। अतीत की समाधि में-से उद्ग्रीव शब्द उनके लिए रूढ़ियो का नही, जीर्ण-जर्जर अनुवंशो का नही, गलित-दलित वातावरणो का नही, अपितु क्रान्ति का वाहक बनकर आता है। उनका शब्द सविनय विद्रोही है। शब्दो को, शब्दो मे सन्निहित शक्ति को मनुष्य के मंगल मे किस तरह जोता जा सकता है यह शिल्प, यह कौशल विनोबा मे विपुल है।

शब्द के सम्बन्ध मे विनोबाजी की मान्यताएँ बहुत स्पष्ट हैं, देखिए (१) 'हमारे पास शब्द है, तो पुरानी कल्पनाओ की जरूरत नही। शब्द न होते तो दिक्कत आती, प्रगति मे बाधा पडती। शब्द होने के कारण ही प्रगति मे बाधा नही, किन्तु जब हम शब्द का प्रयोग ग्रंथ के आधार पर करते है तो उसका अर्थ सीमित हो जाता है। ऐसा कभी न करें। ये शब्द हमारी मिलकियत है। इन्हे हम अर्थ देते है। ये शब्द हमारी स्वतंत्रता को काटते नहीं, मदद करते हैं।' - तत्त्वबोध पृ० ४।

(२) 'नए शब्द गढने पडते है ऐसी बात नहीं। दो शब्दो से मिलकर समस्त पद बनता है। समास भले ही नया वनाया गया हो, पर शब्द पुराने ही होगे। विज्ञान की बात अलग है। वहाँ तो नए शब्द गढने पडते है, क्योकि वहाँ पदार्थ नए ही होते है, किन्तु मानसिक सृष्टि मे हमारे पास

३. हमने एक नया शब्द बनाया है, 'सत्य-ग्राही'। 'सत्याग्रही' बनने से पहले हम 'सत्य-ग्राही' बनना चाहिए। - तत्त्वबोध, पृ० ७६।

४ अल्प ज्ञान रातों की चीज है, वैसे ही अल्प विज्ञान रातों की चीज है।- तत्त्वबोध, पृ० ९१

रेखांकित शब्दो पर ध्यान दीजिये।

सत विनोबा शब्द की बहुविध विवक्षाओ (अर्थगत भेदो) का ध्यान रखते है और अन्तर दिखाकर श्रोता या पाठक को विषय की गहराइयो मे उतार ले जाते है। देखिए. - तत्त्वबोध, पृ० ४१ **प्रेम, स्नेह;** पृ० ५५ **'आत्मा की आवाज'** अहम , पृ० ६१ **क्रोध, कोप, क्षोभ,** पृ० १६१ **ज्ञान, ध्यान,** पृ० १२८ **शुभ-अशुभ,** - तत्त्वबोध. पृ० ११३. **धन, द्रव्य।**

उन्होने भारतीय सस्कृति की विराट् भावना को भी शब्दो के माध्यम से व्यक्त किया है. उदाहरणार्थ-साहित्यिको से, पृ० ५६

पृथ्वी-फैली हुई. **धरा**-धारण करने वाली, **गर्वी**-भारी, **उर्वी** -व्यापक. **क्षमा**-सहन करने वाली- एक ही पृथ्वी के लिए पचासो शब्द है। अग्रेजी मे एक शब्द 'अर्थ' है।

शब्द-व्युत्पत्तियाँ देकर भी वे नए विचारो को सुगाय और क्रांतदर्शी बनाते है यथा तत्त्वबोध, पृ० ११३, **धन, द्रव्य।** 'स्थित-प्रज्ञदर्शन' और 'उपनिषदो का अध्ययन' ऐसे उदाहरणो से भरपूर कृतियाँ है।

अग्रेजो के समानार्थी शब्दो के प्रयोग मे भी विनोबा सतर्क रहे है, यथा-**शक्यता** (पॉसीबिलीटी). **संभावना** (प्रोबेबिलीटी), **गर्भित** (पोटेंशियल). **विधायक** (पाजोटिव्ह) -तत्त्वबोध, पृ० ३५, ४२।

इस तरह हमने बहुत सक्षेप मे यह देखा कि विनोबा न केवल शब्द-शिल्पी है, वे शब्दार्थ-विज्ञानी भी है।

विनोबा : एक मृत्युंजयी व्यक्तित्व

सत विनोबा ने 'गीता' के वर्ण-वर्ण को उसकी सपूर्ण लय मे जी कर जगत् के सामने रख दिया। पहले उन्होने 'गीता' को रग-रेशे मे समझा, उसकी गहराइयो मे वे उतरे. उसकी सूक्ष्मताओ को उन्होने जाना, फिर आगे बढे; जब तक जाना नही बोले नहीं, जब जाना तब बोले तो भाषा ही दूसरी थी, श्वास की भाषा मे बोलने लगे वे। गीता को जीने लगे; रोम-रोम को दीप बनाकर उसमे से जगत् को रोशनी देने लगे। वास्तव मे जीवन की वर्णलिपि बिलकुल अलहदा है, वहाँ ससीम (फाइनाइट) असीम (इनफाइनाइट) को अर्थ प्रदान करता है, उसे विभूषित करता है। विनोबा ने ससीम मे-से असीम को जाना और ससीम-देह-को धन्य किया। देह मे-से विदेह तक अपनी पहुँच उन्होंने बनायी, ऐसे विकल क्षणो मे जब कि लोगो के आध्यात्मिक विश्वास, उनकी आस्थाएँ खण्डित हो चुकी थी।

भारत मे अस्थि-मांस-मज्जा महत्त्व के कभी रहे नहीं। मास-मज्जा मे जो निवास करता है, उस क्षुद्र को जो गौरवान्वित करता है, सार्थक करता है, महत्त्व सदैव उसका रहा है। हड्डियो का मकॉ सबके पास है, किन्तु कितने ऐसे है कि जो उसके जीर्ण-शीर्ण होते, उसकी सीमाओ का अनुमान पाकर उसे खाली कर देते है (अक्सर तो उन्हे निकाला ही जाता है) खाली करना तो दूर की बात है, ज्यादातर लोग तो जिसकी नीव बिलकुल खिसक गई है ऐसे मकान की दीवारो का पलस्तर करवाते है ताकि भ्रम बना रहे। विनोबा निर्भ्रम/ निर्द्वन्द्व पुरुष थे। उनके भीतर पार्थिवताएँ बहुत स्पष्ट थी, रोशनी से भी अधिक। वे अहिसा के जीवन्त विग्रह थे, उनके जीवन को ठीक-ठीक समझना इस आपाधापी मे मुश्किल ही नही लगभग असंभव है।

सन् १९५१, १९५४, १९५७, १९७०, १९७२, १९७४, १९८२ के वर्षों मे हुए उनके जीवन-परिवर्तनो का ही यदि हम समीचीन विश्लेषण करे तो एक सम्पूर्ण मानव की परिकल्पना हम कर सकते है। सम्पूर्णता को प्राय आदर्श माना गया है। क्योकि उसकी चच तो होती है, उपलब्धि दुष्कर/दुस्साध्य है। उसका आद्भुत्य यह है कि उसे प्राप्त करना कठिन है, वह ही प्राप्त करे तो ही शायद उस तक पहुँच सम्भव है। प्रश्न सम्पूर्णता की डगर पर पाँव रखने का भी है; क्योकि प्राय लोग अपूर्णता को ही सम्पूर्णता मान कर गफलत मे एक आध्यात्मिक यात्रा पर निकल जाते है। देखा गया है, इतिहास साक्षी है, कि अ-विचलिताएँ ही सम्पूर्णताओ को जन्म देती है। विचलनो मे-से अपूर्णताएँ जनमती है और दृढताओ/ स्थितप्रज्ञताओं मे-से परिपूर्णताएँ हमने देखा है कि एक छोटा-सा विचलन जीवन-भर की कमाई को मटियामेट/तहस-नहस कर देता है।

धूलिया-जेल (१९३० ई) मे 'गीता-प्रवचन' का जन्म हुआ। साने गुरुजी ने उसे लिपिबद्ध किया। १९३० के गर्भ मे १९८२ पहले से पडा हुआ था। 'गीता-प्रवचन' मे-से सत विनोबा को 'जेल मे जेल' की पहचान हुई। राजनीतिक जेल मे-से कायिक जेल को इबारत मिली। इस असली जेल का अनुमान लोगों को मिलता ही कब है ? अन्तर्मुख हुए बिना स्वानुभूति/निजानुभूति कहे निजतानुभूति असम्भव है। आज तो बहिर्वती जेले ही हमारे चारो ओर इतनी है कि हम एक पल को भी अन्तर्मुख नही हो सकते। आहार, विहार, निहार, पहिनाव, खरीद, स्वाध्याय, पठन, पाठन तमाम सामाजिक जेले हमारे ओर है। क्या हम वह खा पाते है, जो हम खाना चाहते है ? हमे जो खाने को दिया जाता है वही खाते है, जो कपडा बाजार मे पहिनने को उपलब्ध है, वही पहिनते है, जो प्रकाशक/छापाखाने पढने को देते है, वही पढते है। खेत की खाद और मिल के तागे पर हमारा कोई नियत्रण नही है, वहाँ हमारी कोई अपनी इच्छा भी नही है। अखबार या किताब किसी पर तो हमारा नियत्रण नही है। क्या हम एक साथ बहुत सारी जेलो मे नहीं रह रहे है ?

डॉ. नेमीचन्द जैन/डॉ. करुणाकर त्रिवेदी

देह विसर्जित करना विनोबा का

डॉ. नेमीचन्द जैन : स्वस्थ विनोबाजी और अस्वस्थ विनोबीजी- दोनो मे आपको क्या फर्क लगा ? चिन्तनात्मक फर्क लगा हो, तो बताइये।

डॉ. करुणाकर त्रिवेदी : मुझे उन्हे लम्बे समय तक बार-बार स्वस्थ और अस्वस्थ- दोनो रूपो मे देखने का अवसर मिला है। साथ ही मैने उनके बारे मे पढा है, सुना भी है, सामान्यतः जो रैशनालीटी (युक्तिसंगत व्यावहारिकता) उनमे नजर आती थी, वही 'रैशनल अप्रोच' बीमार विनोबाजी मे भी था, ऐसा मेरा अनुभव है।

ने. : आम तौर पर आदमी जरा-सी बीमारी मे शिकायत करने लगता है, उसमे रोग को सहन करने की शक्ति कम होती है। इस दृष्टि से आप ने विनोवाजी मे क्या फर्क पाया ?

क. : वे तटस्थ वृत्ति से रोग को देखते थे।

ने. : रोग ओर शरीर-दोनो को वे तटस्थ वृत्ति से देखते थे ?

क. : जी हाँ। इसलिए रोग न सहन करने का सवाल कभी उठा ही नही। तकलीफ होने पर भी वे अत्यन्त तटस्थ वृत्ति मे बता देते थे कि पेट दर्द कर रहा है या कुछ खाँसी हे या गला दुखता है। कभी-कभी जब उनका मन निश्चित नहीं कर पाया था कि मुख्य तकलीफ क्या है, तो वे दो-तीन बार हाथ से गला, पेट, पीठ आदि को टटोल कर (पल्पेट) तय करते थे कि किस चीज मे दुखती है। कुल मिला कर वे तकलीफ का बयान जरूर करते थे, लेकिन उसके कारण वे बहुत परेशान है, ऐसी स्थिति कभी देखने मे नहीं आयी।

डॉ. जाजू जो हमारे यहाँ काम करते है, गये। उन्होने आ कर बताया। दूसरे दिन सुबह फोन आया कि आज बाबा को थोडा बुखार है। तो पाँच तारीख से बुखार के सिलसिले मे हम उन्हे नियमित रूप से देखने जाते थे। पहले दिन से ही उन्होने उपचार लेना स्वीकार किया था। छह तारीख की रात्रि मे उन्हे हार्ट अटैक (हृदयाघात) आया। उसके बाद भी दो दिनो तक उन्होने दवाएँ ली और उनका स्वास्थ्य संतोषजनक रूप से सुधरा। आठ तारीख को शाम छह बजे उन्होने जो आहार लिया, वह करीब-करीब पूरा था, 'नार्मल' था, तो वे लेते थे और दस बजे रात्रि से उन्होंने औषधि-आहार लेना बन्द कर दिया।

ने.: आप उनसे इस संकल्प के पहले मिले या बाद मे ?

क. : संकल्प के पहले से ही हम उनका इलाज कर रहे थे और रात्रि के दस बजे जब उन्होंने मना किया। तब ऐसा लगा कि उन्हे गले मे दर्द होगा या तकलीफ हुई होगी, इसलिए पानी पीना नही चाहते हैं। फिर दूसरे दिन सबेरे ६-६ ॥ बजे हम उन्हे देखने गये, तो उन लोगो ने सूचना दी कि बाबा ने रात मे कुछ भी नहीं लिया है। उस वक्त हम ने उनसे (विनोबाजी) पूछा भी कि आप अभी कुछ लेना चाहते है या बाद मे लेगे ? इस पर उन्होने मना किया। उस दिन ख्याल था कि शायद तकलीफ के कारण ही बाबा कुछ लेना नही चाहते है, तो इसलिए हमने बहुत आग्रह बार-बार नही किया। और उस दिन शाम को यह करीब-करीब तय हो गया कि उन्होने निर्णय ले लिया है कि वे कुछ भी नहीं लेगे। तो फिर हमने लिख कर पूछा कि आप नस से ग्लूकोज लेना चाहेगे ? इसके लिए भी उन्होने मना किया। इस ख्याल से कि स्वास्थ्य ठीक करने के लिए वे उपवास कर रहे हो, उपवास के कारण स्थिति बहुत कमजोर हो जाए, उस स्थिति मे क्या कर सकते है, इसलिए मैंने यह भी पूछा कि आपकी स्थिति बहुत कमजोर हो जाए, तो ग्लूकोज या कुछ उपचार कर सकते है ? उसके लिए भी उन्होंने मना कर दिया।

ने. : मना करने का मलतब क्या ? हाथ से संकेत करते थे या लिख कर देते थे ?

क. : हाथ के संकेत से, जयदेवभाई उन्हें लिख कर देते थे कि डॉक्टर ऐसा बोलते हैं और वे हाथ का इशारा करके मना कर देते थे। जब दो बार उन्होने मना किया, तो करीब-करीब तय हो गया कि वे कुछ भी नहीं लेगे। उसके बाद प्राय सभी लोगो ने कई बार आग्रह किये नौ और दस तारीख को, और उसके बाद लगातार।

ने. : क्या आपने कोई आग्रह किया ?

क. : जी हाँ। हम लोगो ने आग्रह किया। नौ तारीख के सुबह ही किया, इसके लिए मना कर दिया, जिसका हमने रिकार्ड रखा था।

ने. : मना करने का प्रकार वही संकेत ?

क. : जी हाँ। हाथ से संकेत।

क. : मेरा तो ख्याल है कि काया मे जो हो रहा थो, सहज हो रहा था, जिन चीजो पर उनका नियत्रण नही था, उन्ही के कारण परेशानी मालूम होती थी। वैसे जहाँ तक मन का सवाल है, वे पूरी तरह से संयत थे और जो निश्चयात्मकता उस निर्णय के कारण उनके मन मे आ गयी थी, उससे मै मानता हूँ कि उनमे बडी दृढता थी।

ने. : इसकी सूचना आपको शरीर से कैसे मिलती थी ?

क. : शरीर से भी मिलती थी। एक तो जब उनके जीवन-मानक (व्हाइटल साइन्स) जैसे रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) बहुत घट गया, पेशाब की मात्रा भी कम हो गयी, हृदय की गति अनियमित जैसी हो गयी, तब उस तरह की हालत मे भी जिस तरह के कष्ट या लक्षणो की हम अपेक्षा रखते है, वे हमे नजर नही आये , यह जो विसगति थी, जो क्लिनिकल पिक्चर (शारीरिक लाक्षणिक अभिव्यक्ति) और बाबा का व्यवहार/बर्ताव मे, उससे सब लोग अचम्भित थे। सभी डॉक्टर सोचते थे कि इतना हो जाने के बाद भी, इन तमाम लक्षणो के बावजूद हम सब घटित नही हो रहा है, जो होना चाहिए या होता है, तो क्या कहा जाए ? और मरीजो मे जब ये लक्षण दीख पडते हैं, तो वे ·

ने. : और मरीज क्या करने लगते है ?

क. : ऐसी स्थिति मे अधिकांश मरीज खास करके जब पेशाब की मात्रा इतनी कम हो जाती है, रक्तचाप घट-बढ करने लगता है, इतने दिन भूखे, बिना पानी के रहते है, तब उन्हें बहुत जल्द बेहोशी या मूर्च्छा आ जाती है, लेकिन अन्तिम दिन तक बाबा होश मे रहे और सात दिन निराहार रहने के बाद भी उनकी पेशाब मे 'एसिटोन' नही पाया गया। हम लोगो ने शुरू मे अपने उपकरण पर सन्देह किया और कई प्रकार से जाँच की, लेकिन अन्त तक पेशाब मे 'एसिटोन' प्रकट नही हुआ। इसी तरह कुछ ही समय मे ऐसी स्थिति आ जाती है कि लोगो को पहचानना करीब-करीब बन्द हो जाता है और ऐच्छिक क्रियाएँ कम हो जाती हैं। किसी विशिष्ट कार्य के लिए जो शारीरिक क्रिया होती है, ऐसे अवसर पर असम्बद्ध रूप से होने लगती है।

ने. : चेतना और क्रिया असम्बद्ध हो जाते है ?

क. : जी हाँ, लेकिन ऐसा उनकी स्थिति मे नही हुआ।

ने. : वे बिल्कुल सजग/सचेत बने रहे।

क. : वे पूरी तरह सजग बन रहे। अन्तिम दिन जिस दिन सुबह उनकी मृत्यु हुई, मृत्यु के करीब एक-सवा घण्टे पहले तक वे पहचानते रहे। निर्णायात्मक सकेत देते रहे। मृत्यु के सवा घण्टे पहले उनकी फ्रेंच शिष्या (ऋता) उनसे मिली और पानी लेना का आग्रह किया, तब बाबा ने हाथ से पानी न लेना का संकेत किया और अपने लिए ऊपर की ओर जाने का सकेत किया।

अ + उ + म् इन तीनो मात्राओ का ॐकार मे समावेश होता हे, फिर भी ॐकार मे कुछ-न-कु
ज्यादा अर्थ गृहीत हे, इसीलिए ॐ की साढे तीन मात्राएँ मानी जाती हे। यह आधी मात्र अ
तीनो मात्राओ से अधिक योग्यता की होने के कारण, जान पडता हे, उस पर उन तीनो मात्राओ
कुछ भी मात्रा (वश) नही चलती।''

उन्होने समझाया है . '' अ, उ, म् का वास्तविक अर्थ कुछ भी नही है। ये तो वर्णमाला
वर्ण है। लेकिन जब 'अ' का अर्थ पृथ्वी, वाक् इत्यादि किया जाता है, तब 'अ' अक्षर के स्थ
पर पृथ्वी अथवा वाणी की मूर्ति है, इस प्रकार से ध्यान की मानसिक क्रिया करके भावना की जा
है। ऐसी स्थिति मे जब तीन मात्राओ की जगह, तीन भावनाएँ रखते है, तब ऐसा नहीं होता कि
तीन मात्राओ के योग पर यानी ॐकार पर, पहले की तीन भावनाओ के योग की भावना की ज
चाहिये। तीन मात्राओ पर पहले ध्यान-भावना करके फिर जोड करना और तीन मात्राओ का प
जोड करके फिर ध्यान-भावना करना, इन दोनो मे बहुत फर्क है।''

अपने प्रेरक समापन मे उन्होने लिखा है 'अ' का ध्यान करोगे तो पृथ्वी के प्रभु बनोगे,
का ध्यान करोगे तो अन्तरिक्ष के अधिकारी बनोगे, 'म्' का ध्यान करोगे तो स्वर्ग के स्वामी बनोगे
और तीनो का अलग-अलग ध्यान करोगे तो जगत् के विजेता बनोगे, लेकिन जगत् के विजेता
होने पर भी जगदीश हाथ मे नही आयेगा। जगदीश को प्राप्त करने के लिए तीन मात्राओ का योग
कर ॐकार का ध्यान करना होगा। इस 'योग'-सामर्थ्य से आधी मात्रा और बढ जाती है और तब
जग=जगदीश का समीकरण हल होता है।''

ॐकार की तीन मात्राएँ : दमन, दान, दया

उनका यह रूपक कितना सार्थक है ''काम, क्रोध और लोभ चूँकि सभी मनुष्यो मे
सामान्यत· जाति-सुलभ दोष है इसलिए ॐकार की तीन मात्राओ के (इन्द्रिय) दमन, दान
(अथवा पदार्थ-बुद्धि) और दया से तीन अर्थ स्वीकार करने मे कुछ भी हर्ज नही होना चाहिये।
'ॐकार' से जहाँ इन्द्रिय-दमन का ग्रीष्म दहकने लगा कि हिसा करवाने वाला काम झुलस जाएगा
और आत्मा का 'न घातयति' वाला निष्काम-स्वरूप प्रकट होगा, 'ॐ कार' से दया-वृत्ति का
जाडा चमका कि हिसा करने वाला क्रोध ठिठुर जाएगा और आत्मा को 'न हन्ति' वाला निर्वैर-
स्वरूप दिखायी देने लगेगा और 'म्' कार से दान-बुद्धि की वर्षा जहाँ शुरू हुई कि हिसा के वश
होने वाला लोभ धुल जाएगा और आत्मा को 'न हन्यते' वाले निर्लोभ-स्वरूप का अनुभव
होगा। दमन, दया और दान ॐकार की इन तीन मात्राओ की नैष्ठिक उपासना करने पर आचार्यों
की भाषा मे हिसा का कर्तृत्व, हिसा का कर्मत्व और हिसक हेतु कर्तृत्व (यानी प्रेरकत्व) तीनो उड
जाएँगे और आधी-मात्रा से परिपूर्ण 'शान्त आत्मा' प्रतीत होगा।

पैग़म्बर मुहम्मद

पैगम्बर मुहम्मद एक लघुकाय पुस्तिका है, जिसका प्रमुख उद्देश्य हजरत मुहम्मद के जीवन के उज्ज्वल/शुभ पक्ष को ऐसे समय जनता-जनार्दन के सामने रखना है जबकि भाईचारा और सद्भाव घटा है, अन्धकार और अन्याय फैले है और आदमी ने, आदमी के रूप मे पहचानने/समझने से पूरी तरह इकार कर दिया है। सब जानते है पैगम्बर मुहम्मद ने जुल्मो, अन्धविश्वासो और अज्ञानताओ का अहिसक मुकाबला किया था, मानवता के भव्य ललाट को एकता, सद्भाव, सहयोग और आत्मीयता के तिलक से अलकृत किया था।

प्रस्तुत पुस्तिका का यह तृतीय सस्करण है, जो अपने आपमे महत्त्वपूर्ण है, विश्वास है इसके बीज आज या कल नहीं, समय की धरती मे कभी-न-कभी अवश्य अँकुरायेगे और हम सबकी झोली सद्भावनाओ से झमाझम भर देगे।

- डॉ. नेमीचन्द जैन

पैगम्बर मुहम्मद : डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशक हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र) मुद्रक नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९ (म प्र); टाइप सैटिंग प्रतीति टाइपोग्राफिक्स, इन्दौर - ४५२००१ (म प्र.), तृतीय सस्करण नवम्बर, १९९७; मूल्य चार रुपये।

खून-खच्चर और हा-हाकार का वातावरण

अरब में चारो ओर खून-खच्चर और हा-हाकार का वातावरण वना हुआ था। मासूम बच्चियो को जिन्दा गाढ दिया जाता था। अपने वाप की औरतो पर उसके लडके का ज़र ओर जमीन की तरह हक होता था और वह उसे मीरास की तरह उपभोग के लिए मिल गाया करती थी। जीवन मे भोग-विलास (नफ़्स-परस्ती) को ऊँचा मान लिया गया था। जनता का दृष्टिकोण नितान्त भौतिकवादी बना गया था। शराबखोरी, जिनहखोरी, जुआ, सूदखोरी और डकैती खुले आम होती थीं और उनकी बहादुरी पर बेशुमार गीत लिखे जाते थे, कविता की जाती थी। काव्य भी अपनी ऊँची जवाबदारी से गिर गया था। सारे देश की चेतना एक पिंजरे मे तडप रहे पंछी की तरह जगखोर ताकतो की कैद मे आखिरी सॉस लेने लगी थी। अरब के राजकुमार कवि अमीर उलहक ने अपनी चाची की लडकी से किये गये भोग-विलास का वर्णन बडे फख्र के साथ किया था। ... और यही भोग-विलास की, जिन्दगी को बहुत नीचा करने वाली कविता काबा की दीवारो पर सार्वजनिक प्रचार के लिए टॉगी गयी थी।

ख़ुदा के रसूल : बेहद रहम दिल

वहशत के इस जमाने मे पैगम्बर मुहम्मद न सूरज की किरण देखी। कौन जानता था, खुदा ने दुनिया को रोशनी देने के लिए मुहम्मद की शक्ल मे जबर्दस्त मशाल भेजी है। पैग़म्बर मुहम्मद का जन्म अरब के खास शहर मक्का मे २२ अप्रैल ५७१ ई. को हुआ। उनके पिता अब्दुल्ला, जो कि कुरेशी खानदान के थे, उनकी पैदायश के पहले ही वहिशत जा चुके थे। मुहम्मद की माता उन्हे छह बरस का छोडकर ही स्वर्गधाम चली गयी थी। आठ साल की उम्र मे मुहम्मद के पितामह की मृत्यु भी हो गयी। अब वे बिल्कुल अकेले छूट गये, फिर भी उन्होने काँटो की गोद मे पलकर इन्सानियत के फूल बाँटे और जिन्होने उनके साथ वहशत और बेरहमी का वर्ताव किया उनकी राह मे पॅखुडिवाँ बिछार्यी। वे खुदा के रसूल थे, सबको बराबरी की नजर से देखने वाले, बेहद रहमदिल। बालिग होने तक उनकी परवरिश उनके चाचा 'अबू-तालीब' ने की।

दस बरस की उम्र मे मुहम्मद भेड-बकरियाँ चराया करते थे। किसे विश्वास था कि एक यतीम गडरिया आगे चलकर दुनिया को रोशनी की राह दिखायेगा, जुल्मो के खिलाफ ज़र्बदस्त बगावत करेगा, और अरब-जैसे रेगिस्तान मे नखलिस्तान की बहार पैदा करेगा !!

'पाक ख़दीजा'

चौदह वर्ष की उम्र में वे एक तिजारती कारवॉ के साथ सीरिया गये। कुछ सालो बाद 'कुरैशी' और 'वनी-कैस' खानदानो मे 'हारबुल-फिजर' की जंग छिड गयी। पैगम्बर ने धर्म के नाम पर हुए इन निरीह रक्तपात (मासूम खूँरेज़ी) को देखा। उनकी रूह काँप उठी। इस घटना ने उनके दिमाग पर गहरा असर डाला और इस वात का ध्यान रखते हुए कि गरीब को इन्साफ मिले और वेसहारा न सताये जाएँ उन्होने 'हिल-फुल-फजूल' नामक मशहूर समझौता किया, जिसके

खून-खच्चर और हा-हाकार का वातावरण

अरब मे चारो ओर खून-खच्चर और हा-हाकार का वातावरण बना हुआ था। मासू
बच्चियो को जिन्दा गाढ दिया जाता था। अपने बाप की औरतो पर उसके लडके का ः
ओर जमीन की तरह हक होता था और वह उसे मीरास की तरह उपभोग के लिए मिल गा
करती थी। जीवन में भोग-विलास (नफ़्स-परस्ती) को ऊँचा मान लिया गया था। जनता
दृष्टिकोण नितान्त भौतिकवादी बना गया था। शराबखोरी, जिनहखोरी, जुआ, सूदखोरी अ
डकैती खुले आम होती थीं और उनकी बहादुरी पर बेशुमार गीत लिखे जाते थे, कविता की ज
थी। काव्य भी अपनी ऊँची जवाबदारी से गिर गया था। सारे देश की चेतना एक पिंजरे मे
रहे पछी की तरह जगखोर ताकतो की क़ैद मे आखिरी साँस लेने लगी थी। अरब के राज
कवि अमीर उलहक ने अपनी चाची की लडकी से किये गये भोग-विलास का वर्णन बडे फ
साथ किया था। ˙˙ और यही भोग-विलास की, जिन्दगी को बहुत नीचा करने वाली व
काबा की दीवारो पर सार्वजनिक प्रचार के लिए टाँगी गयी थी।

खुदा के रसूल : बेहद रहम दिल

वहशत के इस जमाने मे पैगम्बर मुहम्मद न सूरज की किरण देखी। कौन जानत
खुदा ने दुनिया को रोशनी देने के लिए मुहम्मद की शक्ल मे जबर्दस्त मशाल भेज
पैगम्बर मुहम्मद का जन्म अरब के खास शहर मक्का मे २२ अप्रैल ५७१ ई को हुआ।
पिता अब्दुल्ला, जो कि कुरेशी खानदान के थे, उनकी पैदायश के पहले ही वहिश
चुके थे। मुहम्मद की माता उन्हे छह बरस का छोडकर ही स्वर्गधाम चली गयी थी।
साल की उम्र मे मुहम्मद के पितामह की मृत्यु भी हो गयी। अब वे बिल्कुल अकेल
गये, फिर भी उन्होने काँटो की गोद मे पलकर इन्सानियत के फूल बाँटे और जिन्होंने
साथ वहशत और बेरहमी का वर्ताव किया उनकी राह मे पँखुडियाँ बिछायीं। वे खु
रसूल थे, सबको बराबरी की नजर से देखने वाले, बेहद रहमदिल। बालिग होने तक :
परवरिश उनके चाचा 'अबू-तालीब' ने की।

दस बरस की उम्र मे मुहम्मद भेड-बकरियाँ चराया करते थे। किसे विश्वास था वि
यतीम गडरिया आगे चलकर दुनिया को रोशनी की राह दिखायेगा, जुल्मो के खिलाफ ज़बरदस्
बगावत करेगा, और अरब-जैसे रेगिस्तान मे नखलिस्तान की बहार पैदा करेगा॥

'पाक ख़दीजा'

चौदह वर्ष की उम्र में वे एक तिजारती कारवाँ के साथ सीरिया गये। कुछ सालो बाद
'कुरैशी' और 'बनी-कैस' खानदानो मे 'हरबुल-फिजर' की जग छिड गयी। पैगम्बर ने धर्म के
नाम पर हुए इन निर्दोष रक्तपात (मासूम ख़ूँरेज़ी) को देखा। उनकी रूह काँप उठी। इस घटना ने
उनके दिमाग पर गहरा असर डाला और इस बात का ध्यान रखते हुए कि गरीब को इन्साफ मिल
और बेगुनाह न सताये जाएँ उन्होंने 'हिल-फुल-फजूल' नामक मशहूर समझोता किया, जिसके

अनुसार यह तय किया गया कि सब मिल कर जनता मे अमनो-अमान कायम करेगे, और कमज़ोर, गरीब, और मजलूमो की हिफाजत करेगे। बालिग होने पर पैगम्बर ने अपने पुरखो के पेशे को अपनाया और एक सौदागर की तरह अपनी ज़िन्दगी बिताने लगे। उनकी नेकनीयत, ईमानदारी और विश्वास ने खदीज़ा नाम की एक धनवान् औरत का ध्यान उनकी ओर खीचा। खदीज़ा का व्यापार बहुत बढा-चढा था। वह एक ऊँचे खानदान की औरत थी। खदीजा ने मुहम्मद को नौकरी पर रख लिया और सीरिया मे अपने व्यापार की सारी जवाबदारी उनके कन्धो पर डाल दी। उनकी ईमानदारी की साख खदीज़ा पर इस कदर जमी कि वह उन्हे दुगुना तनख्वाह देने को तैयार हो गयी। पैग़म्बर की बदौलत उसके व्यापार मे बरकत होने लगी। मुहम्मद की सीरिया-यात्रा बडी फायदेमन्द-साबित हुई। ख़लीजा ने जिस फायदे की उम्मीद की थी उससे कई गुना ज्यादा फायदा उसे मुहम्मद की नेक-मशा और सचाई से हुआ। उस पर पैग़म्बर की कर्तव्य-निष्ठा (फर्ज-अदाई) की बडा असर हुआ। ख़लीजा धनी होते हुए भी एक नेक औरत थी। अपने ऊँचे दर्ज़े के बर्ताव और पवित्र जीवन के कारण उसे अक्सर सभी 'पाक ख़दीजा' कह कर पुकारते थे। वे दो बार बेवा हुई। अरब के कई सरदार उनके साथ शादी करना चाहते थे, पर कोई भी अपने ऊँचे चाल-चलन से उनके हृदय पर विजय प्राप्त नही कर सका। मुहम्मद के अख्लाक़ (उत्कृष्ट चरित्र) का ख़दीजा पर इतना गहरा असर हुआ कि उसने बखुशी उनसे शादी करने का पक्का इरादा कर लिया। अनमेल होने पर भी यह शादी समृद्धि और सुख की प्रतीक बनी। अरब मे यह बहुविवाह का जमाना था। औरतो की दागीनो की तरह खुले मे खरीद-फरोख्त होती थी, किन्तु पैग़म्बर ने खलीजा के साथ अपनी ज़िन्दगी के पूरे पच्चीस बरस बिताये और जीवन-भर कभी दूसरी शादी का खयाल ही नहीं किया। खदीजा से शादी होने के पन्द्रह साल बाद मुहम्मद ने 'पैग़म्बर' होने का ऐलान किया। ख़लीजा के अलावा मुहम्मद के जीवन को भीतर से समझना किसी के लिए आसान नही था। भला वह उस समय क्या जवाब देती जब उससे कहा गया कि 'मुहम्मद खुदा के रसूल है ?' वह तो उन्हे रग-रग और रेशे-रेशे से पहचानती थी इसलिए वह खामोश रही। मुहम्मद महान् थे। हुदैजा ने सबसे पहले उनमे ईश्वर की छाँव देखी। मुहम्मद मे खुदा के नूर की झलक उसे अकस्मात् ही नही बल्कि उनके अख्लाक (ऊँचे चरित्र), सचाई, नेक-नीयती और पाक ज़िन्दगी - के आईने मे मिली। हुदैजा अन्धविश्वासिनी नारी नही थी, उसने मुहम्मद मे खूब परख कर विश्वास किया था। मुहम्मद खुदा के रसूल थे।

'हजरे अस्वद'

शादी के कुछ बरसो बाद एक घटना हुई, जिससे जनता को मुहम्मद के दरियादिल और नेक मन की झाँकी मिली। अब जनता उन्हे अपने हितैषी के रूप मे पहिचानने लगी। उसे अपनी मझधार मे पडी नाव के लिए एक मुस्तैद और हर-दिल-अजीज़ मल्लाह मिल गया था। कुरैश ने काबा का पुनर्निर्माण (मरम्मत) शुरू किया। इब्राहीम नबी का तवारीखी 'हजरे अस्वद' (स्याह पत्थर) प्रतिष्ठित किया (नसब) जा रहा था, तब एक बडा झगडा हो गया। हरेक खानदान

बदले और जग की तैयारियाँ जोर-शोर से होने लगी। सद्‌भावनाओ की जीत हुई और यह तय किया गया कि जो आदमी दूसरे दिन सवेरे कावा मे सवसे पहले दाखिल होगा वही 'हजरे अस्वद' को नसब करेगा। खुशकिस्मती से अगले दिन पैगम्बर मुहम्मद ने ही काबा मे प्रवेश किया। उनका खुशी के नारो के बीच शानदार स्वागत किया गया। चारो ओर से खुशहाली बरसने लगी, किन्तु मुहम्मद ने इस खुशहाली का अकेले ही फैज नही उठाया, वावजूद इसके उन्होने एक चादर बिछायी जिसके बीचो-बीच अपने हाथो से उन्होने 'हजरे अस्वद' को प्रतिष्ठित किया। और कुरैश-सरदारो को बराबरी की हैसियत से दावत दी। चादर के चारो कोनो को पकड कर 'हजरे अस्वद' को मुकर्रर जगह पर ले जाया गया। सरदारो ने पैगम्बर का कहा माना और इस तरह 'हजरे अस्वद' ठीक जगह पर नसब कर दिया गया। खुदा के दोस्त मुहम्मद ने अपने इस तरह के बर्ताव से न सिर्फ एक बहुत बडी जंग और रक्त-पात को रोका बल्कि अपने हमराहियों को दरियादिली, इश्के हकीकी, रहमदिली, इत्तफाक, और मेलजोल का सबक दिया

इन्सानियत के फरिश्ते

इन्सानियत के फरिश्ते मुहम्मद की जिन्दगी के दो खास पहलू है, एक तो वे खुद निरक्ष (उम्मी) थे, किन्तु उन्होंने मनुष्य-समाज के लिए ज्ञान और संस्कृति का ऐसा खजाना खोल दिया, जिसने दुनिया के कोने-कोने को रोशनी से जगमगा दिया, दूसरे, वे पैगम्बर होने के ऐलान से पहले की जिन्दगी के चालीस साथ एक ऐसे हिस्से मे, जहाँ नशाखोरी, अन्धविश्वास और बदचलनी का दौर-दौरा था, कमल के पत्ते पर जिस तरह पानी की बूँद ठहर कर उससे अलग रहती है, उसी तरह पूरे अख्लाक के साथ बिता चुके थे। यहाँ तक कि उनके चरित्र पर उस वक्त के तल्ख-से-तल्ख आलोचक भी इल्जाम नही लगा सकते थे। मुहम्मद साहब का नब के पहले का जीवन भी बडा पाक, संजीदा, और साफ था। वे जिन्दगी को बडी संजीदा और पाकीजगी से निभाना चाहते थे। उनके चाचा अबू तालीब के शब्दोन मे-"मैने मुहम्म को कभी झूठ बोलते, ऊलजलूल बाते करते, अथवा बुरी सोहबत मे नही देखा"।

पैग़म्बर की पाकीज़गी का अन्दाज़

उनका जीवन आत्म-संयम, ईमानदारी और सचाई से भरपूर था। उन्होने कभी अपनी ज़रूरतो का इजहार नही किया। अपने कबीले को अपनी इच्छाओ के लिए परेशान करना उन्होने सीखा ही नही था। पैगम्बर की पाकीज़गी का अन्दाज उनके दुश्मन नाजरबिन-हारिस के इन शब्दो मे लगाइये "कुरैश, मुहम्मद तुम्हारी आँखो के सामने ही बच्चे से बालिग हुए है। वे तुम सबमे बेहद मिलनसार, हकीकत-पसन्द, और ईमानदार शख्स है। तुमने कभी उनके अल्फाज मे गैरयकीनी नही की, किन्तु आज जब कि उनके बाल सफेद पड रहे है, तुम उन्हे पागल कहते हो, उन पर भूत सवार है यह कहते हो, वह जादूगर है, शायर, ऐसे फिजूल इल्जाम लगाते हो ? मै खुदा की गवाही पर कहता हूँ कि वे बिलकुल बेगुनाह है।"

ख़ुदा के रसूल

पैगम्वर मुहम्मद अरव के एक ऐसे खानदान मे पैदा हुए थे-जो कि पूरी तरह रूढ था। पूजा उनके कवीले का खास पेशा था, किन्तु उन्होंने कभी पूजा नही की। एक बार जब पूजा के बाद का प्रसाद पेश किया गया तव उन्होंने उसे छूने तक से इंकार कर दिया। मुहम्मद से पहले अरवनिवासियो की अपने ऊँचे मकसद से गिरे हुए मज़हब और तहज़ीब की पैदायश पौराणिक किस्सो (माइथोलॉजी) मे खास दिलचस्पी थी, किन्तु पैगम्वर की निगाह तहज़ीब और मज़हब के जिस्म पर न हो कर उनकी रूह पर थी। वे सारे मुल्क की ज़िन्दगी को तरक्की की ओर ले जाना चाहते थे। समाज की इमारत को नये सिरे से वनाना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने छोटे-छोटे मसलो को भी वडे गौर से देखा और उनके जरिये सारे समाज मे इकलाव का शानदार जज्वा पैदा किया। वे खुदा के रसूल थे और अपनी खुदी को इतना फैलाना चाहते थे कि उसी मे सारी दुनिया की तस्वीर नज़र आने लगे। वे खुदी को खुदी की मदद से वलन्दी देना चाहते थे।

जव कभी कुरैश-सरकारो ने उनकी खिलाफ़त की तब उन्होने हमेशा यही जवाव दिया- 'कुरैश, मेरी सारी ज़िन्दगी तुम्हारे सामने है, तुम उस पर गौर क्यो नही करते ?' उस वक्त उनकी यह चुनौती लगातार तेईस वरसो तक सारे अरव देश मे गूँजती रही और आज सारे ससार मे उनकी वह वलन्द और सजीदा आवाज ऊँचे, बहुत ऊँचे उठ कर हमे चुनौती दे रही है।

मुहम्मद ने अपनी ज़िन्दगी के चन्द साल 'जवेले हिरा' (हिरा पहाड) पर विताये। मसक-भर पानी और जो की रोटियाँ उनके लिए वहुत काफी थी। वे फकीर थे, ज़िन्दा रहने के लिए खाना पसन्द करते थे, खाने के लिए जीना उन्हे पसन्द न था। खुदा की नमाज करना व अपना पहला फ़र्ज मानते थे। मेहमानदारी भी उनकी अव्वल दर्जे की थी। जो भी राहगीर 'ज़वेले हिरा' से गुजरता वे उसकी पूरी मेहमानदारी करते और यदि वह कोई मदद माँगता तो वे अपनी हैसियत के मुताविक उसकी जी-जान से मदद करते।

पैगम्वर का मिशन

इस तरह उनकी ज़िन्दगी के चालीस वरस वीत गये। २२ फरवरी, सोमवार,६१० ई का वाक़या है, वे 'ज़वेले हिरा' मे बैठे हुए थे। उन्हे एक वुलन्द आवाज सुनायी दी। उन्होंने महसूस किया कि कोई खुदाई तख्त आसमान से नीचे उतर रहा है। आहिस्ता-आहिस्ता एक रोशनी उनकी करीव आयी और उसने मुहम्मद को अपने सीने से लगा लिया। उस रोशनी ने वडी खामोशी से ऐलान किया कि वे 'खुदा के रसूल' है और उसका कलाम रोशन करने के लिए ही वे इस दुनिया मे आये है, इतना कह कर रोशनी गुम हो गयी। मुहम्मद को यह एक अजीवो-गरीव अनुभव हुआ। वे खौफ से भर गये। घर आये और उन्होंने सारी घटना अपनी वीवी हुदैजा को सुना दी। हुदैजा को लफ्ज-लफ्ज पर यकीन हो गया। उसने विना किसी झिझक के पैगम्वर का अभिनन्दन (स्वागत) किया और उनका हौसला वढाया। मुहम्मद के सभी साथियो ने उन पर पूरा भरोसा जाहिर किया। लगातार तीन सालो तक पैगम्वर का मिशन लुके-छिपे वडी शान्ति के साथ चलता

रहा। इसके बाद उन्होने पूरी आजादी के साथ अपने उसूलो को फैलाना शुरू किया। वे कावा गये और वहाँ उन्होने रूढियो के खिलाफ जेहाद बोला, "खुदा एक है" का जबर्दस्त ऐलान किया। मक्का के रहने वालो ने मुहम्मद के इस पाक कदम को अपने देवताओ की तोहीन माना और उनकी एक तूफानी खिलाफत की। मुहम्मद वहशियाना भीड़ मे घिरे गये। ऐसे बदवक्त मे अब्बू हाला के लडके हारिथ ने पैगम्बर की हिफाजत की, किन्तु तूफानी भीड ने हारिथ पर तलवारो से हमला किया और मार डाला।

हारिथ ने इस्लाम के लिए पहली शहादत दी। यह नींव की शहादत थी, हम उसका पवित्र स्मरण करते है।

खुदा के कलाम को जनता के दिलों तक पहुँचाया

मक्का के अन्धविश्वासियो मे पैगम्बर के इस काम से बडी सनसनी फैल गयी। खुदा के रसूल मुहम्मद ने, उन्हे जहाँ और जब भी मौका मिला, खुदा के कलाम को जनता के दिलो तक पहुँचाया। वे मेलो और जल्सो मे जाते और खुदामन्द का कलाम उन्हे बुलन्द आवाज मे सुनाते। घर-घर जा कर उन्होने खुदा का कलाम लोगो को बडी मोहब्बत से सुनाया। मुल्क की वडी-बडी सडको पर, घरो मे। हाट-बाज़ारो मे जहाँ भी उन्हे दस-बीस आदमी इकट्ठा मिले वहाँ उन्होने 'खुदा एक है' की आसमान छूने वाली आवाज उनके दिलो तक पहुँचायी। उन्होंने अरब मुल्क को अखलाक़ का रास्ता बतलाया, उसे बुरी आदतो के शिकंजे से छुडाया और कहा 'भाई, अपनी लडकियो को मत मारो, शराब कभी मत पियो, दूसरो की इज्जत पर हाथ मत डालो, खूँरेजो और डकैतो से बचो।' किन्तु अहकारी कुरैशो को उनके इस कलाम से कोई सन्तोष नही हुआ, लिहाजा वे पैगम्बर के मिशन को नाकामयाब बनाने की हर चन्द कोशिश करने लगे, किन्तु इस नापाक दबाव और धमकी ने मुहम्मद के पक्के इरादे को ढीला नही होने दिया। बेतरह निराश होने पर कुरेश-सरदारो ने अपने एक नुमाइन्दे को खुदा के रसूल मुहम्मद से बातचीत करने के लिए भेजा और कहा कि यदि वे खुदा की दुहाई देना छोड दे तो उन्हे दुनिया की नामी-से-नामी दौलत और खूबसूरत-से-खूबसूरत औरत बख्शी जा सकती है, किन्तु मुहम्मद ऊँचे दर्जे के आदमी थे। वे दुनिया की इन फानी और लुभावनी चीजो को मिट्टी समझते थे। कुरैशो ने यहाँ तक कहला भेजा कि यदि वे अपना मिशन छोड दे तो वे मुहम्मद को अपना बादशाह मान लेंगे, किन्तु खुदा के रसूल को इस फानी दोलत से खरीदने की हरेक कोशिश नाकामयाब साबित हुई। मक्का के अन्धविश्वासो के आगे उनका सर नही झुका। वे अपने मिशन से बाल-भर भी पीछे न हटे। इसे कहते है सत्याग्रह, झूठ का पूरा-पूरा मुकाबला। मुहम्मद की सारी जिन्दगी इसी तरह के सत्य के प्रयोगो से भरी पडी है।

मक्का के नुमाइन्दे उतबा को पैगम्बर ने पवित्र कुरान की कुछ आयते सुनायीं। उतबा पर उनका गहरा असर हुआ और वह इस जवाब के साथ सीधा लौटा, "कुरेश, मुहम्मद का पैगाम न तो जादू ही है और न शायरी। वह तो कुछ अजीब ही है। उसके रास्ते मे रुकावट मत बनो। यदि

उसने अरब को अपने उसूलो से जीत लिया तो उससे तुम्हारी इज्जत सौगुना बढेगी और यदि वह अपने मिशन मे नाकामयाब हुआ तो अरब उसे खुद-ब-खुद नेश्त-नाबूत कर देगा।"
नाउम्मीद होने पर कुरैश-सरदारो ने अरब के तमाम फिरको का एक प्रतिनिधि-मण्डल अबू तलीब के पास भेजा और कहलवाया कि 'या तो तुम अपने भतीजे को खुदा के कलाम को फैलाने से रोको या पैग़म्बर पर से अपनी हिफाजत का हाथ हटा लो।' अबू तलीब कुरैशो की ताकत के खौफ से सर-से-पैर तक काँप उठे। उन्होने मुहम्मद से कहा "मेरे भतीजे, मुझ पर ऐसा बोझ मत डाल जिसे सहन करने की ताकत मुझमे न हो।" मुहम्मद की आँखे डबडबा आयी। उन्होंने जवाब दिया चचा जान, यदि ये सब मेरी दायी हथेली पर सूरज (आफताब) और बायी ओर चाँद (मेहताब) ला कर भी रख दे तो भी मै अपनी फर्ज-अदाई से पीछे नही हट सकता। या तो आगे चल कर खुदा ही मेरे मिशन को पूरा करेगा या मै इसे पूरा करने की कोशिश मे शहादत हासिल करूँगा।

वहशियाना जुल्म

बातचीत के दरवाजे अब बिल्कुल बन्द हो गये। मुस्लिमो पर कुरैशो के अत्याचार दिनो-दिन बढने लगे। पैगम्बर के मानने वालो को खुले बदन शोलो की गरम राख पर लेटाया गया। गरम सरिये से उनके ज़िस्म को दागा गया। मोटे डण्डो से उन्हे पीटा गया। हाथ-पैर बाँध कर उन्हे बडी बेरहमी से पथरीली ज़मीन पर घसीटा गया। कच्चे चमडे मे बाँध कर उन्हे चिलकती धूप मे डाल दिया गया। उनके मुँह पर जानवरो की तरह लगाम दे कर कोडो की मार से दौडाया गया। एक जालिम ने तो 'खबाब-इब्न-उल-अर्स' को पूरी तरह भड़कते शोलो पर लेटा दिया और उनकी छाती पर इसलिए पैर रख दिया कि वे जरा भी हिल-डुल न सके। जुल्म बेइन्तहा हो गये।

पैग़म्बर के हमराहियो ने इन वहशियाना जुल्मो का बडी शान्ति के साथ मुकाबला किया। मुहम्मद अपने इरादे पर मुस्तकिल रहे। तवारीख के पन्ने गवाही देते है कि इस्लाम के वे शहीद, जिनका सिर्फ नाम लेने से हमारे दिल और दिमाग पाक होते है, तिल-भर भी अपनी रोशनी-भरे रास्ते से नही हटे। इस्लाम की ताकत दिनो-दिन बढने लगी। एक भी मुसलमान ने अपना ईमान नही छोडा। पैग़म्बर मुहम्मद पर उस वक्त सबसे अधिक वहशियाना जुल्म खुदगर्ज कुरैशो ने किया। इन्सानियत का सर शर्म से झुक गया। रसूल-ए-खुदा की हिम्मत ने उनके हमराहियो को ताज़ा जिन्दगी और इन्तहा दर्जे की आला ताक़त दी। वे पूरी उम्मीद के साथ खुदा के पैगाम को फैलाने मे जी-जान से लग गए। अबू तालीब ने मुहम्मद को फिर एक बार समझाया कि वे इस ना-शुक्रा काम को छोड दे, किन्तु इस पर खुदा के दोस्त पैगम्बर ने जवाब दिया "चचा जान, मेरी तकलीफो की फिक्र न कीजिये। याद रखिये, सचाई कभी हारती नही है। (सत्यमेव जयते- सचाई की ही जीत होती है)। जल्द ही एक दिन आवेगा जब अरब और गैरअरब तमाम मुल्क मेरे साथ होंगे।" एक बार फिर किसी बेईमान गुण्डे ने उसके सर पर धूल फेकी। उनकी लडकी फातमा की

आँखो से आँसुओ की धार उमड पडी, तब खुदा के रसूल ने कहा · "मेरे बच्चे, घबराओ मत खुदा तुम्हारे पिता की पूरी हिफाजत करेगा। खुदा हाफिज है।" खबाब-इब्न-उल-अर्स ने पैगम्ब से प्रार्थना की कि वे अपने दुश्मनो को बददुआ दे। इस पर खुदा के रसूल के मन मे रहम औ मुआफी की दरिया उमड आया। वे बोले · "खबाब, तुमने अपनी आँखो देखा है कि खु के बन्दे लकडी की तरह चीर डाले गये, ऐसी बेइन्तहाई मे भी मे अपने फर्ज पर मुस्तकिल रहे। व करीब है जब खुदा मेरे पाक मक्सद को पूरा करेगा।"

पैग़म्बर के कबीले का कौमी और माली बहिष्कार

पैगम्बर की जन्म-भूमि मक्का उनके बिलकुल खिलाफ हो गयी। उन पर और उ हमराहियो पर इबादत की कडी-से-कडी बन्दिशो का ऐलान कर दिया गया। कुरैश-सरदार नये और जबर्दस्त आन्दोलन को कुचल डालने की हरचन्द कोशिश करने लगे। पर जिस पर ख का साया था, उसका, जो सबकी परवरिश करता है, इसलिए वे हर बार नाकामयाब साबित हु उनकी सारी साजिशे धूल मे मिल गयी, लेकिन इस तरह उनके बुरे इरादो के शोले और भी भ उठे। ऐसे बदवक्त पर इस्लाम ने अपने बेटो से एक नयी कुरबानी की जरूरत महसूस क मुसलमानो को पैगम्बर की ओर से हुक्म दिया गया कि अबीसीनिया मे जा कर रहे। करीब सौ मुसलमान अरव छोड कर अबीसीनिया चले गये। कुरैश-सरदारो मे इन्तकाम की आग बेइन्तहा हो गयी। उन्होंने अबीसीनिया के बादशाह के पास कुछ नुमाइन्दे भेजे और चाहा कि अरब के मुसलमानो को वापस अरब भेज दिया जाए। अबीसीनिया के रहने वालों ने मुसलमानो का पक्ष लिया। नतीजा यह हुआ कि हमदर्द बादशाह ने कुरैश-नुमाइन्दो को जवाब दिया · कुरान और बाइबिल दोनो एक ही रोशनी की दो किरने है। मक्का का प्रतिनिधि-मण्डल अबीसीनिया से बहुत निराश लौटा। कुरैश-सरदारो ने अब दूसरा रास्ता अख्तियार किया। उन्होंने पैग़म्बर के कबीले का कौमी और माली बहिष्कार (बाइकाट) कर दिया और अरब की जनता मे ऐलान किया कि जब तब पैगम्बर का कबीला उन्हे पैग़म्बर सिपुर्द न कर दे तब तक कोई भी अरब का बाशिन्दा उस कबीले के साथ ने तो किसी प्रकार का तिजारत ही करे और न ही उसे रोटी-पानी की मदद दे। कुरैशो का ख्याल था कि इस प्रकार भूखो मार कर वे खुदा के रसूल मुहम्मद को ईमान के रास्ते से हटा देगे, किन्तु जैसे-जैसे मुसीबत के पहाड उन पर टूटते गये, वेसे-वैसे उनका हौसला बढता गया, सचाई और ईमानदारी पर उनका भरोसा मजबूत होता गया। कुरैशो की बदनीयती पर खुदा के पैगाम ने आहिस्ता-आहिस्ता फतह का झण्डा लहराना शुरू कर दिया, क्योकि खुदा चाहता था कि मुहम्मद के मिशन से दुनिया को नयी साँस और नयी किरन मिले। आखिर-कार अबू तालीब इन बन्दिशो से घबरा कर पहाडियो मे रहने लगे। दुश्मनो ने यहाँ भी उन्हे चारो तरफ से घेर लिया। बनू हाशिम मे सारी हुकूमत छीन ली गयी। उनके मासूम बच्चे भूख से तडफने लगे। कहा जाता है कि झाड की पत्तियाँ खा कर उन्होंने इस्लाम की तरक्की की। उनका पसीना आज भी इस्लाम की इस बुलन्द इमारत की नींव मे हमे फर्ज और कुर्बानी का पैगाम देता है। हमारे हौसलों को पस्त होने से रोकता है।

चट्टान की तरह मजबूत

सालाना हज पर बन्दिशे ढीली कर दी गयी। हज मे अमनो-अमान बनाये रखने की नीयत से मारी फ़ौजे वापस बुला ली गयी। याद रहे, इन जुल्मो के बीच भी मुहम्मद चट्टान की तरह मजबूत रहे और फूल की तरह मुस्कराते रहे। हज्ज की वजह से मिली आजादी के दौरान बनू हाशिम ने खाने-पीने का सरजाम भरपूर जुटा लिया। पैगम्बर मुहम्मद फिर पूरे जोश से इकट्ठा कौमो को खुदा का पैगाम सुनाने लगे। आखिर कर जुल्मो की एक मजिल खत्म हुई। अरब वालो कर सर शर्म से झुक गया। उन्हे अपने कुकृत्यो (बदचलनी) पर सख्त अफसोस हुआ। कइयो ने बनू हाशिम को कौम से निकालने के समझौते को खुले आम जला दिया। बनू हाशिम आज़ाद कर दिया गये। पैगम्बर को खुदा का पैगाम सुनाने की पूरी आजादी मिल गयी।

इन्सानियत के चेहरे की मुस्कराहट

पैगाम्बर ने अब अपने मिशन को बडी रफ्तार से आगे बढाया। तैफ मक्का से पचास मील के फ़ासले पर एक पहाड़ी जगह है। पैगम्बर ने अपने मिशन के दसवे साल मे इस शहर मे प्रवेश किया। वहाँ वालो ने उनका पत्थर की बौछारो से स्वागत किया। खूब ऊधम और हुल्लडबाजी की। पैग़म्बर को कई जगहो पर गहरी चोटे लगीं, यहाँ तक कि वे बे-सहारा गिर पडे। उनका साथी ज़ैद उन्हे उठा कर शहर से बाहर आया और उसने पैग़म्बर से प्रार्थना की कि वे तैफ के रहने वालो को बददुआ दे, किन्तु उस वक्त मुहम्मद की महानता के आगे दरिया भी छोटा पड गया था। उन्होने इन्सानियत के चेहरे पर मुस्कराहट बिखेरते हुए कहा- 'ज़ैद, मै उनकी बर्बादी के लिए प्रार्थना कैसे करूँ ? यदि उन्होंने खुदा के पैगाम को कुबूल नही किया तो मै जानता हूँ उनकी आगे आने वाली पीढ़ियाँ इसे मानेगी।'' इस घटना के बारह साल बाद ही सारे तैफ मे ''खुदा महान् है'' की बुलन्द आवाज गूँज उठी और अन्धविश्वास की कट्टरता 'एक ईश्वर पर विश्वास' की रोशनी पा कर हमेशा-हमेशा के लिए खत्म हो गयी।

इस्लाम यानी शान्ति

आम लोगो की धारणा है कि इस्लाम तलवार की ताकत से फैलाता गया, किन्तु खुदा के रसूल ने इस बात को बड़ी मजबूती और बुलन्दी से साबित किया है इस्लाम (शान्ति) की स्थापना ज़ोर-ज़बर से नही अख्लाक इन्सानियत और रहमदिली से ही हुई है। इस्लाम के दरअसल माने शान्ति (अमनो-अमान) ही है और शान्ति-अशान्ति या खूँरेजी से कभी स्थापित नहीं की जा सकती। सच पूछिये तो इस्लाम का आचरण तलवार की पैनी धार पर चलता है। मुहम्मद के करुणा, सत्य, निष्ठा, कर्तव्य-पालन (फर्जअदाई) और अख्लाक की तलवारों से इस्लाम को फैलाया। वे बहुत बडे अहिंसक थे। पैगम्बर की चुम्बक-जैसी हस्ती ने, उनके मिजाज से मीठे बर्ताव ने, उनकी इन्तहा दर्जे की रहमदिली ने, और कुरान की जीवनदायिनी भाषा ने अरब-जैसे सरकश मुल्क पर जीत झंडा लहराया। उनकी यह जीत दर-असल इन्सानियत की जीत थी।

उनकी जीत अहिसा, सचाई और अखलाक (सच्चरित्र) की जीत थी। उन्होने इस्लाम के द्वारा एक जाहिली सडे-गले और दकियाननूस जमाने को अलविदा किया और बराबरी की बुनियाद पर एक ऐसी, नयी समाज रचना और जीवन-योजना को जन्म दिया जिसने दुनिया मे अहिसा, इन्साफ, सचाई और मोहब्बत का झडा पूरी बुलन्दी से लहराया।

पैगम्बर ने अपने मिशन के चौदहवे साल मे तवारीख मे एक नया अध्याय (बाब) खोला, जिसमे इस्लाम के विकास और विस्तार मे बडी मदद पहुँची। तेरहवे साल में पैगम्बर ने अपने हमराहियो को याथ्रिब जा कर रहने की मंजूरी दी। इस्लाम की तवारीख मे यह कभी न भूली जा सकने वाली घटना थी। मक्का से मदीना पहुँचने पर इस्लाम का दायरा खूब बढने लगा। इस्लाम वहाँ की जनता के लिए जान से भी ज्यादा प्यारा और खूब हरदिल अज़ीज बन गया।

२० सितम्बर, ६२२ ई. से मदीना 'पैग़म्बर का शहर'

मुसलमान मक्का छोडने को तैयार थे। कुरैश-सरदारो ने जब यह सुना तो उन्होंने बडी बेरहमी से काम लिया। वे इन मुसलमानो को पूरी तरह बर्बाद करने पर तुल गये। मक्का जाने वालो की ज़र-ज़ायदाद सब छीन ली गयी और बच्चो-औरतो को जबरन रोकना शुरू किया, लेकिन खुदा के ये बन्दे दुनियावी लालचो से बहुत ऊँचे उठ चुके थे। उन्होने तमाम बर्बादियाँ सहन करते हुए भी मक्का छोडना पसन्द न किया। वे चेहरे पर मुस्कराहट के साथ मुसीबतो से लड़े और जीते। पैगम्बर और उनके हमराहियो के खिलाफ चारो ओर से खौफनाक साज़िशे होने लगी। कुरैशो ने खुदा के रसूल की जिन्दगी को खतरे मे डालने वाली एक बहुत बडी साजिश की। कोई एक कौम पैगम्बर के कत्ल की जवाबदारी लेने को तैयार न थी, इसलिए तमाम कौमो के नुमाइन्दे साजिश मे शरीक किये गये। तयशुदा साजिश के अनुसार रात मे मकान को चारो और से घेर लिया गया। मुहम्मद की नेकनीयती और ईमानदारी का अन्दाज हम इसीसे लगा सकते है कि उनके दुश्मन भी उनसे बेइन्तहा मोहब्बत रखते थे। वे अपनी दौलत और बेशकीमती दागीने हिफाजत की नजर से उनके पास रख जाया करते थे। तवारीख गवाह है कि दुनिया ने नेकी और बदी,इन्साफ और जुल्म के जंग को कई बार देखा है किन्तु उस रात खुदा के दोस्त और जालिम साज़िशखोरों के बीच जो कुछ हुआ उससे इन्सानियत का सर झुक गया। एक बहुत बडा काला धब्बा उस रात इन्सान की तवारीख मे दर्ज होते-होते रह गया। इधर पैग़म्बर साज़िशखोरो से घिरे हुए अपने पास गिरवी दौलत को हजरत अली के सिपुर्द कर रहे थे ताकि वह उनके जरिये दूसरे दिन सवेरे अपने सही मालिको के पास हिफाजत के साथ पहुँचायी जा सके और उधर खून के प्यासे कुरैश दाँव ढूँढ रहे थे। हजरत अली को विस्तर पर छोड पैगम्बर मुहम्मद मुसबीतो और जुल्मो का मुकाबला करते हुए खुदा के फज्ल से याथ्रिब जा पहुँचे। २० सितम्बर, ६२२ ई इतिहास की एक मशहूर तारीख है। इस दिन नेकी ने बदी पर विजय प्राप्त की थी। सचाई ने झूठ पर, रहमदिली ने बेरहमी पर फतह हासिल कर इस दिन इन्सानियत कर सर बहुत ऊँचा उठा दिया था। तब से मदीने को 'पैगम्बर का शहर' कहा जाने लगा।

कुरैश-सरदार मुस्लिमो के मक्का से ३०० मील दूर चले जाने पर भी आराम से नही वैठ सके। इन्तकाम के शोले उनमे धू-धू कर धधकने लगे। पैगम्वर के मदीना-जीवन के दूसरे साल ही अतयाविन-रविया ने १००० फौजी जवानो के साथ मदीना पर हमला बोल दिया। पैगम्वर ने जंग के मुक़ावला करने के लिए मुसलमानो को दावत दी। उनके सभी साथी जुल्म के मुकाबले के लिए उठ खडे हुए। मदीना के एक सरदार साद-बिन-इब्दा ने कहा 'ए खुदा के रसूल, हम तेरे हुक्म पर समन्दर मे कूद पडेगे। हम हर खतरे मे तेरी जान से ज्यादा हिफाजत करेगे।' जोश इस कदर फैला कि छोटे-छोटे वच्चे भी पैगम्वर की चिनगारी से वच नही सके। इस्लाम की फौज मे ३१३ शख्स थे। मुस्लिम फौज ने वदर के कुओ पर कब्जा कर लिया 'किन्तु दुश्मनो को पानी भरने का हुक्म था'। जग शुरू हुई। पैगम्वर ने खुदा से दुआ की "या खुदा, अपने मदद के वादे को पूरा कर। इस्लाम के बन्दे सचाई के सिपाही है। वे तेरे है। इनके सर पर हिफाजत का हाथ रख। अगर वे मारे गये तो कयामत के दिन तक कोई तेरा नाम लेने वाला नही रहेगा"।

धर्मयुद्ध

धर्म युद्ध के दौरान मक्का से दो मुसलमान आये, जिन्हे कुरैश-सरदारो ने जग मे शरीक न होने की शर्त पर रिहा किया था। इन मुसलमानो ने पैगम्वर से पूछा कि "अब उनका क्या फर्ज है?" तो खुदा के रसूल ने वडी सजीदगी से जवाब दिया "अपना वादा पूरा करो। खुदा की मदद ही काफी होगी।" जग चन्द घण्टो चली। कुरैश-फौजो के ७० फौजी मारे गये और ७० क़ैदी मारे गये। अरब मे रिवाज था कि कैदियो को या तो जिन्दा जला दिया जाए या कत्ल कर दिया जाए, लेकिन पैगम्वर ने उन्हे बडी रहमदिली से एक-एक दो-दो करके इस्लाम मे दाखिल किया और अपने हमराहियो को वड़ी सख्ती के साथ हिदायते दी कि वे उनके साथ कोई तल्ख बर्ताव न करे। नतीजा यह हुआ कि क़ैदियो को जेलरो की अपेक्षा ज्यादा अच्छा खाना मिलने लगा। कुछ दिनो वाद कैदियो मे-से हरेक से ४००० दिरहम लेकर रिहा कर दिया गया, किन्तु गरीब और मोहताज कैदियो को विना कुछ वसूल किये आज़ाद कर दिया गया। कुछेक इस शर्त पर भी रिहा किये गये कि मदीना के कम-से-कम दस वच्चो को लिखना-पढना सिखायेगे। वदर की हार ने कुरैश-सरदारो के इतकाम को और भडका दिया। उन्होंने दूसरे साल फिर ५००० फ़ौजी लेकर हमला किया। खुदा के ७०० वन्दे एक होकर मुकावले के लिए उठ खडे हुए। ओहद मे जग हुई। कुरैश-फौजे फिर मक्का की ओर धकेल दी गई। अब उन्होंने इस्लाम को जड से उखाड़ फेकने की नीयत से अरब के तमाम कवीलो को दावत दी। मदीना-जीवन के पाँचवे साल मे २४००० कुरैश-फ़ौजियो ने सारे शहर को घेर लिया। कई हफ्तो तक घेरा पड़ा रहा। मुस्लिम खेमो मे भुखमरी फैलने लगी, लेकिन तूफानी मौसम शुरू होने से कुरैश को अपनी तमाम फौजे वापस बुला लेनी पडी। इस मुसीबत के खत्म होते ही मुसलमानो को मदीने और इसके इर्द-गिर्द के इलाको मे रहने वाले यहूदियो की साजिशो का मुकावला करना पडा। उन्हे युद्ध जूझने पडे किन्तु खुदा के फज्ल से हर बार जीते।

मदीना-जीवन के छठे साल मे मुसलमान हज के लिए मक्का गये। कुरैशो ने उनके रास्ते मे कई रुकावटे पैदा की। आखिरकार एक 'दस सालाना जंग रोको समझौता' हुआ। जिसके मुताबिक मुसलमानो को आयन्दा साल काबा मे हज करने के हक दिया गया।

पैगम्बर का मदीना-जीवन को नुक्तो से बडी अहमियत रखता है। एक, मुसलमान अपने से ज्यादा ताकतवर फौजो से लडे और जीते, दूसरे, मक्का के बजाय मदीना मे इस्लाम को फैलाने के लिए माकूल आबोहवा मिली। पैगम्बर-जीवन के चौदहवे साल मे मुसलमानो की तादाद केवल ३१३ थी। ओहद के जंग में यह तादाद ७०० हुई और 'खन्दन के युद्ध' मे मुसलमानो की तादाद ३००० थी। मक्का के तवारीखी हज मे दस हजार मुसलमानो ने हिस्सा लिया। तबूक की जग मे मुसलमानो की तादाद तीस हजार बतायी गयी है।

पैग़म्बर मुहम्मद के जीवन पर रोशनी डालने वाली मिसालें

नीचे हम पैगम्बर मुहम्मद के जीवन पर रोशनी डालने वाली चन्द मिसाले दे रहे है। इन घटनाओ का सिलसिला पैगम्बर के मदीना-जीवन से है.

(१) 'ओहद की जग' मे पैगम्बर के चेहरे पर गभीर चोटे आयी। दुश्मन के उन पर नुकीले पत्थरो और तीखे तीरो से खौफनाक हमले किये। मुसलमानो ने अपने पैगम्बर की हिफाजत के लिए उनके चारो ओर जिन्दा जिस्म की दीवारे खडी कर दी। इतना होते हुए भी दुश्मन ने पैग़म्बर के मुँह पर मुक्का मारा, नतीजा यह हुआ कि उनके सामने के दो दाँत उखड गये। इस बेइन्तहा वर्वादी मे भी उन्होने खुदा से दुआ की, "या खुदा, इन्हे मुआफ कर दे क्योकि ये नही जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" इन्सानियत का सर इन शब्दो की ताकत पा कर उस दिन बडी बुलन्दी के साथ आसमान छूने लगा था। इस्लाम के लिए ये क्षण वडे गौरव के थे।

(२) एक वार पैगम्बर ने अपने हमराही खलीद को वनू-जुजमिया कवीले मे इस्लाम का पैगाम देने के लिए भेजा, लेकिन खलीद ने पैग़म्बर के हुक्म के खिलाफ तलवार से काम लिया। पैगम्वर ने जव यह सुना तो उन्हे सख्त अफसोस हुआ। यकायक उनका हाथ आसमान की ओर उठा और वे कहने लगे 'या खुदा, खलीद के गुनाहो से मै वरी हूँ'। पैगम्वर ने तुरन्त हजरत अली को जुजमिया-कवीले को वहाये गये खून की एक-एक वूँद का मुआवजा देने के लिए भेजा। मक़सद की पाकीजदगी के साथ जरिये का पाक होना भी वेहद ज़रूरी है। साधन और साध्य पवित्र होंगे, तभी इन्सानियत धन्य होगी, इन रहस्य को पैगम्वर मुहम्मद वखूवी जानते थे।

(३) एक वार सफर के दौरान पैगम्वर के जूतो के वंद ढीले पड गये। पैगम्वर उन्हे कस ही रहे थे कि इतने मे उनका एक हमराही आया और वोला-'लाइये मै कसे देता हूँ।" इन पर पैगम्वर ने जवाव दिया-'मै इस तरह आदमी की पूजा नही चाहता। खुदा की खामोश इवादत करो, उसके सामने 'मै-तू' का झगडा कतई नही है।" एक और सफर मे जव उनके साथी रसोई तैयार कर रहे थे और सवको अपनी-अपनी जवावदारियाँ सौप दी गयी थी। तव पैगम्वर ने रस्सा और कुदाल

ली और जगल मे जलाऊ लकडी लाने के लिए चल दिये। साथियो के वहुत रोकने पर उन्होंने वड़ी मजीदगी से कहा-मैं अपने साथ कोई खास वर्ताव नही चाहता। ''वदरक जंग'' मे ऊँटो की कमी महसूस हुई। हर तीन आदमियो के लिए एक ऊँट की तजवीज थी। पैगम्वर ने अपने दो हमजोलियो के साथ ऊँट पर वैठना मजूर किया। साथियो ने चाहा कि वे अकेले ही ऊँट पर वैठे और वे दोनो पैदल ही चले, लेकिन पैगम्वर ने उनकी इस तजवीज पर गौर नही किया, वे वोले-''जैसे तुम चल सकते हो, मै भी चल सकता हूँ और मुझमे-तुममे फर्क ही क्या है।'' आखिरकार तीनो एक ही ऊँट पर वैठे।

(४) जिस वक्त मुसलमान मक्का से मदीना आये तव खुदा के रसूल मुहम्मद ने उन्हे मदीना वालो मे भाई की तरह वसा दिया। इन्तजाम के असर से मदीना के वाशिन्दो ने अपनी आधी-आधी जायदादे मक्का के भाइयो को दे दी, लेकिन मक्का वाले वडे स्वाभिमानी, वलिदानी, और समझदार थे, इसलिए उन्होंने मदीना वालो की दरियादिली का ना-मुनासिव फ़ायदा नही उठाया। मदीना-विरादरो की दरियादिली यहाँ तक वढी कि वे अपनी जमीने वाँटने को भी तैयार हो गये, लेकिन पैगम्वर ने उनकी इस गैरमामूली कुर्वानी और रहमदिली का नाजायज फायदा नही उठाया। पैगम्वर की रहमदिली ने भाईचारे की जिस भूमि को इस्लाम मे स्थान दिया वह आज भी इस्लाम के ऊँचे उसूलो की हिफाजत कर रही है।

(५) एक वार एक भूखा-प्यासा मेहमान पैग़म्वर मुहम्मद के घर पहुँचा। उस वक्त उनके पास खाना नही था, इसलिए उनका एक हमराही मेहमान को अपने यहाँ ले गया। वदकिस्मती से उस दिन उसके यहाँ भी खाना वहुत कम था, ऐसी हालत मे मेहमान को जैसे-तैसे वैठाया गया और चिराग गुल कर दिया गया और अवू तलहा और उसकी वीवी ने खाने का वहाना किया, खाया जरा भी नही। मेहमान ने भोजन किया और मेजमान खाली पेट मेज पर से उठ वैठे। इसी कुर्वानी की ताकत पर इस्लाम इतना फैला और वढा। भाईचारे और मदद की वुनियाद पर मुहम्मद ने सवसे पहले ध्यान दिया।

मुस्लिम समाज मे ये ही चन्द चाँद-सितारे है, जिन्होंने दुनिया का सिंगार किया है।

इस्लाम की ताकत / शहादत

इस्लाम पैगम्वर के जीवन-काल मे ही अरव के कोने-कोने मे फैल गया। मिस्र और अवीसिनिया ने भी इस्लाम को कवूल किया। इस्लाम की ताकत इस कुर्वानी और शहादत की वजह से दिन दूना रात चौगुनी वढने लगी।

इधर कुरैश-सरदारो ने अपना 'दस साला सुलहनामे' को तोड दिया और वनू खुजाह खानदान पर खौफनाक हमला किया। इस वार पैगम्वर ने मक्का मे दाखिल होने का पक्का इरादा जाहिर किया और दस हजार मुसलमानो के साथ अपनी तजवीज के मुताविक वहाँ गये। वहाँ उन्होंने अपनी जीत का झण्डा खुशी से लहराया, लेकिन ऐसे मौके पर भी वे रहमदिली वने रहे। उन्होंने निराकार हो कर अपने दुश्मनो तक के लिए खुदा से दुआ माँगी।

इब्राहीम के यही वारिस ने कावा मे प्रवेश किया और अन्धविश्वास को जड़मूल से खत्म कर दिया। कावा के पाक होने पर पैगम्वर ने ऐलान किया : 'कुरेश, जहालत का जमाना वीत गया है। खूँरेजी और वेरहमी मेरे पैरो के नीचे दवे है। खानदान को ले कर किये जाने वाले फर्क का जमाना भी गया। ध्यान रखो, हम सव आदम के बेटे है और आदम मिट्टी से पैदा हुआ था, इसलिए मिट्टी की इज्जत करो।''

पैगम्बर ने अपनी दरियादिली से कुरैश-सरदारो को माफ किया और जव उनके हमराहियो ने कुरैशो द्वारा जब्त दौलत को माँगने का हुक्म पैगम्वर से चाहा तो उन्होंने कहा ''नही, खुदा के बन्दे जिसे एक बार छोड देते है उसे कभी वापस नहीं लेते।''

अरब का शहंशाह

एक यतीम गडरिया आज अरब का शहंशाह था। इस्लाम की जीत मनुष्यता की जीत थी। अन्धविश्वास खत्म हुए। शराबियो का देश सदाचारियो का देश बना। सारे अरव मे अल्लाह का नाम गूँज उठा। पैगम्बर का मिशन पूरा हुआ। अपनी जिन्दगी के आखिरी साल मे पैगम्बर हज्ज के लिए गये। उनकी यह हज 'अलविदा की हज' कहलाती है। तेईस बरसो मे जिस महापुरुष ने अरब जैसे जाहिल और खूँखार मुल्क की कायापलट कर दी थी, उसे देखने लोग ठठ-के-ठठ खडे थे। अरफत के मैदान मे पैगम्बर ने अपनी आखरी तकरीर दी ''कयामत के दिन तुमसे खुदा पूछेगा कि मुहम्मद ने अपना फर्ज किस तरह पूरा किया, खुदा को तब तुम क्या जवाब दोगे ?'' एक ज़वर्दस्त आवाज उठी ''तूने अल्लाह का कलाम हमारे दिलो तक पहुँचाया और अपना काम पूरा किया।''

मुहम्मद महान् थे

कुरान शरीफ की आखिरी आयते वही लिखी गयी। हज से लौट कर कुछ ही हफ्तो बाद पैगम्बर बीमार पडे और १४ दिनो की बीमारी के बाद ६३ साल की उम्र मे ८ जून, ६३२ ई. मे वे राही अदम (निर्वाण) हुए। वे महान् थे। उमरू-बनु-हारिस ने कहा है ''खुदा के रसूल मुहम्मद अपने पीछे कोई दौलत, दास या जायदाद नही छोड गये। एक खच्चर, कुछ हथियार और कुछ जमीन उनकी थी जो मुसलमानो मे बाँटी जा चुकी थी। मौत के दो दिन पहले उन्हे सख्त अफसोस हुआ, याद आया कि उनके पास सोने के चन्द टुकडे अभी भी है। उन्होने बीवी आईशा से उन्हे खैरात करने के लिए कहा और बोले ''वे खुदा के सामने सोना लिये कैसे जा सकेगे ? खुदामन्द के सामने गरीब जाना ही ठीक है।'' जिन कपडो मे वे राही अदम हुए उन पर कई पैबन्द थे, किन्तु चारो ओर से एक आवाज उठ रही थी कि वे खुदा के आखिरी पैगम्बर है, जिनसे पूरब-पच्छम के तमाम मुल्क अपनी आध्यात्मिक प्यास बुझा सकेगे।

मुहम्मद महान् थे !!

अ-युद्ध पुरुष
डॉ. नेमीचन्द जैन
या प्रकाशन, इन्दौर

अ-युद्ध पुरुष

डॉ. नेमीचन्द जैन

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

अयुद्ध पुरुष
डॉ नेमीचन्द जैन

प्रकाशन
हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी
कनाडिया मार्ग
इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश

मुद्रण .
नई दुनिया प्रिन्टरी
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२००९, मध्यप्रदेश

प्रथम आवृत्ति · जनवरी १९८६
द्वितीय आवृत्ति · अक्टूबर १९९६

मूल्य · सात रुपये

ISBN 81-85760-43-8
अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक-सख्या
८१-८५७६०-४३-८

पूर्वकथन

मेरी इस कृति मे तीन वातो पर जोर दिया गया है। एक, वाहुवल अन्तिम नही है, अन्तिम है आत्मवल, दो, पैसा अन्तिम नही है, अन्तिम है श्रम, तीन, मातृत्व चाहे जहाँ का हो, जिसका हो, सदैव निष्काम और मानव-पीढी का रचयिता होता है।

वाहुवली के जीवन से सवन्धित इन ग्यारह प्रसगो मे यद्यपि अलग से कोई क्रम नही है तथापि 'कोलाज' की तरह कोई रचनात्मक आकृति खुद-व-खुद इसमे से वन-उभर आयी है।

वाहुवली मे वाहुवल है भरत से अधिक, किन्तु क्या यह सही नही है कि जिसमे सम्यक् कायवल है, स्वस्थ देहवल है, उसके लिए दुनिया का कोई भी काम असभव नही है ? उचित आधेय के लिए उचित आधार चाहिये। उफनती ऊर्जा को झेल सकने के लिए सुदृढ सहनन चाहिये। वाहुवली के साथ वह है। उनका शरीर ऊँचा-पूरा है, आत्मा हरी-भरी/भरी-पूरी, दोनो एक-दूसरे से होड़ ठाने है। स्पष्ट है एक विघटित-विचलित देह मे एक सशक्त आत्मा के पडाव की आशा हम नही रख सकते। वस्तुत जिसकी आत्मा जितनी ओपस्विनी होगी, उसकी काया भी उतनी ही अजिता/अपराजिता होगी।

वाहुवली यदि चाहते तो युद्ध का रास्ता अपना सकते थे, किन्तु उनके पिता ने लोकतन्त्र की नींव इतनी प्रशस्त और गहरी कर दी थी कि अयुद्ध के अलावा कोई विकल्प ही नही था। उस समय कोई राजा चाह कर भी युद्ध नही कर सकता था, प्रजा उस पर अकुश रखती थी। यह सभव ही नही था कि किसी वैयक्तिक या पारिवारिक कलह के लिए एक रक्त-रजित युद्ध लड़ा जाए जिसमे प्रजा वर्वाद हो और राष्ट्र की सपदा नष्ट हो, इसीलिए भरत-वाहुवली मे तीन निर्णायक द्वन्द्व-युद्ध हुए। वाहुवली जीत कर भी हार गये उन्होंने भरत को हराकर भी जीतने दिया। सत्ता और सपदा को मुट्ठी मे लेकर दोनो मुट्ठियाँ खोल दी, वल्कि कहे, जिन्हे लोग दोनो हथेलियो से जीवन-भर समेटते रहते है, वाहुवली ने उन्हे अपनी वलिष्ठ भुजाओ से खोवे भर-भर कर उलीच दिया। क्या [illegible] उन्होंने अपने लिए ? कुछ नहीं। सिद्ध कर दिया उन्होंने अपने अप्रतिम कृतित्व से कि अन्तिम [illegible] युद्ध का नहीं है अ-युद्ध और शान्ति का है। उन्होंने साबित किया कि खून-से-खून को [illegible] नहीं धोया जा सकता, उसे शान्ति और लोकमगल के शीतल, निर्मल जल से ही प्रक्षालित [illegible] जा सकता है। हम अ-युद्ध पुरुष को प्रणाम कर रहे है उसे, जिसे आज से हजार साल पहले [illegible] चामुण्डराय ने प्रणाम किया था। वह प्रसन्न है [illegible] है और [illegible] [illegible] हमारे भीतर [illegible] हमारे रोम-रोम को [illegible] से भर सकता है।

[illegible] है [illegible]। [illegible] [illegible] सकता है [illegible] [illegible] सकता है

किन्तु उनमे प्राण-प्रतिष्ठा गुल्लिकाअज्जी-जैसी कोई श्रममूर्ति ही कर सकती है। जब तक श्रम सम्मानित नही होगा, किसी प्रतिमा मे प्राण नही बनेगे, वह पानी-पानी नही हो पायेगी। गुल्लिकाअज्जी की गुल्लिका के जल ने ग्रेनाइट-जैसे कठोर पाषाण को भी पानी-पानी कर दिया था। है कोई आज जो गुल्लिकाअज्जी को ढूँढे ओर पाषाण मे वैसी धडकन जगाये ? नहीं है, इसीलिए हमारा सारा पुरुषार्थ विचलित और व्यर्थ है। दुर्भाग्य कि हम समाज के अन्तिम आदमी (श्रम/अक्षर) को प्रणाम नहीं कर पा रहे है !! जिसके पास धन है, मात्र उसे अन्तिम मानने की भूल हम लगातार कर रहे है। क्रान्ति-यात्रा का वास्तविक प्रस्थान-विन्दु यही है, इसीलिए कोई भी तीर्थ बनाने के लिए हम ऐसी शक्ति स्वय मे जाग्रत करे जो पाषाण को गला सके और समाज को एक प्रांजल/पुख्ता दिशादृष्टि प्रदान कर सके।

तीसरा बल भी क्षीण और धुँधता हुआ है। भारतीय नारी अपना दायित्व चूक रही है। आज हमे फिर चाहिये कोई काललदेवी, शिल्पी अरिष्टनेमि की कोई मॉ, कोई गुल्लिका की प्रसूता, काललदेवी जो एक योद्धा को धर्म की ओर मोड सके, शिल्पी की मॉ जो निष्काम वृत्ति को महत्व दे, और गुल्लिकाअज्जी जो अपनी गल्लिका-जैसी गागर मे समता और आकिंचन्य का सागर समेट सके। हमे चाहिये मातृत्व नारीत्व का वह भाग जो आज के भौतिक मूल्यो की चकाचौंध मे कही खो गया है। यदि इतिहास के इस प्रस्थान-बिन्दु पर हम अपने पंचकल्याणको, गजरथो, बिम्ब-प्रतिष्ठाओ, मस्तकाभिषेको और अजनशलाकाओ मे इन मूल्यो को लौटने मे विफल होते है तो मानिये, हमारा सपूर्ण पराक्रम निरर्थक और बेपानी हो जाएगा।

मुझे विश्वास है 'अ-युद्ध पुरुष' के स्वाध्याय मे-से उन मूल्यो की वापसी होगी जिनसे सारे विश्व मे अयुद्ध-अहिसा का जयघोष सभव हो सकेगा।

- नेमीचन्द जैन
संपादक 'तीर्थंकर'/शाकाहार-क्रान्ति

प्रणाम !! भेद-विज्ञान के सूर्य-पुरुष !!!

जिस प्रकार मलिन स्वर्ण भी अग्नि द्वारा सस्कारित हो कर भीतर-बाहर दोनो ही प्रकार के मलो से मुक्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह जीव ध्यान द्वारा शरीर और कर्मबन्ध दोनो से रहित हो कर सिद्ध हो जाता है।

क्रोध चार प्रकार का होता है पत्थर-रेख, पृथ्वी-रेख, धूलि-रेख, और जल-रेख।

मान भी चार तरह का होता है पत्थर-जैसा, अस्थि की भाँति, काठ-समान, बेत-सदृश।

माया भी चार किस्म की है बॉस की जड़-जैसी मेढे के सीग-जैसी, गोमूत्र-जैसी, खुरपा-जैसा। उक्त भेद वस्तु की कुटिलता पर आधारित है।

लोभ के चार प्रकार है क्रिमिराग-सा, चक्रमलोपम, शरीर-मल-जैसा, हल्दी-समान। ये भेद रगो की प्रगाढता पर आधारित है।

अजितवीर्य बाहुबली की विजय-कथा कषायो पर दिग्विजय की परम गौरवमयी गाथा है। जो क्रोध की भदकता, मान की कटुता, और लोभ की प्रगाढता पर अपनी विजय-पताका फहराता है, वह ससार के लिए न केवल प्रेरणा अपितु एक अविचल जीवन्त प्रमाण बन जाता है।

भगवान बाहुबली की तपश्चर्या अमोघ-अमर थी, कौन छू सकता है उन ऊँचाइयो को ? इसलिए भेद-विज्ञान का यह अदम्य आलोक-सपन परम पुरुष प्रणम्य है, जिसके चरणो पर अखण्ड स्वय नतशीश हो गयी, उसके आगे नमन-प्रणमन के लिए भला अब क्या शेष रह गया है ?

अ-युद्ध पुरुष

युद्ध प्राय होते है

अ-युद्ध की ओर कोई नही जाता

और फिर युद्ध यदि भीतर हो तो

वह विकास का सूचक हो सकता है

किन्तु जो जंग बाहर छेडी गयी है

और जिसमे लाखो-लाख स्वाहा होने को है

उसे कोई सिर झुकाये कैसे मान सकता है ?

उन दिनो मानव-सभ्यता अपने मुख पर से

अवगुण्ठन उठा रही थी

कर्म-संघर्ष के लिए लोग कमर कस रहे थे कि नाभि कुलकर का उदय हुआ।

उन्होंने मानव-सभ्यता का मगल सूत्रपात किया।

सारा वातावरण बदल गया।

श्रम-विभाजन हुआ , और सारा मानव-समाज एक-दूसरे की मदद मे जुट गया।

खेती, रक्षा, लिखा-पढी, सेवा - सारे काम/कर्त्तव्य बँट गये/बाँट दिये गये।

विशेषज्ञताएँ बनी,

मानव-सभ्यता, सभ्यता मे सस्कृति की ओर अभिमुख हुई।

ऐसे मे प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का अभ्युदय हुआ

वे नाभिनन्दन थे

विकास के नाभीय बिन्दु।

जैसे नाभि से रक्त-सचार जुडा होता है, वैसे ही उनमे सारी मनुजता जुड गयी।

गणित

लिपि

नृत्य

संगीत

सारी कलाएँ आविर्भूत/विकसित हुई।

भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए

ज्येष्ठ वे थे

भरत के अनुज थे वाहुवली

उनकी श्रेष्ठताएँ अलग थी।

भरत ने दिग्विजय की,

वाहुवली आत्मवल के प्रतीक वने।

भरत ने हिंसा का आश्रय भी लिया, किन्तु वाहुवली वाहुवल मे वहुत आगे आये।

उन्होंने

अ-युद्ध का मार्ग आविष्कृत किया।

वे शान्ति के शिल्पी वने।

अ-युद्ध यानी अहिंसा।

[illegible] ने अहिंसक संस्कृति का सृजन/शिल्पन/प्रवर्तन किया।

[illegible] भरत की सेनाएँ युद्ध के लिए [illegible] ने [illegible] किया।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

ससार को दिया।

सार्वजनिक हिसा के दुष्परिणाम/विषफल उन्होंने जाने,

देखा कि सुहागन की मॉग पुॅछ रही है

बच्चे अनाथ हो रहे है

बीमारियॉ फैल रही है

अपगों/अपाहिजो की आबादी बढ रही है

समाज आतंकित/भयभीत है

कलाएँ अवरुद्ध हुई है।

मनुज का एक-दूसरे पर से विश्वास उठ गया है।

व्यापार-व्यवसाय ठप्प हुए है

कोषागार व्यर्थ ही खाली हुए है

गाँव उजड गये है

मनुष्य कलकित हुआ है।

ये सारे दु स्वप्न बाहुबली के सामने है, एक सृजनधर्मी के समक्ष है।

उन्होंने जनता-जनार्दन को युद्ध की भट्टी मे झोकने से इनकार कर दिया।

और मानव-सभ्यता के शैशव मे ही स्पष्ट कर दिया कि सघर्ष ज्यादातर वैयक्तिक होते है

और फिर उनकी लपटे फैल कर सारे समाज को भस्म कर डालती है।

बाहुबली ने हिंसा की असख्य आशकाओं के बीच अहिंसा का शखनाद किया।

व्यक्ति पर विजय प्राप्त की।

विजयोन्माद के आकिंचन्य/और उसकी व्यर्थता को स्पष्ट किया।

सिद्ध किया कि

अहिंसा जननी है सुख की, शान्ति की समृद्धि की, बन्धुत्व की।

वे प्रथम पुरुष थे जिन्होंने युद्ध से युद्ध किया,

अ-युद्ध की सत्ता को स्थापित किया।

कौन है

जो कहे

कि व्यक्तिगत रागद्वेष सार्वजनिक क्षतियो के कारण नही बन सकते ?

लडें हम, किन्तु जाने कि लडाई आखिर क्यो और किसलिए है ?

वह आदमी जो लड़ना चाह रहा है ओर जिस पर लडाई का कारण बिलकुल स्पष्ट नहीं है,

युद्ध व्यर्थ ही उस पर थोपा जाता रहा है।

वस्तुत युद्धो मे निरीह/निर्दोष मारे जाते हे और धूर्त/शैतान बच जाते है।

बाहुबली ने निरीहो की रक्षा की और अ-युद्ध-सस्कृति को जन्म दिया।

नमन उस अ-युद्ध मनीषी को !!!

संसार को दिया।

सार्वजनिक हिसा के दुष्परिणाम/विषफल उन्होने जाने,

देखा कि सुहागन की मॉग पुँछ रही है

बच्चे अनाथ हो रहे है

बीमारियॉ फैल रही है

अपगो/अपाहिजो की आबादी बढ रही है

समाज आतंकित/भयभीत है

कलाएँ अवरुद्ध हुई है।

मनुज का एक-दूसरे पर से विश्वास उठ गया है।

व्यापार-व्यवसाय ठप्प हुए है

कोषागार व्यर्थ ही खाली हुए है

गाँव उजड गये है

मनुष्य कलकित हुआ है।

ये सारे दु स्वप्न बाहुबली के सामने है, एक सृजनधर्मी के समक्ष है।

उन्होने जनता-जनार्दन को युद्ध की भट्टी मे झोकने से इनकार कर दिया।

और मानव-सभ्यता के शैशव मे ही स्पष्ट कर दिया कि सघर्ष ज्यादातर वैयक्तिक होते है,

और फिर उनकी लपटे फैल कर सारे समाज को भस्म कर डालती है।

बाहुवली ने हिसा की असख्य आशकाओ के बीच अहिसा का शंखनाद किया।

व्यक्ति पर विजय प्राप्त की।

विजयोन्माद के आकिचन्य/और उसकी व्यर्थता को स्पष्ट किया।

सिद्ध किया कि

अहिंसा जननी है सुख की, शान्ति की, समृद्धि की, वन्धुत्व की।

वे प्रथम पुरुष थे जिन्होने युद्ध से युद्ध किया,

अ-युद्ध की सत्ता को स्थापित किया।

कौन है,

जो कहे

कि व्यक्तिगत रागद्वेष सार्वजनिक क्षतियो के कारण नही बन सकते ?

लर्डे हम, किन्तु जाने कि लडाई आखिर क्यो और किसलिए है ?

वह आदमी जो लडना चाह रहा है और जिस पर लडाई का कारण बिलकुल स्पष्ट नहीं है,

युद्ध व्यर्थ ही उस पर थोपा जाता रहा है।

वस्तुत युद्धो मे निरीह/निर्दोष मारे जाते है और धूर्त/शैतान बच जाते है।

बाहुबली ने निरीहो की रक्षा की और अ-युद्ध-सस्कृति को जन्म दिया।

नमन उस अ-युद्ध मनीषी को !!!

ज्येष्ठता / श्रेष्ठता

सूरज निकला ही है

दिशागनाओ के ललाट पर रक्ताभ तिलक अभी कुछ

क्षणो पहले ही लगा है

कि

भरत-बाहुबली की सेनाएँ आमने-सामने हो गयी है।

तलवारे निकल आयी है

हाथी चिघाड रहे है

अश्व खुन्दी कर रहे है

रथ के पहियो ने गतियाँ भर ली है

योद्धाओ की भौहे तन गयी है

कि

सैनिको को मन्त्रियो का धीरे-गंभीर स्वर सुनायी दिया है

तलवारे म्यान मे लौटने लगी है

हाथियो ने अनकुश मौन ले लिया है

अश्वारोहियो ने वल्गाएँ तान ली है

पदाति रुक गये है

रथचक्रो की गतियॉ स्तब्ध हुई है

कवच-वन्ध ढीले कर लिये गये है

तव राज-महाराजे अराजक/निरकुश नही थे

मन्त्री विवेकी थे

सदसद् मे भेद करते थे

राजा और राजकीय निर्णयो का वे निष्पक्ष मूल्यांकन और समीक्षण करते थे।

राजा उनका और उनका मन्त्रणाओ का सम्मान करता था

गणतन्त्र तब एक प्रशस्त/प्रामाणिक राजव्यवस्था के रूप मे विकसित हो गया था।

ऐसे मे मन्त्रिमण्डल की राय व्यक्त करते हुए महामात्य ने कहा-

"आप दोनो पृथ्विपुत्र है

परम् ओपवान् और प्रतापी है

श्रेष्ठ है

प्रजाओ का रक्त न बहने दे

उनकी रक्षा करे

उन्हे अभय दे

और द्वन्द्व से, अन्तर्द्वन्द्व को जीते, ताकि

प्रजाएँ अविच्छिन्न/शान्त/आश्वस्त रहे और देखे कि राज्य-परम्पराएँ

व्यक्तिगत नही प्रजागत होती हैं,

'राजा के बाद प्रजा' का जमाना लद चुका है

अब 'राजा बाद मे, प्रजा पहले'- का ऋषभ-वाक्य ही एकमेव विश्वसनीय है, सफल/सार्थक है।

आप दोनो तीन युद्ध करे दृष्टि, जल, मल्ल।"

सहमति मे चतुर्दिक् उल्लास का समुद्र उमड पडा है

सेनाएँ लौट गयी है

भरत ने बाहुबली को

बाहुबली ने भरत को

देखा है।

दूसरा दिन है।

दृष्टियुद्ध आरम्भ हुआ है

दोनो भाइयो की ऑखे निर्निमेष/अपलक है

भरत ज्येष्ठ है, किन्तु कद मे छोटे है

बाहुबली अनुज हैं, किन्तु भरे-पूरे, ऊँचे है

उनकी झुकी आँखो के झुकने का कोई प्रश्न ही नही है

वे सहज/स्वाभाविक है

अविचल/अपलक है

भरत की पलके कम्पित है, श्रान्त और विचलित है अत

पराजित हुए है

बाहुबली जीत गये है

पहला अध्याय इस तरह समाप्त हुआ है।

नाटक का द्वितीय अंक आरम्भ होने को है

विशाल सरोवर मे अनुज-अग्रज उतरे हुए है

तटप्रदेश विशाल जनमेदिनी से खचाखच भरा है

बाहुबली अपनी बलिष्ठ भुजाओ से जल को आन्दोलित किये हुए है

भरत अपनी ओर प्रेषित उत्तुग तरगों को लौटा नही पा रहे है

उनके नथुने भर गये है, श्वास चढ गया है,

वे हॉफ रहे हैं

जलयुद्ध दुस्सह हुआ है

घोषणा हुई है कि इस वार भी विजय-पताका वाहुवली के हाथ रही है,

भरत हार गये।

युद्ध का अन्तिम अध्याय उघड रहा है।

दोनो भाई अखाडे मे है।

जनमेदिनी जय-जयकार कर रही है।

लग रहा है जैसे दो नर-सिंह की सम्मुख हुए है

दोनो की भुजाएँ युद्ध की प्रतीक्षा कर रही है

युद्ध शुरू हुआ है · ·· ।।।

वाहुवली ने भरत को ऐसे उठा लिया है जैसे कोई वालक पाटल-पुष्प उठा लेता है।

या जैसे गगन-मण्डल मे मेघावलियाँ तैरती है।

भरत को यह सव असह्य हुआ है

उन्होंने चक्र का ध्यान किया है

चक्र अमोघ है

वह किसी को क्षमा नही करता, किन्तु वह भी

वाहुबली की प्रदक्षिणा कर लौट गया है

उसने समर्पण कर दिया है

वह ऐसे ही पराभूत हुआ है जैसे अन्धकार प्रकाश से, असत्य सत्य से और

हिसा अहिसा से हार जाती है।

इस वीच अजितवीर्य बाहुबली ने अनेक अन्तर्यात्राएँ कर ली है

ससार की असारता ने उनके चरण छू लिये है। वह कह रही है-

> ''प्रभो, आप साक्षात् कामदेव है
>
> महान् है
>
> यह जगत् भगुर है,
>
> जो क्षणभगुर नही है, विभो, आप उसे पाये/खोजे
>
> अब उस दिशा में ही अपने पग उठाये।
>
> यहाँ क्या है जगन्नाथ,
>
> और वहाँ क्या नही है जगत्पते ।।
>
> छोडिये इस मकडजाल को और अमरता का वरण कीजिये।''

इधर भरत भी शान्त हुए है

वे क्षमा के लिए उद्ग्रीव/उत्कण्ठित है

लगता है जैसे

क्रोध ने मुनित्व ले लिया है

और प्रतिहिसा सन्यासिनी हुई है

अनायास ही भीतर-बाहर/यत्र-तत्र-सर्वत्र निर्मल हुआ है

बाहुबली आत्मवैभव पर मुग्ध है और इसलिए अन्दर की ओर निर्निमेष हुए है

उनकी ऑख विश्व-वैभव से हट गयी है

उनके पग वन की ओर उठ गये है

करुणा और क्षमा, समता और मनुजता,

शान्ति और सरलता

उनमें जीवन्त हुए है

वे हरख रहे है

चूॅकि उन्होने युद्ध के क्षणो मे सब कुछ हार दिया है

भरत साश्रु विलख रहे है

उन्होंने क्षमा का मुकुट धारण किया है,

वे करुणा की गोद मे जा वैठ है।

इस वीच

आकाश मे कहीं

ऋपभ के वरद हाथ वरवस उठे हे ओर दोनो के माथे पर चॉद-सूरज से आ गये है।

घटित होना एक भोर का

अजितवीर्य बाहुबली कायोत्सर्ग मे खडे है

घनघोर घटाएँ घिरी है

बिजलियाँ कडक रही है

अन्धकार गहन है

बहलीवन का जनविहीन/वियावान प्रदेश है

वे स्वय मे गहरे/बहुत गहरे उतरे हुए है

देह का कोई भान कहाँ रहा है उन्हे ?

लग रहा है उन्हे कि वे देह नही है

आमूलाग्र विदेह है

देह झूठ है

विदेह सच है

मन की सारी चचलताएँ शान्त है

चित्त की आँख अप्रमत्त खुली है।

झडे लगी है

प्रकृति उनका अजस्र अभिषेक कर रही है

ध्यान-धरा पर प्रश्न अकुरित है

"कौन हूँ मै

कहाँ हूँ मै

क्या हूँ मै

गन्तव्य क्या है मेरा

क्या है आदि, क्या है अन्त

क्या यही अन्त है

यही आरम्भ है

अन्दर के हर गलियारे से उनकी पहचान हुई है

वहाँ का कोई टापू अजाना उनके लिए नही हे

जन्मजन्मान्तर के इतिहास-भूगोल बारीकियो मे उनके सामने उपस्थित हुए है

अभी, यहाँ, इसी क्षण

उनसे कुछ भी छुपा कहाँ रह गया हे ?

किन्तु

उस दिन भरत से हुआ युद्ध

· यह तप · यह तपोवन ··

यह दो पगतलियो-जितनी भूमि ·

किसकी है यह ?

कौन है इसका स्वामी ?

भरत की ही तो है यह · ···

· · उन्ही की ·· ·

जो भारताधीश है, पृथ्विनाथ है, छह खण्डो के प्रभु है ···

और मै ·····

अहकार के ऐरावत पर से उनका मन अभी उतरा नही है

चित्त बार-बार अवरोहण पर आ कर आरोहण पर पहुँच रहा है

यद्यपि आत्मसगीत अपनी चरम सीमा पर निनादित है

तथापि

अहंकार का कॉटा अभी स्वरभग किये हुए है

भगवान् ऋषभनाथ के ध्यान मे इस स्थिति का अंकन हुआ है

ब्राह्मी और सुन्दरी उनकी सन्निधि मे है

पिता ने पुत्र को सपूर्ण/सर्वांग व्रती के रूप मे देखना चाहा है

व्रती को शल्य कैसी ?

भला कॉटा जब तक कोई चुभा होगा तब तक तप निरापद/निष्कण्टक कैसे होगा ?

दोनो बहिने चिन्तित है

महीनो से चली आती साधना अभी फलीभूत नही हुई है
यह मन का आँगन है
यहाँ सब कुछ सघन, सूक्ष्म और प्रच्छन्न है
देह सूचित करता अवश्य है, किन्तु
उस बेचारे की भी सीमाएँ है
इसलिए भीतर जो अनुक्षण घटित है उसे कोई कैसे जाने ?
बहिने खडी है
भरत भी।
बहिने कह रही है
"भाई ! तपस्या सचमुच तुम्हारी अद्भुत/अद्वितीय है
भुजगो ने बामियाँ बना ली है
दीमक ने टीले खडे कर लिये है
पक्षियो ने घोसले बना लिये है
बया, नीलकठ, श्यामा, दामा, भुजगा नीड़ बनाये हुए है
पपीहे की चोच उठी हुई है
पर सुने बन्धु !
माना, हाथी पर चढने का शौक तुम्हे रहा है,
किन्तु गार्हस्थ्य तुम त्याग चुके हो
जब वह छूटा है तब गजारोहण भी छूटा समझो
हाथी पर से नीचे उतरो बीर।"

बाहुबली ने बहिनो के बोल सुन लिये है
उन्होंने श्लेष खोल लिया है
लग रहा है उन्हे कि अहं का वासुकी अभी भी कुण्डली मारे भीतर कही बैठा है

सहसा उनमे आकिचन्य/साम्य/सौम्य/और/ मार्दव का महासिन्धु तरगायित हुआ है

वे आत्मविभोर हुए है

ऐसे द्रवीभूत/आलोकपूर्ण क्षणो मे उनके भीतर एक भोर घटित हुआ है

उनके लिए सब अपने हुए है

अब उनमे कोई अहकार नही है-न तप का, न ज्ञान का

और ·· और उन्होंने कैवल्य की स्वर्णभूमि मे पॉव रख दिया है

पिता से पहले वे वहाँ है।

चारो ओर एक नयी ही आभा फैल गयी है

नदियो मे

प्रपातो मे

झीलो मे

झझाओ मे

एक नया ही राग झंकृत है, वीतराग।

सब उनकी वन्दना को दौड पडे है

शुद्धचेता भरत ने भी उनकी वन्दना की है

वे कह रहे है

'भरत का चक्रवर्तित्व तो आपकी चरणरज भी नही है प्रभो !

धन्य है यह तप '

और पिता से पहले ही उनके पादमद्म

प्रतीक्षित कल

युद्धस्थल बाहुबली के जयघोषो से गूँज रहा है

भरत हार गये है

किन्तु

बाहुबली की आँखो मे एक नया ही ससार/साम्राज्य अँगडाई ले रहा है

उन्होंने एक ही क्षण मे सारा राज्य भरत

की हथेली पर रख दिया है

और स्वय

निरम्बर

किसी अपराजित सपदा की खोज मे निकल पडे है

उनका तन-मन किसी परम उपलब्धि के लिए मचल उठा है

उन्हे एक ही क्षण मे भगुरता/अमरता का सम्यक्‌बोध हुआ है

उनके पलक-पृष्ठो पर अध्यात्म की एक नयी ही पाण्डुलिपि ने आकार ले लिया है

पाँवो मे कोई अविचल साधना-अथक/अपराभूत साधना-लिपट गयी है।

लौकिक शूरता अलौकिक शौर्य से हार गयी है !!

भरत सोच रहे है

कैसा महान् है मेरा अनुज !!

उनके मानस मे साम्य, सतुलन, शान्ति, सतोष के अविरल प्रपात खुल गये है

वे भी पार्थिवता की व्यर्थता को जानने लगे है/जान गये है

वैसे उस दिन भी उन्हे एक शूल चुभा था वे वृषभाचल पर

अपना नाम उत्कीर्ण करने के लिए कोई स्थान नही खोज पाये थे।

बाहुबली के चरण कल की ओर है

सम्यक्त्व की कला की ओर वे तेजी से यात्रारत है

उन्हे 'अभिनव कल' की उद्ग्रीव प्रतीक्षा है

ऐसे कल की जो किसी कल से कभी हारेगा नही

और जिसके गर्भ मे सारी सुबहे एक साथ होगी।

उन्होंने त्याग किया है।

त्याग

सजल मेघ है, उसमे धरा की संपूर्ण उर्वरता स्पन्दित है

इसीलिए

अनुज ने अग्रज की हथेली पर किसी साम्राज्य-लिप्सा को महंदी की तरह मॉड दिया है

अत्यन्त मुग्धभाव से

त्याग यह प्रणम्य है, प्रणम्य है गोम्मटेश्वर !!!

माँ : एक वह / एक मैं

"तो यह है मेरी पूज्या माँ का सपूर्ण स्वप्न"-सेनापति चामुण्डराय ने बाहुबली-प्रतिमा के निर्माण की परिकल्पना देते हुए शिल्पी अरिष्टनेमि से कहा। शिल्पी ने सबकुछ तन्मयता से सुना और देखते-देखते उसकी ऑखो के सामने एक रम्य कल्पना कौध गयी। एक भव्य/मनोज्ञ/सुविशाल प्रतिमा आ खडी हुई, किन्तु कला के साथ कॉचन की लालसा भी उसके तन-मन मे भभक उठी। वह बहुरगी स्वप्नो मे डूब गया।

सेनापति ने उसका पार्थिव स्वप्न तोडते हुए कहा-"तो बताओ शिल्पी, तुम मेरे इस कला-स्वप्न को कितनी अवधि मे साकार कर सकोगे ?"

अरिष्टनेमि अवाक् खडे है। द्विविधा मे कुछ बोल नही पा रहे है, किन्तु सेनापति कह रहे है-"शिल्पी, सबकुछ जीवन्त हो, जयवन्त हो, लगे कि जैसे पाषाण मे किसी ने एक महाकाव्य का सृजन किया है।"

अरिष्टनेमि के मन मे लालसाएँ बढने लगी। मौन तोडते हुए चामुण्डराय ने कहा- "तो मान लिया जाए कि तुम्हारी कला मेरे इस कोमल-कठोर स्वप्न को नही झेल सकेगी ?"

"नही, सो नही है सेनापते! बात दूसरी ही है। मै सोचता हूँ क्या हम श्रमिको को इस कार्य के निमित्त भरपूर पारिश्रमिक दे पायेगे ?" कलाकार ने सकुचाते हुए कहा।

"अवश्य" -सेनापति ने अपूर्व दृढता के साथ कहा।

"तो सेनापते! उस पाषाण को तो हम वक्षस्थल तक उठा लायेगे, किन्तु उसके बादे जो प्रस्तर-खण्ड-कण गिरेगे उनकी तोल का स्वर्ण शिल्पियो को देना होगा।" चामुण्डराय ने पुलकित मन से हामी भर दी।

पहली खेप की तोल का सोना लिये अरिष्टनेमि अपने गाँव पहुँचा है। माँ अपने लाडले की अगवानी के लिए आगे आयी है। उसे स्वर्ण नही, बेटा चाहिये, किन्तु यह क्या, जैसे ही शिल्पी ने माँ के चरण छुए है और स्वर्ण का भारा उठाया है उसके दोनो हाथ निर्जीव पड गये है।

माँ ने इस घटना को तुरन्त समझा है। मातृत्व सारे ससार का एक-जैसा है फिर वह चामुण्ड की माँ का हो या अरिष्टनेमि की माँ का। उसने कहा है-"बेटे, सुनो एक माँ पाषाण की तोल का स्वर्ण दे रही है और दूसरी पाषाण के बदले स्वर्ण ले रही है। बेटे, कला का मूल्य काचन कभी नहीं है। वह स्वर्ण/सपदा से परे एक अलौकिक तोष है। लोभ नही, त्याग मे कला है। पाषाण छोडना है इसीलिए उसमे से मूर्ति उभरती है।" और यह क्या पलक झँपते अरिष्टनेमि की जकडन खुल गयी है और वह माँ के पादमूल पर मस्तक रख कह रहा है-"माँ, शुभाशीष दो मुझे स्वर्ग नहीं श्रेष्ठताएँ/सफलताएँ मिले।"

विजयिनी गुल्लिका / पराजित स्वर्णकलश

शिल्पी अरिष्टनेमि की छैनी चल रही है। वह नासिकाग्र की रचना कर रहा है। इसके बाद वह भगवान् बाहुबली के अर्द्धोन्मीलित नेत्रो पर आयेगा।

ध्यान की इस मुद्रा को

वह बडे ध्यान से निर्निमेष उकेरेगा,

उसके हाथ मे कला सजीव हुई है। उसने पाषाण को बहुआयामिता प्रदान की है।

उसे सुध नही है।

वह अनवरत/अविराम/अभीक्ष्ण अपनी बहुविध छैनियाँ चुन/बदल रहा है।

उसे नासिकाग्र से चाक्षुष संगति बैठानी है। दोनो अक्षि-कोण नाक की नोक पर सधे ऐसा कुछ वह कर डालना चाहता है।

भगवान् ने भीतर तो दृष्टि को समायोजित कर लिया है, किन्तु शिल्पी के भीतर अभी उसका समायोजन परिपूर्णता के शिखर पर नही आया है।

उसकी टाँकी चल रही है, और अब वह क्रमश. सफलता की ओर आने लगा है। उसकी आँखे मुस्करा रही है। नथुने थिरक रहे है। छैनियो मे-से एक अपूर्व आध्यात्मिक संगीत बज रहा है। भेद-विज्ञान के सरगम पूरे यौवन पर आ गये है। वह विभोर है। उसकी कल्पना जीवन्त हुई है।

वह समाधि के उस शीर्ष पर आ पहुँचा है, जिस पर पहुँचते ही न केवल नासिकाग्र वरन् भगवान् बाहुबली की सपूर्ण जीवन-साधना अपनी तमाम विवृतियो मे दिगम्बर हुई है। छैनी चल रही है। चिनगारियाँ निकल रही है। हथौडा कोमलतर हुआ है। उसे सोचना पड रहा है कि कहां वह कोमल, कोमलतर प्रहार करे। और अँगुलियो की माँसपेशियो को तो चेतना के उन आदेशो का पालन करना पड रहा है जो बाहुबली को उनकी समग्रता मे उस पाषाण-खण्ड को सौंप देना चाहती है।

अँगुलियाँ भक्ति-विह्वल है और मीरा-सी गा रही है ऐसे पद, जो शिल्पी के हर शिल्प-स्वप्न को मूर्तिमन्त कर सके।

इधर रोज ही एक वृद्धा उन अँगुलियो का पाषाणी लालित्य देख जाती है और प्रणाम कर जाती है भगवान् बाहुबली की उसे मूर्ति को जो क्रमश उभरती आ रही है।

वह उत्कण्ठ/उदग्रीव प्रतीक्षा कर रही है कि कब मूर्ति बने और कब वह उसका महामस्तकाभिषेक करे।

वह फटेहाल है, दरिद्रता ही जैसे मूर्तिमन्त हुई है उसमे।

किन्तु अभिषेक-पात्र उसने अद्भुत बनाया है। गुल्लकेय फल से एक सुघड/सुन्दर 'गुल्लिका' उसने बनायी है उतनी निष्ठा और उतने ही श्रम से जितनी निष्ठा और जितने श्रम से अरिष्टनेमि भगवान् की प्रतिमा बना रहा है।

उसका चिरपोषित स्वप्न है कि वह अकस्मात् ही दुग्धपूरित 'गुल्लिका' के साथ मूर्ति-मस्तक तक पहुँच जाएगी और अपनी गुल्लिका से दूध की ऐसी अजस्र धार उन्मुक्त करेगी कि उस सारी प्रतिमा को निमग्न कर देगी वह इसीलिए उसने अपनी गुल्लिका मे भारतीय मातृत्व को सयोजित किया है

अरिष्टनेमि की माता

चामुण्डराय - सेनापति चामुण्डराय की माता

का मातृत्व उसकी उस अकिचन गुल्लिका मे अनाहूत आ गया है

वह स्वय तो इस वन्दना मे सम्मिलित है ही

उसका मगल सकल्प है कि इस मनोरम मातृत्व से वह पहला अभिषेक करे, किन्तु प्रश्न जटिल है और पूरी शक्ति से खडा है उसकी चेतना पर कि क्या राजकीय शक्तियाँ उसे वहाँ तक जाने देगी ?

कौन उसे इतना गौरव-मण्डित करेगा ? कौन पूछेगा उसे ? दुत्कार दिया जाएगा उसे बुरी तरह।

वही हुआ भी है।

महामस्तकाभिषेक की मगलबेला समुपस्थित है

सगीत गूँज रहा है

चारो ओर जन-समुद्र तरगायित है

सेनापति चामुण्डराय कलश-पर-कलश ढार रहे है

किन्तु यह क्या !!!

गुल्लिकाअज्जी को आने नही दिया गया है। वह निराश हुई है। उसकी आँखो मे अश्रु-सिन्धु है

दुग्धधार ने नाभि से नीचे आने से इनकार कर दिया है

सबकुछ थम गया है। आश्चर्य मे डूबे हुए सेनापति चामुण्डराय अपने पूज्य गुरु नेमिन्द्राचार्य के चरणो मे झुके हुए है और सुन रहे है -

'सेनापते, अहकार छोडना होगा। पहली धार गुल्लिकाअज्जी की होगी

सादर लाओ उसे।

श्रम को प्रणाम करो।

श्रमण से पहले उसे प्रणाम करो सेनापते !!

श्रमण पर पहली धार पसीने से बने दूध की होगी, वात्सल्य की होगी, शिल्पी की माँ, सेनापति की माँ, और 'गुल्लिका' की माँ -

मातृत्व की यह त्रिवेणी 'गुल्लिका' मे समायी हुई है

जब यह धार महामस्तक से उतरेगी तब चरणतल तो क्या तलातल तक अवोध चली जाएगी सेनापते !!

अत

जब तक उस मूर्तिमती भक्ति को प्रणाम नही करोगे, उस जीवन्त श्रम के चरणो मे मस्तक नही झुकाओगे, उस सर्वहारा चेतना को नमन नही करोगे, जो गुल्लिकाअज्जी के रूप मे प्रस्तुत हुई है

तब तक तुम्हारा महामस्तकाभिषेक-सकल्प सार्थक नही होगा सेनापते !!

और

लोकचक्षुओ ने देखा कि गुल्लिकाअज्जी की दुग्ध-धार विद्युत्गति से भगवान् के चरण-प्रदेश तक आ गयी है।

चारो ओर जय-जयकार हुआ है

दिग्दिगन्त गूँज उठे है

सब देख रहे है कि गुल्लिका विजयिनी हुई है

और स्वर्णकलश हार गये है।

श्रम को शक्ति और संपदा ने प्रणाम किया है।

और फिर उस क्षण के बाद

कौन पा सका है आज तक गुल्लिकाअज्जी को। तलाश आज भी है, इस क्षण भी है, और शायद आगामी क्षण भी भी वह उतनी ही उत्कट बनी होगी।

आकाश ने किये प्रणाम; धरती ने छुए चरण

परम् तपस्वी भगवान् बाहुबली निश्चल/अकाम खडे है

आकाश उन्हे अपलक ताक रहा है

भरत और उनकी पत्नी निर्निमेष उन्हे देख रहे है

चित्त मे हुआ है-'अकाम साधना का धनी यह कामकुमार कितनी कठोर है इसकी तपश्चर्या !! अपरिमित बाहुबल का स्वामी कामाधिपति यह समन्तभद्र अपनी कांचन काया को तप की आँच मे कितना अकिंचन किये दे रहा है !!! प्रणम्य है यह, प्रणम्य है इसके युगल चरण !!'

दोनो भाव-विह्वल है

श्रद्धाभिभूत अंजलियाँ नमन मे बँधी है

आँखो के मंगल कलश करुणा से छलक रहे है

भरत कह रहे है-

"प्रभो, आप सर्वतोभद्र है। आप आप-जैसे ही है, अनुपम, अद्वितीय !!! आपने कामदेव हो कर भी अकाम साधना की है, अहैतुक तप किया है। मोक्ष तो स्वयं चरणो मे आ पड़ा है। उठाये उसे और अपने भुजबन्धो मे समेटे। आप राजा है, किन्तु आपने राग से अराग किया है

बालक हो कर भी आपने पण्डितो के ज्ञान को अतिक्रान्त किया है। अपर हो कर भी आपने पर की इयत्ता को समझा है /जाना है। मै तो आपके बाहुबल से मप गया हूँ। आपने मुझे धरती दी है। आप परमेश्वर है, परोपकार मे एकमेव, अनुपम, अद्वितीय, अप्रतिम। आप-जैसे तपोधन, ऋषभ-जैसे जगद्गुरु इस जगत् को सहस्राब्दियो मे कभी एक मिलते है,

लेकिन, हम-जैसे, रसना और स्पर्श की लालसा के क्षुद्र कीट असंख्य हैं. अ-गिन है, घर-घर है, डगर-दौर है,

क्रोधी, दूसरो को कष्ट मे झोकनेवाले, सविष, पापबहुल, पराधीन- [illegible] नहीं हैं? "फिर

फिर तो सारा ब्रह्माण्ड दौड़ पडा और एक अदृप्त नाद उठा-चाँद-[illegible], [illegible]-दिन, उषस्-सन्ध्या, प्रपात-सरित् सब उन चरणो मे झुक गये, यहाँ तक कि [illegible] उनके चरणो मे आ बैठा, चारो ओर अपरिसमाप्त प्रकाश है।

भरत अयोध्या लौट आये है। वे धन्य हुए है। प्रजा धन्य हुई है [illegible] हुआ है समत्व से, शोभा-श्री से। आकाश ने नमन किया है और [illegible]। एक लोक[illegible] पुलक ।

यह वही है क्या ?

प्रेक्षागृह खचाखच भरा है, और · ····
और सबकी ऑखे मच पर अपलक केन्द्रित है।
रूपसि नीलाजना के अविश्रान्त थिरकते/मचलते चरण प्रलय ढा रहे है।
नीलाजना से अपना सौन्दर्य-भार सँभाले नही सँभल रहा है
वह उन्मत्त है,
दीपक की अन्तिम अदम्य दीप्ति की भॉति।
भगवान् ऋषभदेव उसे निर्निमेष देख रहे है, किन्तु यह क्या · ·
नीलांजना के पॉव लडखडाये है
उसकी सॉस अन्तिम प्रस्थान की अनी पर ठीक वैसे ही उद्ग्रीव है जैसे
किसी तृण-शिखर पर चढती दोपहरी मे सूखता ओस-बिन्दु।
दृश्य वदल गया है। अनजाने कोई पटाक्षेप हुआ है।
नीलाजना अब नही है। कोई और नीलाजना ने नीलाजना की जगह ले ली है।
ऋषभदेव जान गये है कि नीलांजनाओ का यह क्रम अबाध/अटूट है।
इसे तोडने का कोई सकल्प उनमे सिर उठा रहा है/उठा चुका है।
उन्हे जीवन-मरण के पार तुरन्त निकल जाना होगा,
यह राह नीलाजनाओ के आगे की राह हे
भगुरताओ को अतिक्रान्त करती
मनुजता को सफलताओ से अभिषिक्त करती
यह अपराजिता डगर है।
और विरक्ति की नवनीलाजना भगवान ऋषभदेव के मनोमच पर नृत्य करने लगी।
वैराग्य की यह प्रथमानुभूति थी उस मन्वन्तर की,
जो लोककल्याण का शुभकर स्वरूप ग्रहण करने को आतुर थी।
उन्हे लगा नीलांजना एक सूचक है,

संभव है ....

एक चिडिया आयी और उस विशाल प्रतिमा के सामने वैठ गयी। दूसरी आयी और वह भी निर्निमेष बैठ गयी।

तीसरी बैठी ही थी कि मेरा ध्यान चिडियो के झुण्ड की ओर गया और गया [illegible], उस विशाल प्रतिमा की ओर जो ध्यानस्थ खडी थी और जिसकी करुणा का कोई छोर न था। चिड़ियाँ चहक रही थी और मै इस सारे दृश्य को भावविह्वल देख रहा था। मैं देख रहा था चकित [illegible] उस वीतराग मुद्रा को। देख रहा था कि लताएँ वढती जा रही है और प्रतिमा भी अपनी [illegible] मे ऊर्ध्वग है। मुझे लग रहा था कि जैसे दोनो मे कोई होड़ ठन गयी है। क्षण-क्षण [illegible] और मैंने उस वर्धमाना माधवी से कान मे कहा "तेरी यह होड व्यर्थ है। दूसरे [illegible] महान् योगी रुकेगा नहीं। इसका गन्तव्य निश्चित है। तू हार जाएगी।' [illegible] विरद को देखा और वह झुक गयी वन्दना मे। चिडियो से यह दृश्य छुपा नहीं [illegible]

अक्षरेह

एक सुबह
ईस्वी सन् ग्यारह सौ अस्सी की
कर्नाटक के महान् यशस्वी कवि बोप्पण
अवाक् स्तब्ध
खडे है गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा के सम्मुख
सोच रहे है कैसी मनीषा है कि पाषाण भी जी उठा है।
पोदनपुर का खयाल आ रहा है
सर्प रेग रहे है विद्युत्गति से
सारी प्रतिमा उनकी बामियो से आच्छादित है
सब कुछ धूमिल हुआ है
अतीत के पार कही कुछ सूझ नही पड रहा है
सबकुछ असूझ/ऑखो से परे हुआ है,
किन्तु
यह क्या
सामने उपस्थित है अध्यात्म का एक महान् शिखर !!!

वोप्पण अनुभूतियो के महासिधु मे डूबे है
उनकी ऑखे वन्द है
पलको पर सपन आ-जा रहे है
लग रहा है जैसे कोई महाकाव्य रचना की प्रक्रिया मे स्पन्दित है
सिदरी किरणे विन्ध्य-शिखरो को छू रही है
चारो ओर सोना वरमने को है
वालसूर्य क्षितिज पर उठ रहा है
दृश्य वदल रहे है
वोप्पण की समाधि टूटने को है
वे देख रहे है कि कवड़डमय देवन उनके पास ही वैठा है

वह मुनि बालचन्द्र का प्रिय शिष्य है
और अजलिबद्ध प्रार्थना कर रहा है-
'महाकवे, कोई स्तुति दे जो उतनी ही कोमल-कान्त हो जितनी यह महान् प्रतिमा है।'
बोप्पण सुन रहे है
उनका मन द्रवित है
वे अब 'वे' नही रहे है
उनका 'मै' गल गया है
वे बाहुबली के युग मे ही जैसे पहुँच गये है।
कवड्डमय ने उन्हे छुआ है
पर अब उन्हे लौटाना कठिन है

भगवान् आदिनाथ उनके सामने है
नीलाजना का नृत्य चल रहा है
नाचते-नाचते वह दिवगता हुई है
एक और नीलाजना ने उसका स्थान ले लिया है
आदिनाथ ससार का छल समझ गये है
उनके पाँव वन की ओर प्रस्थित है
राज्य बाँट दिया गया है
भरत को अयोध्या, वाहुबली को पोदनपुर।

भरत चक्रवर्ती है
दिग्विजय की दुन्दुभि बज रही है
वे लौट आये है
चक्र ने प्रवेश से इनकार किया है
सब व्याकुल है, व्यथित है
अव क्या हो ?
वाहुवली के सम्मुख भरत-दत खडा है

आखिर रिक्थरूप आदिनाथत्व उन्हे भी मिला है।
उन्होंने युद्ध घोषित कर दिया है
किन्तु मन्त्रियो ने युद्ध को समूह से हटा कर व्यक्ति तक सीमित/नियन्त्रित कर दिया है।
जल, दृष्टि, मल्ल तीनो युद्ध भरत हार गये है
चक्र लौट आया है
बाहुबली के पग सत्ता से हट कर परम सत्ता की ओर उठ गये है।
भरत के मन मे गहन अनुताप है
पर अनुज के उठे लौट नही रहे है।
बाहुबली
आत्मोन्नयन की दिशा में पुरश्चरित है
कुक्कुट सॉपो ने बामियॉ बना ली है
पक्षी नीड रचे सुख से उनके तन को नगर बनाये चहक रहे है,
किन्तु वह परम तपोधन अविचल खड़ा है।
यह धरती
जिस पर मेरी पगतलियॉ है
किसकी है ?
भरत की।
कॉटा कसका हुआ है
ब्राह्मी, सुन्दरी समुपस्थित है
मन हाथी से उतर रहा है
कैवल्य-सूर्य उग रहा है
तीनो लोक जगमगा उठे है
कविवर बोप्पण की समाधि अभी टूटी नहीं है।

वे भरतेश के साथ पोदनपुर मे है।
एक प्रतिमा बन रही है आदमकद
हीरक छैनियाँ चल रही है
प्रतिमा का नाकोनक्श उभर रहा है

लग रहा है जैसे वाहुबली जीवन्त खडे है और तपश्चर्या मे निमग्न है।

पर यह क्या !!

अचानक ही वह दृश्य लुप्त हो गया है।

वोप्पण प्रयत्न करते है तो कुक्कुट नागो का कोई टीला सामने आ लगता है

मूर्ति अब गिरफ्त मे नही आ रही है

मन व्यथित है,

किन्तु दृश्य बन नही पा रहा है।

सदियाँ पर्त-दर-पर्त खुल रही है

यह दसवी सदी है

अस्त की ओर झुकी,

सेनापति चामुण्डराय अपनी पूज्या माँ के साथ तीर्थाटन पर है।

माँ ने सबकुछ त्याग दिया है

वे वाहुबली की पोदनपु-प्रतिमा के दर्शन पर दृढ है।

पुत्र चिन्तित है।

मूर्ति अनुपलब्ध है।

अब क्या हो ?

स्वप्न-लोक मे उसके पाँव है

लग रहा है कि यदि इन्द्रगिरि से विन्ध्यगिरि पर कोई स्वर्ण-शर

छोडा गया तो वाहुवली-प्रतिमा प्रकट हो जाएगी।

वाण सधान पर है

प्रत्यचा कर्णमूल तक खिची है

तीरविन्ध्य-शिखर चूम रहा है

कोमल तीर की सुकुमार मार से सपूर्ण गिरि-प्रान्त काँप उठा है

और एक शीर्ष

आपोआप

वाहुवली के मन्मथी मुखमण्डल मे वदलने लगा है।

शिल्पी अरिष्टनेमि का दल हीरे की टाँकियो से विन्ध्यगिरि मे प्राणप्रतिष्ठा करने लगा।

शिल्पी ने ‘गोम्मटसार’ को गोम्मटेश्वर मे टॉक दिया है
आचार्य नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा करा रहे है
चामुण्डराय कलश-पर-कलश ढार रहे है
किन्तु
महाभिषेक विफल हुआ जा रहा है।
नेमिचन्द्राचार्य क्या करे ?
उन्हे लग रहा है कि भक्ति कही घायल हुई है
सर्वहारा की प्रतीक गुल्लिकाअज्जी को खोज लिया गया है।
उसकी गुल्लिका के दुग्ध ने चामुण्डराय को अन्तर्मुख कर दिया है।
सारा अहंकार गुल्लिका मे डूब गया है
वीरमार्तण्ड ने श्रमण/श्रम दोनो को समान्तर प्रणाम किये है
दुग्धधारा चरणमूल तक आ गयी है
दिग्दिगन्त उल्लसित है

बोप्पण को जैसे गुल्लिका की वह धार छू गयी है
उनके कण्ठ से सरस्वती फूट पडी है
वे गा रहे है।
‘श्रीगोमट्ट जिनं नरनागामर दितिज ················’
सारा वातावरण झनझनाया हुआ है
संपूर्ण स्तुति शिलोत्कीर्ण हुई है
ऑख की सूई जिस पर पडते ही शताब्दियाँ मुखरित हो उठती है
आये,
गोम्मटेश्वर की उस विशाल/मनोज्ञ प्रतिमा से पहले
उनकी इस अक्षरदेह को प्रणाम करे
उस अक्षरदेह को
जो
बोप्पण-जैसे महाकवि की लेखनी से नि.सृत है।

डॉ. नेमीचन्द जैन की बहुचर्चित लोकप्रिय कृतियाँ

वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर (परिवर्द्धित, चौथा सस्करण)	१५ ००
बहुआयामी महामन्त्र णमोकार	१५ ००
ओम् १०० तथ्य	५ ००
जहर अमृत चुनौतियाँ	१० ००
अपरिचय	५ ००
जैनधर्म १०० तथ्य	७ ००
जैनधर्म इक्कीसवी शताब्दी	५ ००
जीवन-पीयूष (सामायिक पाठ पद्यानुवाद, विशिष्ट भूमिका-सहित)	२ ००
जिन खोजा तिन पाइयाँ (स्वाध्याय, सम्यक्त्व, स्वपर-विज्ञान)	३ ००
अ-युद्ध पुरुष (बाहुबली-प्रसग, द्वितीय सस्करण)	५ ००
मानव-सस्कृति के पुरस्कर्ता भगवान् ऋषभनाथ	५ ००
मेरी भावना (सचित्र, विशिष्ट भूमिका-सहित)	३ ००
भक्तानर स्तोत्र (सचित्र, मूल, अन्वय-अर्थ, विशिष्ट भूमिका-सहित)	१० ००
पर्युषण उष पान जीवन का (परिवर्द्धित)	५ ००
एकान्त अपना-अपना अनेकान्त सबका (परिवर्द्धित)	५ ००
हम अन्धे पाँच अन्धे (परिवर्द्धित)	५ ००
अहिसा है हमारी माँ (परिवर्द्धित)	५ ००
अहिसा का अर्थशास्त्र	५ ००
प्रणाम महावीर	५ ००
जैन आहार विज्ञान और कला	५ ००
वरक मासाहार है	५ ००
मुख़ातिब ख़ुद-ब-ख़ुद (बातचीत स्वय-की, स्वय-से)	१० ००
शाकाहार मानव-सभ्यता की सुबह (परिवर्द्धित, द्वितीय सस्करण)	२० ००
शाकाहार-विज्ञान	१५ ००
शाकाहार १०० तथ्य	५ ००
शाकाहार सर्वोत्तम जीवन-पद्धति	२ ००
वेकसूर प्राणियो के खून-मे-सने हमारे ये वर्बर शौक	२ ००
ना वावा ना	२ ००
मासाहार सौ तथ्य	३ ००
अण्डे के वारे मे १०० तथ्य	२ ००
अण्डा ज़हर-ही-ज़हर	२ ००
अण्डा आपको निगल रहा है	१ ००
क़त्लख़ाने १०० तथ्य	८ ००
कत्लख़ानो का नर्क	२ ००
हिंसा क़त्ल क्रूरता	५ ००
१०० अच्छे काम	५ ००

हीरा भैया प्रकाशन

६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२००१ (मध्यप्रदेश)

जीवन-प्रसंग : आचार्यश्री विद्यानन्दजी के

ऐसे कई प्रसंग हैं जहाँ/जब मुनिश्री (अब आचार्यश्री विद्यानन्दजी) का भारत की अन्तरात्मा से आमना-सामना हुआ है और उसे उन्होंने संपूर्णतः निर्वसन देखा/जाना है। वस्तुतः एक निरम्बर ही निरम्बरता को उसकी असलियत मे देख-समझ सकता है।

-डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग इन्दौर - ४५२००१ (८५

जीवन-प्रसंग : रोचक और उपयोगी

'प्रसग' 'परम तपोधन एलाचार्य श्रीविद्यानन्द' मेरे द्वारा लिखित पुस्तक का सबमे रोचक और उपयोगी भाग है। यह टुकडे-टुकडे जोड कर कोई समग्र आकार बनाने की प्रक्रिया है। इसे 'कोलेजिग' कहते है। ऐसी रचनाओं मे कल्पना-तत्त्व होता ही है, उतनी छूट रोचकता और सौन्दर्य-सृष्टि के नाते लेखक ने ली भी है। वह उसका अधिकार है, किन्तु यह सच है कि इन प्रसंगो के माध्यम से उन्हे खण्डों मे अखण्ड पाया जा सकता है।

– डॉ नेमीचन्द जै

जीवन-प्रसंग : आचार्यश्री विद्यानन्दजी के डॉ. नेमीचन्द जैन सपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ , पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२००१, मुद्रण नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर-४५२००१ , टाईप सैटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर-४५२००१ , प्रथम सस्करण अक्टूबर, १९९७ ; मूल्य चार रुपये।

राखी : ज्ञान को

प्रसग है रक्षाबन्धन (८ अगस्त, १९७९) के त्यौहार पर इन्दौर मे माधव वसतिका, जहाँ मुनिश्री विद्यानन्दजी का वर्षायोग-स्थल था, यही कोई चार-साढे चार का समय । सयोग से कोई न था, सिर्फ मै और मुनिश्री थे ।

बात चल ही रही थी कि मुनिश्री उठे और विनोद मे मुस्करा दिये । मै स्तब्ध । मैंने देखा उनके हाथो मे कोई राखी है, जिसे वे मेरी कलाई पर बॉधने को है । मैं पीछे खिसक गया । मेरे लिए यह सब असामान्य था । सोचने लगा, यह सब कैसे हुआ, कैसे होगा ? राखी से एक दिगम्बर मुनि का क्या सरोकार ? किन्तु एक झटके मे मुझे निर्भ्रान्त करते हुए, वे बोले- 'यह राखी आपको नहीं बल्कि समाज के सारे विद्वानो को बॉध रहा हूॅ आप तो माध्यम है । जैनधर्म का भविष्य विद्वानो के हाथ है । अभी जैन भण्डारो मे अखूट ज्ञान-सम्पदा अरक्षित है । इसका उद्धार होना चाहिये, इसे एक जूट / एक प्राण होकर विद्वान् ही सम्पन्न करेगे ।'

उस दिन

जोशीमठ । १९७१ । दो लड़कियाँ- एक हरिजन, एक ब्राह्मण । दोनो साथ पढ़ने जातीं और लगभग सारे दिन साथ ही रहतीं । उनकी मानसिकता अत्यन्त निष्पाप, और निर्मल थी, न कहीं हरिजनत्व शेष था और न ब्राह्मणत्व । माता-पिता को उनका इस तरह एक साथ रहना असह्य हुआ था । उन दिनों मुनिश्री विद्यानन्दजी वहॉ थे । दोनो लड़कियॉ उनके प्रवचन सुनने और दर्शन करने प्राय उन तक जाया करती । दुपहरी थी । इन्दौर के आनन्दमुनिजी दर्शनार्थ गये थे । दोनो लडकियॉ भी तब वही थीं और मुनिश्री का उपदेश सुन रही थीं । मुनिश्री ने उन दोनो का परिचय कराया । दोनों प्रसन्न थीं और ऐसा लग रहा था कि जैसे या तो दोनो हरिजन है या दोनो ब्राह्मण; उनमें कहीं कोई द्वैत नहीं था । यह सस्मरण सुनाते मानवमुनिजी ने कहा- 'उस दिन मुझे अनुभव हुआ कि विश्वधर्म क्या है ? सम्भवत [illegible]

मेरा अपना समय

मन्दसौर- १९७९। आहार के बाद का राई जितना समय। यही कोई ११ बजे होगे। कुछ देर तो मुनिश्री बातचीत की अपनी चिरपरिचित शैली मे जैनधर्म की विशेषताओ पर चर्चा करते रहे, किन्तु फिर एकान्त पाने के लिए ललक उठे। वे उठने को हुए ही थे कि एक सज्जन जोशखरोश के साथ आये और बोले- 'मुनिजी, मुझे आपसे कुछ प्रश्न करने है, वक्त दे'। मुनिश्री के व्यक्तित्व की एक विलक्षणता है। वे तुरन्त जान लेते है कि कौन क्या चाहता है और किस नियत से आया है। जो बहस की दलदल मे उतर कर केवल जय-पराजय चाहता है, मुनिश्री उसके साथ अपना वक्त बर्बाद नहीं करते, किन्तु जो निश्छल मन से ज्ञान-समुद्र मे अवगाहना चाहता है, उससे वे घण्टो बाते करते है। दुहरावट और पिष्टपेषण उन्हे पसन्द नहीं है, वे ताजगी और प्रामाणिकता के ग्राहक है। वैसा होने पर वे न कभी थकते है, न थकने देते है। जब श्री 'अ' ने उनसे समय मॉगा तब वे बोले - ''भाई, मेरा अपना भी तो समय है। आखिर मैंने आत्मकल्याण के लिए यह मार्ग ग्रहण किया है। अपना वक्त इस तरह बर्बाद करूँगा तो आप ही बताये अपने गन्तव्य पर कैसे पहुँच पाऊँगा ? समाज से जितना प्राप्त करता हूँ, उतना लौटाने की कोशिश करता हूँ। 3 बजे प्रश्न/शंकाऍ लोग करते है, तब आप आ जाऍ।'' बाद मे पता चला कि श्री 'अ' काफी बिगड़े और उन्होने वह सब कहा, जो उन्हे कहना नहीं था, किन्तु मुनिश्री का भला उससे क्या बिगड़ने को था। उनका उत्तर सतुलित और न्यायोचित था। बाद को मुनिजी ने सामायिक के उपरान्त श्री 'अ' को याद किया, किन्तु तब वे जा चुके थे।

क्षण आया, क्षण गया

मई १९७१। ग्वालियर से इन्दौर की दिशा मे मगल विहार। शिवपुरी की ओर यही कोई तीस-चालीस किलोमीटर दूर - चोरपुरा। निश्चित हुआ था कि उस दिन का पडाव यहीं होगा। सब तैयार थे कि कुछ देर बाद पूज्य मुनिश्री का आदेश हुआ कि आज हमें यहॉ किसी भी स्थिति मे नहीं रुकना है, जल्दी-से जल्दी आगे बढ जाना है। सब हैरान, किन्तु सब सिर झुकाये आगे चल दिये। पता नहीं भविष्य के गर्भ से कौन-सा ऐसा पल आया कि मुनिश्री ने पूर्वयोजित

कार्यक्रम बदल दिया। लोग चोरपुरा से आगे एस ए एफ की चौकी तक आये और वहीं रुक गये। उस दिन पड़ाव वहीं हुआ। जो लोग मुनिश्री को इन्दौर की ओर ला रहे थे उनमे प्रमुख थे – सर्वश्री प नाथूलालजी, बाबूलालजी पाटोदी, सेठ हीरालालजी इत्यादि। थके–हारे थे ही, अत जल्दी ही निद्रादेवी की गोद मे लीन हो गये। रात सॉय–सॉय हरर रही थी , चारों ओर निर्जनता बिछी थी। कुछ अजनबी आये और उन्होने पंडितजी को जगा कर उनसे सेठ हीरालालजी के बारे मे बातचीत की। पडितजी ने लगभग नींद के झोके मे कहा–'आये तो थे, किन्तु अब पता नहीं कहाँ हैं ?' अजनबी चले गये। सवेरे ताबड़तोड़ एक पुलिस–दल आया और सेठजी को पुलिस की पूर्णत सुरक्षित गाड़ी मे इन्दौर ले आया। बाद को सुना गया कि चोरपुरा मे आठ आदमियो का कत्ल हुआ। इस तरह मुनिश्री की अपूर्व भविष्य–दृष्टि ने एक अप्रिय घटना को द्वार से लौटा दिया।

पन्द्रह वर्ष सिरहाने रखकर सोया हूँ

अक्टूबर १९७२। 'अनुत्तर योगी तीर्थकर महावीर' जैसे महाकाव्यात्मक उपन्यास के यशस्वी रचयिता श्री वीरेन्द्रकुमार जैन श्रीमहावीरजी की यात्रा पर। घटना मामूली थी। यात्रा पर प्राय लोग जाते है। लेखक ने भी स्वप्न मे इस सुखद मोड की कल्पना नहीं की थी कि इस बार उनकी भेट विश्वधर्म के प्रखर प्रवक्ता मुनिश्री विद्यानन्दजी से होगी अलबत्तह वे सुमति दीदी का पत्र इसी निमित्त लाये थे। वीरेन्द्र ने कहीं लिखा है –" प्रवचन के उपरान्त मुनिश्री श्री महावीरजी के प्राकट्य–तीर्थ सुरम्य पादुका उद्यान मे, शिलासन पर आ विराजमान हुए। मैंने मौका देख कर , आगे आ प्रणाम किया और सुमति दीदी का परिचय–पत्र उनके सम्मुख प्रस्तुत किया। पलक मारते मे उस पर निगाह डाल कहा–'यह परिचय–पत्र अनावश्यक था आपके लिए। कल सवेरे नौ बजे, आवास पर एकान्त मे बात होगी। केवल आप होगे, अकेले सवेरे तैयार होकर ठीक नियत समय पर एक रमणीक उद्यान से आवेष्टित आवास के अहाते मे सहसा ही पाया कि एक मुस्कान मेरी राह मे बिछी मेरे पैरो को खींच रही है। बोले – 'आ गये तुम। कितने वर्षों से तुम्हे खोज रहा हूँ। 'मुक्तिदूत' के रचनाकार वीरेन्द्र की मुझे तलाश रही

है। पन्द्रह वर्ष तुम्हारे उस ग्रन्थ को सिरहाने रख कर सोया हूँ उसे पढ कर मैने हिन्दी सीखी।' तो यह है विद्वानो को खोज़ कर उनसे ससम्मान काम करा लेने मे समर्थ एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द।

मैं : विश्व

महू - १९७९। सार्वजनिक प्रवचन। विषय-परिग्रह / अपरिग्रह। पॅडाल मे हजार-हज़ार जन। कहीं कोई शोर नहीं। सब शान्त। बच्चे भी, स्त्रियाँ भी। मुनिश्री कर रहे है -'हम मलिनता को दूर करे, स्वाभाविकता को उघाडे। गधा है छिपकली हैं चूहा है क्या ये सब अपरिग्रही है ? नग्न है सब तो क्या इतने मात्र से हम इन्हे अपरिग्रह कहेगे किन्तु सचाई यह नहीं है भीतरी परिग्रह अधिक सूक्ष्म है और इसीलिए अधिक घातक हैं वह दिखायी नहीं देता किन्तु धर्म अखण्ड है, वह सार्वभौम है प्राणिमात्र को शान्ति प्रदान करने वाला है' और हजार-हज़ार लोग उनकी एक-एक बात समझ रहे है लग रहा है कोई ऋषि-अध्यापक अपने छात्रो को मन्त्रमुग्ध किये है।

शुद्ध स्वर्ण

तिलकनगर, इन्दौर। २२ सितम्बर १९७९। शब्द-मीमासा का दौर है। 'समयसार' पर चर्चा चल रही है। पूछ रहा हूँ ''आपने पाठालोचन का यह काम हाथ मे क्यो लिया ? इससे लाभ तो स्पष्ट है, किन्तु अनावश्यक कटुताएँ भी फैल सकती हैं। स्याद्वाद पर गगनभेदी तकरीर करने वाले भी स्याद्वाद से आज अस्पृष्ट है और सारा खेल सापेक्ष-निरपेक्ष दृष्टि का है। वही नियामक है निष्पक्ष चिन्तन का।'' बोले -''बात तो ठीक है, किन्तु किसी भय के कारण अच्छे काम रोके नहीं जा सकते। एकान्त सापेक्ष न होने से मिथ्या है। निरपेक्ष होने मे बहुत-सी बाते छूट जाती हैं। सापेक्ष होने पर एकान्त भी सत्य है। उदाहरण के लिए कहते हैं 'बन्दर पेड़ पर बैठा है' पर देखा जाए तो 'वह पूरे पेड़ पर कहाँ बैठा है, बैठा है उसकी एक शाखा पर'। जो हो, अनेकान्त-दृष्टि निर्मल दृष्टि है, वही सत्य तक सीधी और स्पष्ट वीथि-रचना कर सकती है।'' इसी प्रवाह में मेरा प्रश्न था-''समयसार के अर्थ-शोधन पर आपका

ध्यान कैसे गया ?" बोले-"मेरे पास 'समयसार' की एक बहुत पुरानी प्रति थी। फटी और अस्त-व्यस्त । मैने वह बाइडिग के लिए दी तो जब वह सजिल्द लौटी तो मैंने देखा उसकी मोटाई पर शुद्ध सोना दमक रहा है। उसने मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा । उसी क्षण मेरे मन मे यह बात जम गयी कि स्वर्ण को ऑच पर रखने से जैसे उसका सारा मैल गल जाता है और मात्र स्वर्ण बचा रहता है, वैसे ही 'समयसार' जो सदियो से यात्रा करता आ रहा है, भी व्याकरण और पाठालोचन की ऑच पर शुद्ध हो सकता है, और तब से मैने समयसार-शोधन को जीवन-शोधन का अवलम्ब बना लिया। कठिनाइयॉं आयीं, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द की मौलिकताओ पर से धुँधलापन हटाने का कार्य पूरा हो सका।"

मै सोचता रहा कि एक मामूली घटना भी कितनी शक्तिशालिनी होती है, वह योग्य व्यक्ति से योग्य क्षण में योग्य काम करा लेती है। कहॉं जिल्द की अति सामान्य घटना और कहॉं समयसार का सिन्धु-मन्थन ।।।

शरीर का क्या अपराध है

इन्दौर - १९७९ । तारीख मन पर स्याही का धब्बा बन गयी है, किन्तु घटना की स्याही अभी सूखी नहीं है । उसकी ताज़गी अनार-सी सुर्ख है । आहार के बाद का समय है। अनेक दर्शनार्थी बैठे है। आहार पर ही चर्चा चल निकली है। आहार कैसा हो सामान्यत ? क्या शरीर और उसकी खुराक को महत्त्व दिया जाए ? प्रश्न फिसलन-भरा है चारो ओर काई बिछी है किन्तु मुनिश्री ने बडी सहजता से कहा है- "जब मन्दिर हम साफ-सुथरा रख सकते है तब शरीर बेचारे ने क्या कुसूर किया है ? यह भी मन्दिर ही है, बल्कि असली मन्दिर यही है। यह धर्म का साधन है · साधन को समर्थ तो रखना ही होगा इसकी उपेक्षा का अर्थ होगा अपनी साधना की नींव कमजोर करना। जानबूझ कर शरीर की स्वाभाविकताओ को भग नहीं करना चाहिये बल्कि उसे इतना सगीतात्मक बना लेना चाहिये कि उसमे आत्मसगीत निनादित हो उठे गूँज उठे मै यह सब स्तब्ध/मन्त्रमुग्ध सुन रहा हूँ और देख रहा हूँ कि एक परम्परित मस्तिष्क इस आहार-मीसांसा को कैसे झेल रहा है एक मद्धिम स्वर आया है कि यह तो पुद्गल को महत्त्व देने की बात हुई मुझे तरस आया है उस स्वर पर जो न तो बात को समझ ही सका है, और न ही भविष्य मे अपना मन उस ओर बनने-ढलकने ८ वाला है। मै सहज ही सोच रहा हूँ कि इसमे शब्द कहॉं और कितना

है, अपराधी मूल मे वह है जो शब्द को उसकी वर्तमानता मे पकडने मे चूक रहा है अपनी लक्ष्मण-रेखाओ के कारण, अपने आग्रहो के कारण और मै सुनता जा रहा हूँ वह मुनि-स्वर जो बता रहा है कि मै उन चीजो के लिए अँजुलि मूँद लेता हूँ, जो मेरी साधना को बाधित करती है मैने अपने शरीर का अध्ययन किया है मै उसका दास नहीं हूँ · स्वामी भी नहीं हूँ, किन्तु यह साधन मेरे पास है तो इसका सर्वोत्तम उपयोग करने पर मेरा ध्यान है।

राष्ट्र और विश्व

वही इन्दौर। माधव वसतिका- १९७९। अगस्त का कोई दिन। राष्ट्रीयता पर बात चल निकली है। मैंने पूछ लिया है- "आपके चिन्तन पर राष्ट्रीयता की गहन छाप है। आप जब-तब धर्म को भी राष्ट्रीयता से जोड़ कर देखते है और विश्वधर्म की जय बोलते है। ऐसे मे क्या राष्ट्रीयता और वैश्विकता मे आप किसी टकराहट का अनुभव नहीं करते ? राष्ट्र-भक्ति और विश्व-प्रेम दोनो एक साथ चल सकते हैं इसे मै मान नहीं पा रहा हूँ।" बोले- "मै राष्ट्रीयता को विश्व-प्रेम मे रुकावट नहीं मानता, विशेषत भारत मे। भारतीयता मे वसुधा के लिए पहला स्थान है। हमारा सारा चिन्तन विश्वमंगल के लिए ही हुआ है। यहाँ मै किसी सकीर्ण, हिसक और स्वार्थरत राष्ट्रीयता की बात नहीं कर रहा हूँ वरन् उस राष्ट्रीयता को सूचित कर रहा हूँ जो अन्तत वसुधा बनने की मुद्रा मे तत्पर खड़ी है। मै विश्व-धर्म कहता हूँ। यह एकवचनान्त है। इसमे समस्त राष्ट्रीयताओ और धार्मिकताओ की खुशबू है। मेरा भारत महावीर , बुद्ध, और गॉधी का भारत है। अहिंसा की धारणा मे सारा विश्व समाया हुआ है। अहिंसा विश्वधर्म की जननी है वह भारत की रीढ़ है।" मै फिर एक प्रश्न कर रहा हूँ- "कृपया बताये आपके जीवन को किन-किन व्यक्तियो ने प्रभावित किया है ?" उत्तर आया है- "तीन ने। आचार्य शान्तिसागर, गणेशप्रसाद वर्णी और गांधी। तीनो भारतीय है और तीनो ही वैश्विक। गाधी को सारा ससार जानता है, दो को वह पूरी तरह जानता भले ही न हो, किन्तु यह स्पष्ट है कि वे भी मनुजता पर समर्पित रहे है। गांधीजी के एक वैशिष्ट्य ने मुझे प्रभावित किया है। वे प्रगतिशील भी है और दृढ भी। कहीं अडे नहीं हैं, किन्तु कहीं भी वे अपने जीवनादर्शो से स्खलित नहीं हुए हैं। सत्य और अहिंसा को उन्होने एक क्षणाश के लिए भी नहीं छोड़ा है। यह चारित्रिक दृढता ही विश्वधर्म का आधार है।"

'तुम बड़ी ले जाओ'

एक बच्चा रुठ गया है। घर पर वह कह आया है कि "अब से वह मुनिजी से नहीं बोलेगा क्योकि वे पक्षपात करते हैं। छोटी-छोटी बहुरगी पिच्छियॉ बनाते है और बच्चो को दे देते है। उस दिन मै भी वहॉ था, किन्तु उन्होने मुझे नहीं दी।"

उसका यह अबोला एक बहुत बडी बगावत थी, अत वह दूसरे दिन माधव वस्तविका, इन्दौर मे, जहॉ सन् १९७९ का मुनिश्री विद्यानन्दजी का वर्षायोग-स्थल था। गया अवश्य, किन्तु कोने मे चुपचाप खडा रहा और तलाशता रहा कि कब मुनिश्री अकेले पड़े और वह उन्हे अपने सत्सकल्य की जानकारी दे। अन्तत एकान्त बना और वह सीधे मुनिजी के पास जा पहुँचा। साहस बटोर कर बोला- "हम आपसे नहीं बोलेगे।" मुनिश्री बोले- "क्यो भाई, हमसे ऐसा क्या हो गया है? तुम तो बहुत अच्छे बच्चे हो।" बोला- " सो तो ठीक है, हुआ इतना ही है कि आपने कल मेरे साथी को तो पिच्छी दी और मुझे नहीं दी ।" मुनिश्री ने विनोद मे कहा- " तुम बड़ी ले जाओ ।" बालक से रहा नहीं गया और वह जोर से हॅस पड़ा, किन्तु तुरन्त सभल कर बोला- " फिर आपका क्या होगा ? " मुनिश्री बोले- "हॉ, उसके बिना काम तो मेरा रुकेगा पर तुम नहीं बोलोगे तो भी मेरा काम ठीक-ठीक चल नहीं पायेगा। पिच्छी से बडी तुम्हारी मुस्कराहट है तुम्हारा निश्छल मन है तुम्हारा सच बोलना है तुम बोलोगे तो सब ठीक हो जाएगा।" और इस बीच मुनिश्री ने एक पिच्छी बना ली है, जिसे लेकर बालक को तीन लोक की सपदा मिल गयी है और वह 'उसने कहा था' कहानी के लहनासिह की तरह बेहासा, किन्तु नाचता-झूमता भागा जा रहा है। उस दिन मुझे लगा कि क्या हमारा विद्वद्वर्ग आगामी पीढ़ी को इतनी निष्कलुष वत्सलता, उन्मुक्त प्रीति कभी दे पायेगा ?

प्राणिमात्र का मंगल

मन्दसौर। मध्यप्रदेश। ८ जून १९७९, अर्द्धरात्रि के ठीक १२ ०० बजे है। 'नवभारत' दैनिक, इन्दौर के सम्पादक भाई रत्नेश कुसुमाकर मेरे साथ है। मुनिश्री के साथ दो-तीन दिन रह लेने का संकल्प है। तय अचानक नहीं हुआ है, सब सुनियोजित है। तॉगेवाले ने गतव्य के आसपास उतारा है। मन्दसौर अपरिचित ज़गह नहीं है। कुछ पैदल चलना पड़ा है, किन्तु ०

उत्साह है। संकोच है कि कहीं ऐसा न हो कि मुनिश्री की नींद खुल जाए? पर हुआ यही है, उन्हे आहट मिल गयी है और वे उठ खड़े हुए है। गर्मी के दिन हैं। पडाव नगर की एक माध्यमिक शाला मे है। हम लोग मुनिश्री की नींद खुल जाने की घबराहट मे बाहर आ गये हैं। और अपने रात्रि-वास की व्यवस्था कर रहे हैं। संबन्धितो ने व्यवस्था कर दी है और हम सो गये है। पंडाल के एक कोने मे मुनिश्री आसीन हैं। स्वास्थ्य वैसा नहीं है जैसा नीमच में रहा है, फिर भी सामान्यत ठीक है। नहाने जाने से पहले हम लोग उनके चरण छूने के लिए उठ गये हैं और उनके सान्निध्य मे बैठ कर उनके स्वास्थ्य के सबन्ध मे सहज ही पूछ रहे है। उनका सक्षिप्त उत्तर है- 'ठीक है, शरीर के साथ यह सब तो होगा ही'। उत्तर से लग रहा है कि वे भीतर से जागे हुए है और उनका अभीक्ष्ण स्वाध्याय निर्विघ्न चल रहा है। उनसे कई-कई चर्चाएँ हुई है प्राणिमात्र के मगल पर। उनके साथ सारा दिन व्यतीत हुआ है। प्रवचन मे वे दहेज-जैसी राक्षसी वृत्ति पर निर्भीक बोले है और उन्होने समाज की स्त्री-शक्ति को शखनाद से उत्तिष्ठ किया है। उन्होने सामाजिक दर्द को आध्यात्मिक शैली में बड़े प्रभावशाली ढंग से रखा है। यहाँ से दूसरे दिन शाम को मंगल विहार है दलौदा पहुँचना है। मै भी साथ-साथ पाँव-पैदल चलूँगा। चल भी रहा हूँ, किन्तु मुनिश्री को लग रहा है कि मेरी चाल धीमी है और इस तरह वे अपनी चर्या के साथ न्याय नहीं कर पायेंगे अत मेरे हाथ से कमण्डलु उन्होने ले लिया है और वे तेज चले जा रहे है। मै मेटाडोर से दलौदा पहुँच रहा हूँ। बाद मे सुन रहा कि वे पूरी गति से चले है और उन्होने सारी कसर पूरी कर ली है। वहाँ मै उनसे जा मिला हूँ। सोच रहा हूँ क्या मुनिश्री की यह गतिमति पूरे समाज का अग बन सकती है? यदि ऐसा हुआ तो वह दिन शुभलाभ का एक विशिष्ट पर्व होगा और उसे वही-चौपड़ो मे दर्ज किया जाएगा।

स्वभाव में वापसी

२४ मई, १९७०। कर्णप्रयाग। अलकनन्दा और पुण्डीर नदियो का सुखद सगम। आहार के बाद मुनिश्री नदी के किनारे चले आये है और एक सहज ही बनी गुफा मे उन्होने सामायिक सपन्न की है। लौटते हुए उन्होने नदी और पर्वत के बीच अगडाई लेती प्राकृतिक शोभाश्री का अवलोकन किया है 'विश्राम-गृह मे लौट आये हैं और दर्शनार्थियो को संबोधित करते हुए कह

रहे है 'प्रकृति स्वभाव मे रहने से जन-जन का मन मोह लेती है, उसी तरह यदि हम भी प्रकृति (आत्मभाव) मे रहे तो स्व-पर सुखदायी हो सकते है। आप सबने देखा है कि किस प्रकार पहाडी नदी का प्रवाह बडे-बड़े पत्थरो को सहज ही तोड देता है। उसे बालू भी बना डालता है। यदि एक प्राणी प्रयत्न करे, धार्मिक आचरण मे सावधान रहे तो उसके घोर-से-घोर दु ख समाप्त हो सकते है, कर्म-बन्धन शिथिल हो सकते हैं। आलस से कार्य सम्पन्न नहीं होगा, उद्यम से ही वह होता है।'

असंदिग्धता की खोज

तिलकनगर, इन्दौर। २२ सितम्बर, १९८९। अपराह्न। लगभग दो बजे है। मुनिश्री विश्राम कर रहे है। अनुज प्रेमचन्द और सुरेन्द्र मेरे साथ है। मुनिश्री से समय निश्चित हुआ है, किन्तु औचित्य पर पूरा ध्यान बना हुआ है। वे उठ गये है और शुद्धि के लिए बाहर आये है। उन्होने हम तीनो को देख लिया है और इगित से कक्ष-प्रवेश की अनुमति दे दी है। हम लोग अन्दर आकर बैठ गये है। और चर्चा के आवश्यक मुद्दो पर विचार-विनिमय कर रहे हैं। मुनिश्री के लौटते ही मैने पूछ लिया है- "आपके अध्ययन की एक विशेषता है कि आप किसी भी शब्दार्थ को अजूबा नहीं रहने देते। उसकी हर पर्त उघाडते है और उससे सर्वाग परिचय प्राप्त करने का प्रयास करते है। शब्द की अर्थगत गहराइयो का आनन्द लेना आपके अध्ययन का सहज सस्कार है। इस क्षेत्र मे आप तब तक विराम नहीं लेते जब तक शब्द का समीचीन अर्थ आपकी मुट्ठी मे नहीं आ जाता। क्या मेरा यह कथन सही है?" बोले- "शब्द की सत्ता है और वह अन्य सत्ताओ से महत्त्वपूर्ण है। शब्द हमारे विचारो का माध्यम है। उसके बिना हमारा काम सामान्यत चल नहीं सकता। कैवल्य की बात जुदा है। वहॉ सिद्धि और साधन का फर्क मिट जाता है। जैन साहित्य प्रचुर है। वह सभी विधाओ मे है। वह कई सदियो मे सिरजा-रचा गया है। शब्द कई सन्दर्भो मे प्रयुक्त हुआ है। मुद्रण पहले था नहीं, इसीलिए लेखन पर लिखने वालो के व्यक्तित्व की छाप आयी है। मैं सही अर्थ की खोज मे निरन्तर बना रहता हूँ। मेरी शब्द-यात्रा शास्त्रो को असदिग्धता प्रदान करने के लिए ही हुई है। मैंने तीन सन्दर्भो मे शुद्ध पाठ किया है- "शान्तिपाठ, सन्मतिसूत्र और

समयसार''। शान्तिपाठ में ''काले काले च सम्यक् वर्षतु यान्तु'' के स्थान पर ''काले काले च वृष्टि वितरतु'' उचित है। इसे मैने अनेक पाडुलिपियों के अध्ययन द्वारा शुद्ध किया है। मेरा ध्यान छन्द पर भी गया है। लय भी पाठशुद्धि का आधार बना सकती है। मैंने इसका प्रयोग किया है। इसी तरह ''सन्मति-सूत्र'' 'भद्दं मिच्छादंसण समूह महयस्स'' के स्थान पर ''भद्द मिच्छदंसण समूह मइयस्स'' होना चाहिये। ''मइयस्स'' ''मथकस्य'' का रूप है। इससे अर्थ बैठ जाता है, शुद्ध और स्पष्ट भी हो जाता हैं।'' 'समयसार' की आठवीं गाथा अस्पष्ट थी। मुख्तारजी ने तो इस गाथा को लेकर पुरस्कार की घोषणा की थी। इस गाथा मे ''अपदेस सत मज्झ'' आया है। कई टीकाकारो और विद्वानों ने इस अर्थ को अधर मे छोड़ दिया है। मेरा ध्यान इस पर गया है। मैने इसे निर्धारित (डिसाइड) किया है। अभीक्ष्ण अध्ययन से मुझे लगा कि 'अपदेस' (निरश) का अर्थ 'अप्रदेश' है। जैसे ही मुझे ऐसा आभास हो गया मैने कहा कि सत के शान्तरस की प्रतीति हुई। साधु-मुनियो को शान्तरस चाहिये, ''मज्झं'' इस का प्रतीक है। मैने कुछ विद्वानो को पत्र लिखे। कुछ ने बताया, कुछ ने नहीं इस तरह शब्द को लेकर व्याकरणों मे तुलनात्मक यात्रा करना मुझे प्रिय है पाडुलिपियो को तुलना की नजर से देखने का भी एक आनन्द है, इससे जहं एक ओर हम अपनी प्राचीन साहित्य-ज्ञान-सपदा से परिचय प्राप्त करते है, वहीं दूसरी ओर एक निर्दोष अर्थ प्राप्त करने में भी हमे पर्याप्त मदद मिलती है।'' इस उत्तर से सहज प्रतीति हुई कि मुनिश्री तट की अपेक्षा गहराइयों मे जाना पसन्द करते है और वहॉ से मणियॉ लाकर बॉटते मे अपरिसीम सुख अनुभवते है उनकी बहुमूल्य कृति 'पिच्छी-कमण्डलु' उनके गहन ज्ञान का एक जीवन्त उदाहरण है।

इनकी जय हो

२९ अप्रैल, १९७० भट्टीसेरा। श्रीनगर से १० मील दूर एक पहाड़ी खेडा। काली कमली वालो की धर्मशाला मे मुनिश्री का पडाव है। मुनिश्री खेत-खेत घूम रहे है। उन्होंने समूचे भारत को पैदल चलकर जाना है और उसकी सांस्कृतिक सरचना से प्रत्यक्ष भेट की है। वे गॉव के है, इसीलिए गॉव के लिए उनके भीतर कोई प्रीत है। भारत कृषि-प्रधान देश है। कृषि का सबन्ध जैनो

के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ से है, सभवत इसीलिए मुनिश्री यहाँ कृषको की कठिनाइयो को सुन रहे है। एक सत्तर-बहत्तर वर्ष का किसान उनसे कह रहा है-"मेरी इतनी बड़ी उम्र मे मैने कभी किसी साधु को इतनी कृपा-वार्ता करते नहीं सुना-देखा। आये तो अनेको, पर सब अपने-अपने मे लीन कई ठाट-बाट से भी आये और कई कोरे पथिक-रूप मे आये। इन मुनिजी ने तो हमारे निकट पधारकर हमे धन्य ही कर दिया है। इनकी जय हो !!!"

निर्मलता के साधन

१ जून, १९७० । बद्रीनाथ । चरण-पादुका । समुद्र की सतह से १०,३०० फुट ऊँचाई । बर्फ-ही-बर्फ । चारो ओर चॉदी-सी धवलिमा । दुस्सह शीत । मुनिश्री ध्यानस्थ हुए हैं । उनका ध्यान क्या था, लग रहा था वे देह वे विदेह हुए है। निश्चल। एकाग्र। निर्विकल्प। · ध्यान से उठे तो बोले-"वे कैसे भाग्यशाली है, जिन्हे सुरम्य, स्वाभाविक, शान्त, निर्जन, गिरि-कन्दराओ मे ध्यान का सौभाग्य प्राप्त है ? यहॉ सिद्ध भक्ति और मन की निर्मलता से सभी दुर्लभ साधन सुलभ है। क्यो न यहॉ देर तक बैठा जाए ?"

धर्म थोपा नहीं जाता

२७ जुलाई, १९६९ । सहारनपुर, उत्तरप्रदेश । प्रात काल । लगभग सात का समय । जैन बाग । मंडप मे हजारों लोग शान्त बैठे हैं । प्रथम प्रवचन है । हिन्दू-मुसलमान दोनों हैं । मुनिजी कह रहे हैं-"आज का युग विज्ञान का युग है। यदि नयी पीढ़ी को वैज्ञानिक दृष्टि से हम धर्म की रूपरेखा समझा सकते हैं, तो वह उसे जीवन मे उतारने को तैयार है। धर्म आज किसी पर थोपा नहीं जा सकता हम अपने कर्त्तव्य से विमुख होते जा रहे हैं और अपने पड़ोसी, देशवासी और दूसरे देशवासियो के प्रति सद्भावना का [illegible] रहा है। आज सद्भावना और स्व-कर्त्तव्य-पालन की आवश्यकता है। [illegible] देशवासियो ने जिन नेताओ को देश-सेवा के लिए चुनावों में [illegible] वे आज निजी स्वार्थ के लिए, कुर्सी के लिए विधान और [illegible] है। देश की दरिद्रता दूर करने के लिए कोई नहीं [illegible] है [illegible] सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, अहिंसा, वात्सल्य और प्रेम से [illegible] और देश से दरिद्रता तथा अज्ञानता दूर करने के लिए [illegible] तो हमारा यह देश बहुत जल्द प्रगति कर सकता है

अब नहीं चढ़ूँगा

७ नवम्बर, १९७९।

इन्दौर।

माधव वसतिका।

बिदाई के क्षण है। यही कोई दो के आसपास का समय है। वसतिका की सीढ़ियॉ खचाखच भरी है। सब उदास और उत्कण्ठित है। उदास इसलिए कि अब यह विशाल इमारत सूनी हो जाएगी और उत्कण्ठित इसलिए कि उन्हे भर-ऑख देख लिया जाए। मै भी दूसरी मजिल की सीढ़ियो पर खडा था। सोच रहा था नीचे की ओर लौटूँ या ऊपर की ओर कदम बढाऊँ। जानते हुए भी कि मुनिश्री का जाना अटल है मन मे प्रलय था, हलचल थी, चाहता था दो पल उन्हे एकान्त मे रोक कर जी-भर देख लूँ। पर हुआ वैसा नहीं। मैने देखा एक निर्द्वन्द्व, अनासक्त आलोक-पुरुष पिच्छी लिये खटाखट सीढियाँ उतरने लगा है। मै थोडा आडे आ गया। बोला- "आप जा रहे है"। मुस्कराकर बोले- "कुछ घण्टो बाद"। पूछ बैठा- "ये साढियॉ फिर चढ़ेगे ?" कहने लगे- 'नहीं'। और पलक मारते सीढ़ियॉ उतर गये। मै अवाक् देखता रह गया मात्र एक धुॅधली छाँव, जो काफी दूर तक दीख पडती रही। मुझे याद आया शेडवाल का वह दिन जब गॉव के पटेल की धमकी खाने और सारे परिवार को सकट मे डालने की जगह उन्होने बडे सबेरे गॉव छोड़ कर जाना पसन्द किया था। कित्तूर के वे दिन भी याद आये जब वे सिख-वेश मे एक शुगर फैक्टी मे काम करते रहे थे और घर के लोगो को कोई सुराख नहीं दिया था।

लगता है आप जैन हैं

आगरा/उत्तरप्रदेश। विद्यार्थी-जीवन। सबकुछ रगीन, बहुरगी। राजा मंडी की धर्मशाला और सुरेन्द्र। आगरा के बारे में उसने सुन रखा है कि वह खूबसूरत शहर है। यहॉ आया है तो ताज तो वह देखेगा ही और सुरम्य स्थल भी देखने से नहीं चूकेगा। उसने इक्का किया है और वह ताज की ओर चल दिया है। ताज उसने देखा है। उसका सौंदर्य-बोध प्रखर है। ललित कलाओ के लिए उसके मन मे अनुराग है/प्रीत है। लौटते वक्त उसने पुन इक्का किया है। इक्के वाला मुसलमान है। दिन ढलने पर है। सूरज अस्ताचल की ओर

काफी झुक गया है। उसने इक्के वाले से कहा है कि वह सूरज की रोशनी मे ही धर्मशाला पहुँचा दे। इक्केवाला समझदार है। उसने टिप्पणी का है - "लगता है ओर जैन है"। सुरेन्द्र जोर से हँस दिया है। उसकी हँसी मे जहाँ एक ओर इक्केवाले की समझदारी पर उसे बधाई है वहीं उसमे जैनत्व की स्वीकृति भी है। उसने कहा-"हॉ भाई, रात को खा नही पाऊँगा, इसीलिए तुम्हे कष्ट दे रहा हूँ"। इक्केवाले ने कहा है-"इसमे तकलीफ कैसी बाबू, यह तो हमारा फर्ज़ है"। उसने इक्का हाँक दिया है। सुरेन्द्र सोच रहा है 'चलो जैनो की कोई पहचान तो है'-किन्तु हम सोचे कि क्या हम इस पहचान को एक बडी हद तक खो नहीं चुके है ।।।

जमाना मेरे साथ चलेगा

२२ जुलाई १९६३। सोमवार। सेठ की कूचा धर्मशाला।

आचार्य श्रीदेशभूषणजी ससघ बिराजमान है। दर्शनार्थी आ-जा रहे हैं। वर्णी पार्श्वकार्तिजी ने आचार्यजी से दिगम्बर मुनि-दीक्षा की प्रार्थना की है। उन्हे सुना गया है, किन्तु अन्तिम स्वीकृति अभी नहीं मिली है।

इधर साहु शान्तिप्रसादजी चुप-चुप वर्णीजी से कह रहे हैं-"जमाना अच्छा नहीं है। आप क्षुल्लक-अवस्था मे ही रहे। आप तरुण है। मेधावी है। वाग्मी वक्ता हैं। आपमे आध्यत्मिक तड़प है। आप सयमी है। मेरे प्रस्ताव पर विचार करे।"

युवा क्षुल्लक मे एक चुनौती ने करवट ली है। एक हुंकृति उसके मुखमण्डल पर अविचल आ बैठी है।

इस बीच उसके सामने १९२५ से १९६२ तक का सारा जीवन एक चलचित्र की तरह गुज़र गया है। उस क्षण-भर मे उसने जुग-जुग का लेखा-जोखा कर लिया है। साहुजी से कहा जा रहा है- "भद्र पुरुष' सुने। मैंने जो निश्चय कर लिया है, वह शिलालेख है। उसमे कोई परिवर्तन नहीं होगा। जमाना क्या होता है? जो जमाने के साथ चलता है, वह कमजोर और कायर है, किन्तु जो जमाने को अपने साथ चलाता है वह पुरुष है, उसमे पुरुषार्थ है। मै

जमाने को एक नया मोड़ दूँगा। उसे बदलूँगा। उसे अपने साथ लेकर, जिस दिशा मे उचित होगा, चलूँगा। परतन्त्रता का दर्जा बहुत छोटा है। संग-रहित होने के बाद अधिक स्वतन्त्रता है। पिच्छी-कमण्डलु उठायी और आगे चल दिये।" इस अविचल निश्चय के आगे साहुजी चुप पड गये। श्रीमती रमारानी भी वहीं थीं। उन्हे तरुण तपोधन का निश्चय सुखद लगा। उन्होने देखा आचार्यश्री के मुखप्रदेश पर एक नयी दीप्ति क्षण-भर के लिए आयी और उपस्थितो को आगामी कल की सूचना देकर आगे निकल गयी। २५ जुलाई, १९६३ वर्णी पार्श्वकीर्ति को मुनि विद्यानन्द का नया नाम मिल गया है।

संपूर्ण आनन्द/चैन सुख

जयपुर-वर्षायोग १९६४। स्टेशन रोड़। विशाल पाण्डाल। लोग खचाखच, किन्तु पूरी तरह शान्त और अनुशस्त। प्रवचन का विषय है- "हम दुखी क्यों है ?" मुनिश्री कह रहे है- "आप लोग मच की ओर देखे। मै दु:ख के कारणो पर प्रकाश डालने जा रहा हूँ, किन्तु मेरी एक ओर राज्य का संपूर्ण आनन्द है और दूसरी ओर जयपुर का चैन-सुख। मै स्वयं आनन्द हूँ। अब आप ही बताये आनन्द के इस अप्रत्याशित सहज समारोह में दु ख पर बातचीत कैसे की जाए ?" सभा-समुद्र पर हँसी की ज्वार लहरा गया है। लोग हर्ष विह्वल है। चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द, चैन-ही-चैन, सुख-ही-सुख मुनिश्री विषय पर लगभग डेढ घंटे बोले हैं।

(स्मरणीय है कि उन दिनो स्व डॉ संपूर्णानन्द राजस्थान के राज्यपाल और पं चैनसुखदास न्यायतीर्थ ने सामाजिक क्रान्ति का शंखनाद किया था वे भी जयपुर मे ही थे।)

जीवन-प्रसंग : साध्वीश्री विचक्षणजी के

छोटे-छोटे कथापरक जीवन-प्रसंग साध्वीश्री विचक्षणजी का संक्षिप्त जीवन-वृत्त होने के साथ ही व्यक्ति और समाज को माँजने-बुहाने तथा जैनधर्म/दर्शन की एक उदार युक्तिसंगत छवि प्रस्तुत करने में समर्थ हैं।

-डॉ. नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

जीवन-प्रसंग : कथारूप जीवन-वृत्त

'विचक्षण-कथामृत' में ऐसे प्रसग चुने गये हैं जो साध्वीश्री विचक्षणजी के व्यक्तित्व को सही ढंग से प्रस्तुत कर सके। प्रयत्न किया है कि इन प्रसगो को इस तरह संयोजित कर दिया जाए कि सक्षेप में कथारूप उनका जीवन-वृत्त भी आ जाए और प्रेरणा की झिरियाँ/झरने भी लोकहृदय में खुल सके।

– डॉ नेमीचन्द जैन

क्रम : १ साधना मिली सिद्धि से, २ समझा तो क्या, न समझा तो क्या,

३ मुझे क्या पड़ी है ?, ४ डायरी बनी शिलालेख,

५ प्रश्न है कसौटी का, ६ उधर पीयूषवर्षा, इधर रक्तधार,

७ साहू सरण पव्वज्जामि, ८ काया भिन्न आत्मा भिन्न,

९ केशलोच भेदविज्ञान का स्वाध्याय,

१० साधो, यह तन ठाठ तँबूरे का !!,

११ बाँझिन गाय दूध नहि देहै, माखन कहँ से पाय ?

जीवन-प्रसंग : साध्वीश्री विचक्षणजी के डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन : **प्रेमचन्द जैन; © हीरा भैया प्रकाशन;** प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१,** मुद्रण **नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९,** टाईप सैटिग · **प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - ४५२००१;** प्रथम सस्करण · **अक्टूबर, १९९७;** मूल्य. **चार रुपये।**

साधना मिली सिद्धि से

सबेरा। सूरज की नरम सिंदूरी किरणे । दिल्ली के पास महरौली-स्थित दादावाड़ी। विचक्षणजी स्तवना, तप-जाप, पाठ आदि से निवृत्त हो कर अभी आयी ही है कि तपागच्छ परम्परा की एक बुजुर्ग साध्वी दिल्ली से विहार करतीं उनकी वन्दना के लिए आयीं और बोलीं 'आपका नाम तो मैंने बहुत पहले से सुन रखा है, अत गुण-श्रवण के इन क्षणो में भावना हुई कि आपकी वन्दना करूँ और गुणानुमोदन का लाभ लूँ।'

विचक्षणजी की ऑखे छलछला आयीं; बोलीं 'मेरी प्रशंसा आप बिल्कुल न करें। मैं भगवान् महावीर के शासन की एक साधारण सेविका हूँ; शासन-प्रभावक आचार्य तो थे दादा दत्तसूरि, कुशलसूरि, हेमचन्द्र, हीरविजयसूरि, आदि जिन्होंने लाखो नर-नारियो को हिंसा से बचाया और अपना समूचा जीवन कायोत्सर्ग और भेदविज्ञान प्रेरित तपश्चर्या मे खपा दिया। आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं भी ऐसी कठोर तपश्चर्या द्वारा अपना जीवन सफल कर सकूँ। आप धन्य हैं कि पिछले उनचालीस वर्षो से वर्षीतप, पदयात्रा आदि कर रही हैं।'

कहते-कहते वे भावोल्लास से भर उठीं। हर्ष अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया। एक अपूर्व आध्यात्मिक पुलक सारे तन पर छा गयी। भावविह्वलता के इन क्षणो मे उन्होने अपनी कमली उन साध्वीजी को ओढा दी। [illegible] बोलीं 'यह बहुमान आपका नहीं है, आपकी साधना का है। मुझ अकिंचन निष्काचन के पास और है ही क्या ? इसे ही कृपापूर्वक ग्रहण कीजिये।'

वयोवृद्धा साध्वी बोलीं 'जब आप इतनी आत्मीयता से कमली दे रही हैं तब इसे न लूँ तो यह अनुचित होगा, किन्तु पदयात्रा में अधिक वस्त्र रखना ठीक नहीं है और फिर जो कमली पहले से मेरे पास है उसका क्या होगा ?'

एक साध्वी-शिष्या ने दूसरी साध्वी-शिष्या से कहा · 'देखा, यह थी साधना की भेंट सिद्धि से, सम्यग्ज्ञान की भेदविज्ञान से' !

समझा तो क्या, न समझा तो क्या

अमरावती। १९६५ ई ।

'जगदम्बा कुष्ठ निवास तपोवन' में विनोबा के सत्संग और प्रवचन का सुखद आयोजन है। साध्वी-प्रवर विचक्षणजी भी आयी है। बाबा का प्रवचन मराठी मे हुआ है; बहुत अच्छा और जनकल्याणकारी।

साध्वीश्री कह रही हैं . 'बाबा, हमे आपका प्रवचन पूरी तरह समझ में नहीं आया'।

विनोबा बोले · 'कुछ तो आया ही होगा ?'

विचक्षणजी · 'केवल इतना ही कि जिसके जीवन मे करुणा-भाव का विकास नहीं हुआ, उसके और पशु के जीवन मे कोई खास अन्तर नही है'।

विनोबा मुस्कराये और बोले 'साध्वीजी, आपने प्रवचन का सार तो समझ लिया, फिर जो निस्सार हो उसे समझा भी तो क्या और नहीं समझा भी तो क्या ?'

मुझे क्या पड़ी है ?

वनस्पति का वे कम-से-कम उपयोग होने देती थीं। निमित्त-दोष तो वे हर हालत मे बचाती-ही-बचाती थीं। बड़े-बड़े नगरो मे उनके विहार हुए , किन्तु उनकी अन्तर्दृष्टि अपरिग्रही, जागृत, और सयम बनी रही । उन्होने एक-एक क्षण वही किया जो साधु-जीवन को गरिमा-मण्डित करता है, उसे अनुकरणीय और प्रेरक बनाता है। सभी शहरो में दो-चार घर ऐसे होते ही थे जहाँ चाय की एवज मे फलो का रस (जूस) लिया जाता था। एक दिन एक साध्वीजी ने कहा 'महाराज, आपके स्वास्थ्य के लिए जूस बहुत जरूरी है। उनके यहाँ वह सहज ही बनता है। आठ-दस गिलास निकलता है; एक गिलास आप लेगी तो यह सहज ही है, इसमे निमित्त-दोष नही है। (श्वेताम्बर-परम्परा मे आहारादि/स्नानादि की व्यवस्था मे निमित्त का महत्त्व अधिक है, किन्तु इससे यह न माना जाए कि वस्तु कोई भी और कैसी भी हो सकती है, होती वह संयम-साधना के अनुरूप ही है)।

इस पर उन्होने अनुशासन के गहन स्वर मे कहा 'मुझे क्या पड़ी है कि किसके घर मे कितना है, इसे जानूँ ? उससे मुझे क्या मतलब ? उनके घर दस नहीं, सौ गिलास निकले, मुझे अपने लिए उपयोग नहीं करना है। यह जरूरी नहीं है कि किसी के घर अधिक है, इसलिए मै पी लूँ। मै अपने विवेक का ध्यान क्यो न रखूँ ?'

डायरी बनी शिलालेख

फरवरी, उन्नीस सौ छियासठ।

विचक्षणश्री का हैदराबाद से मद्रास की ओर मगलविहार।

बात इब्राहीमपट्टन से कुछ आगे की है। साध्वीवृन्द साथ है। लग रहा है जैसे कोई पतित-पावनी अध्यात्म-गगा अपनी बहिन-नदियों के साथ किसी तीर्थयात्रा पर है। दीन-हीन, दलित-दोहित, किसान-मजदूर सबके लिए उनके मन मे असीम वत्सलता है, गोवत्स-प्रीति। जैनधर्म उनके लिए प्रीतिधर्म है। विचक्षणजी के भीतर एक उदार आकाश फैला है, जहॉ कोई दीवार नहीं है, वैर नहीं है, दाह नहीं है, जहाँ न कोई संप्रदाय है, न गच्छ, न जाति, न मतमतान्तर, है यदि कुछ तो आर्हत दर्शन, अपनी समग्र भव्यता मे।

वे सूरज की तरह अविश्रान्त, अप्रमत्त चल रही है आत्म-दर्शन मे निमग्न। अप्रमत्तता उनके लिए उतनी ही सहज हुई है जितनी आग के लिए उष्णता। वे बैठती हैं तो अप्रमत्त, उठती है तो अप्रमत, जागती हैं तो अप्रमत, सोती है तो अप्रमत्त। मार्ग मे चींटियॉ है तो पॉव पर स्वयं लगाम पड़ गयी है, उन्हे रोकना नहीं पड़ा है। लगता है उनका रोम-रोम ऑख बन गया है, ऐसी ऑख जो खुद की पीड़ा देख नहीं पाती, दूसरो की चूक नहीं पाती। वे देखतीं कहीं कुछ नहीं है, एक-एक क्षण स्वाध्याय मे निरत रहती हैं, किन्तु उनकी तपश्चर्या इतनी विदग्ध है कि उन्हे अनायास ही सब कुछ दिखायी दे जाता है। उनकी पगतलियॉ है अहिसा से अभिषिक्त और हथेलियाँ है हँसते-मुस्कराते शुभाशीषों की हरी-भरी बस्ती।

चींटियो का कोई काफिला यदि उन्हे विहार-पथ मे दिखायी दे जाता है तो वे ठहर जाती है और देखने लगती हैं अपलक उन श्रमजीवी चींटियो के पुरुषार्थ को। करुणा में वे नहा उठती हैं और तब तक वहाँ बनी रहती हैं, जब तक काफिले की [illegible] चींटी किसी निरापद स्थान तक नहीं पहुँच जाती। वे कॉप उठती है [illegible] देख कि कहीं कोई वाहन आ गया और ये सब उसकी लपेट मे आ गयीं तो · ·

सूरज की नरम किरणे वृक्ष-शिखरो पर उतर रही है एक-के-बाद-एक। पक्षी चहक रहे है। पत्ते मस्ती मे झूम रहे है। प्रकृति ने अन्त.करण के सौन्दर्य को जगा दिया है। विचक्षणश्री में कोई अनहद नाद झकृत है। आनन्दघनजी का कोई पद शायद उनके अधरो पर आ गया है-

अवधू क्या सोवे तन-मठ में !
जग विलोकत घट में !!

आत्मविभोरता में कही गयी ये पक्तियॉ वातावरण मे खनक रही है। विचक्षणजी की ऑखो मे परम दीप्ति है। मद्रास की ओर उनके कदम हैं। पहले वे गुँटूर रुकेगी। विचार आ-जा रहे है। स्वाध्याय मे चित्त निमग्न है। सोच रही हैं व्यक्ति को भीतर-बाहर एक होना चाहिये। भीतर जब तक वह बिखरा-विभक्त रहेगा बाहर सगठित वह हो, यह असभव है। समाज और व्यक्ति को वे एकप्राण देखना चाहती हैं। अनायास कह रही हैं : 'हमे पहले बाहर एक होना होगा। मतमतान्तर के झगड़े समाप्त करने होगे। बाहर से यदि हम जुड़ना सीखेंगे तो भीतर भी उसकी परछाहीं पड़ेगी। जो बाहर घटित होता है, वह भीतर का, और जो भीतर घटित होता है वह बाहर का प्रतिबिम्ब होता है। दोनो सापेक्ष है । दोनो मे बिम्ब प्रतिबिम्बभाव है; इसलिए हम बाहर भी समन्वित हों और भीतर भी। चित्त की आकुलताओ को शान्त करे, अपने दुष्कृत्यो को मिथ्या करें, वैर का शमन करें, मन का कलुष बुहारें, समत्व का सूरज उगाये चित्त की प्राची मे, तो लगे कि माटी सोना एक हैं, महल झोपड़ी अलग-अलग नहीं हैं। गिरिजन परिजन मे कोई द्वैत नहीं है, सब एक है, एक-जैसे है-मन से, वचन से, कर्म से। ऐसी सहज एकता जब बनेगी तब ही कुछ हो पायेगा।

उनकी संवेदनाशील ऑखे डबडबा आयी। वे एक अप्रत्याशित भावोल्लास में डूब गयीं। उनकी पलकों पर विचार तीर्थयात्री से दिखायी दिये। वे शान्त हैं। कई अनागत उनके भीतर दस्तक दे रहे है। साध्वीश्री मणिप्रभाजी उनके मुख-मच पर चल रहे इस अध्यात्म-नाटक को निर्निमेष देख रही है। उनमें अपने सद्गुरु की मन स्थिति को थाहने की अभूतपूर्व क्षमता है। पता नहीं अदृश्य की किस प्रेरणा से मणिप्रभाजी की नीले पन्नों वाली डायरी का एक कोरा पन्ना खुल गया है और वह प्रार्थना कर रही है · 'पूज्या गुरुवर्याश्री, इस पर अपने शुभ हस्ताक्षर कर दीजिये'। गुरुवर्या की समाधि टूटी है। उन्होने लिखा है .

निराकुलता, स्थिरता, सर्वपरिस्थिति में समता, त्रियोग-एकता वीतरागता पाने के परम साधन हैं। -विचक्षणश्री, २० फरवरी, १९६६

यों तो उनका समग्र जीवन ही सन्देश है, किन्तु यह हस्ताक्षर-शिलालेख अब साध्वी मणिप्रभाश्री की डायरी का एक मामूली पन्ना नहीं रहा है , बल्कि किसी भी साधक के साधना-महल का प्रथम सोपान हुआ है।

प्रश्न है कसौटी का

पूर्व प्रधानमंत्री स्व लालबहादुर शास्त्री का जमाना था। देश मे खाद्यान्न की भारी कमी थी। लोगो ने तरह-तरह के तर्क दिये, किन्तु देशहित मे शास्त्रीजी ने जनता से अपील की कि वह सोमवार को हर हफ्ते एक बार भोजन करे और इस तरह खाद्यान्न बचाये। उनका कहना था कि इस तरह लाखो टन अनाज बचेगा और लाखो लोग भूख की दुस्सह पीड़ा से बचाये जा सकेगे। उनकी इस मानवीय अपील का अच्छा असर हुआ और हजारो लोग सोमवार को एक बार भोजन करने लगे। भारत, विशेषत यहाँ रहने वाले जैनो, के लिए यह नया नहीं था। ऊनोदरिका, एकासन, उपवास आदि जैनो मे स्वीकृत व्रत-परम्पराऍ है। विचक्षणजी को यह अपील बहुत रुची। उन्होने भी लोगो को इसके लिए प्रेरित किया। असल मे बात यह है कि उन दिनो हमारी राष्ट्रीयता त्याग की आधार-भूमि पर खड़ी थी, आज वह स्वार्थ की पृष्ठभूमि पर है। पृष्ठभूमियो का फर्क तो पड़ता ही है।

साध्वीश्री के रोम-रोम मे भारतीय सस्कृति समायी थी। उनमे धर्म/अध्यात्म/सस्कृति की आधारभूत आस्थाऍ बहुत गहरे अवस्थित थीं। अपने कई प्रवचनो मे उन्होने शास्त्रीजी की अपील को दोहराया और उसे व्यापक समर्थन दिया।

एक दिन एक युवक ने साध्वीश्री से कहा 'जब हमारे देश पर इतना गहन अन्न-सकट है तो क्या विपदा के इन क्षणो मे मासाहार को राष्ट्रव्यापी स्वीकृति नहीं मिल जानी चाहिये ?'

साध्वीजी स्तब्ध। उन्हे युवक के मति-विपर्यय पर आश्चर्य हुआ। अपने सास्कृतिक पतन पर उन्हे गहरी चिन्ता हुई।

वे बोलीं, 'जानते हो किसी भी कारण से यदि हमारी संस्कृति विकृत हुई तो कालान्तर मे वह विकार एक मजबूत संस्कार बन जाएगा। समस्याओ की प्रकृति है

कि आरंभ मे वे अस्थायी होती हैं, किन्तु मूलतः वे होती हमारी कसौटी है। संकट निकष बन कर आता है । ऐसे क्षणों में ही तो हमारा इम्तहान होता है। इनमे यदि हम विफल होते हैं, बदकिस्मती से, तो फिर हमारी मौलिकताएँ ही खतरे मे पड़ जाती हैं । हमारा अस्तित्व ही ढहने लगता है; इसलिए बन्धु, बुद्धिमानी विकृतियो से समझौता करने में नहीं है, वह है उनसे जूझने मे । मांसाहार, जो सुविधा की तरह आयेगा, वह एक दिन हमारी प्रकृति बन जाएगा, फिर विपुल खाद्यान्न के होने पर भी हम उसे छोड़ नहीं पायेंगे। सुनो बन्धु, व्यक्ति से बडा देश है और देश को जीवित रखती है संस्कृति; इसलिए क्षण-भर की सुविधा को हम देश के लि[ए] स्थायी सांस्कृतिक संकट का रूप न दें। हम मामूली व्यक्तिगत कष्ट के लिए सा[रे] देश को विकृतियो की भट्टी में, तामसिकता की ज्वालामुखी में नहीं झोंक सकते।

प्रश्न शाकाहार, या मांसाहार का हो इससे पहले वह है हमारी संस्कृति क[ी] पावनता और अक्षुण्णता का, उसे अविकृत रखने का, उसकी गौरव-गरिमा बना[ए] रखने का।

उधर पीयूषवर्षा, इधर रक्तधार

१९६७ ई । हैदराबाद से गुँटूर। गुँटूर से मद्रास। विहार का लगभग य[ह] क्रम निश्चित है। साध्वी-संघ गुँटूर में प्रवेश करने को है। उसके कदम उसी सड़[क] पर बढ़ रहे है । अधिकांश साध्वियाँ विज्ञानश्री के साथ है, तीन-चा[र] विचक्षणश्रीजी के। गुँटूर में हर्षोल्लास है। स्वागत और अभिनन्दन की उमं[ग] सब ओर छायी हुई है। प्रवचन मध्यबाजार में आयोजित है । इसके पूर्व शोभायात्[रा] का कार्यक्रम है। विचक्षणजी के हाथ मे माला है। जाप चल रही है। वे अन्तर्मु[ख] हैं। जैसे कोई सिंहनी चलती है, वैसे वे चल रही है; अप्रमत्त, सावधान, औ[र] अध्यात्म में मस्त। इतने में उनके पीछे भौंकता हुआ एक कुत्ता आया है और उसने उनकी जंघा पर अपने दाँत गड़ा दिये हैं। तीखा प्रहार किया है उसने। खून की धार रोके नहीं रुक रही है। साध्वीश्री ने पानी में पट्टी भिगो ली है और घाव पर बाँध दी है; किन्तु औषधि औषधि है, पानी पानी, खून बह रहा है और उनके पाँव अविश्रान्त बढ रहे है। पट्टियाँ बदली गयी है, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ है। साथ ही शिष्याओ को मौन बने रहने का आदेश दे दिया गया है। उनमे छटपटाहट है, किन्तु आज्ञोल्लंघन की हिम्मत नहीं है । विज्ञानश्री तक को इसकी ख़बर नहीं दी गयी है। स्थिति विकट है, किन्तु विचक्षणश्रीजी के लिए वह इतनी सहज है जितनी किसी बच्चे के लिए कोई खिलौना।

इधर खून बह रहा है, उधर नगर-प्रवेश के क्षणो मे उनका, सपूर्ण साध्वी-सघ का स्वागत हो रहा है। नगर को बदनवारो, सुन्दर स्वागत-द्वारो, ध्वजाओ आदि से सजाया गया है। गुँटूरवासी हर्ष और उल्लास मे डूबे हुए है। उनके लिए इस तरह किसी साध्वी-सघ का आना प्रथम घटना है। हर्ष का समुद्र उनसे बॉधे नहीं बँध रहा है , किन्तु कोई नहीं जानता कि उनकी आराध्या किसी दुस्सह सकट में हैं, क्योकि सब देख रहे है कि उनका मुखमण्डल उल्लसित है, वहॉ कोई रेख शोक, दु ख, पीड़ा, चिन्ता की नहीं है। वे शान्त चल रही हैं , सब शान्त चल रहे हैं , किन्तु घाव अशान्त है, उसने शरीर को अशक्त कर दिया है।

सभी प्रमुख बाजारो मे घूमती शोभायात्रा मध्यवर्ती बाजार मे आ पहुॅची है। प्रवचन हुआ है, बहुत मर्मस्पर्शी । अध्यात्म पर इतना अच्छा और सरल प्रवचन गुँटूरवासियो ने आज तक नहीं सुना था । वे मुग्ध है, मन्त्रमुग्ध। वे धारावाहिक बोली है , किन्तु पीड़ा न तो वाणी मे झनझना पायी है और न ही उसके लक्षण चेहरे पर आ सके हैं। एक घटे बाद इस योगिनी सरस्वती की वाणी ने विश्राम लिया है , किन्तु रक्तधारा ने विराम नहीं लिया है। उनका अधोवस्त्र खून से लथपथ हो गया है। सब चिन्तित है। सोच रहे है यह सब हुआ कैसे ? और साध्वीजी इतने लम्बे समय तक चुप कैसे बनी रहीं ? श्वानदश की बात कब तक छुपती, अन्तत प्रकट हुई, सब के चेहरो पर दु ख था, किन्तु विचक्षणश्रीजी मुस्करा रही थीं। यह सब उनके आत्मबल का परिचायक था। गुँटूर के लिए यह सब नया था। उपचार हुआ। वे स्वस्थ हुई, किन्तु उन्होने पीड़ा को कभी पीड़ा नहीं माना, वे शरीर को शरीर की तरह देखती रहीं और आत्मा को आत्मा की तरह।

साहू सरणं पव्वज्जामि

मालवे के किसी गॉव की एक बहिन थी। उम्र से अधेड़, छरहरी, गेहुँआ वर्ण, जीर्णशीर्ण वस्त्र, रोजी-रोटी के लिए सघर्षरत; एक पुत्र, एक पुत्री। सुना उसने कि दिल्ली मे एक साध्वी है, जो पारसमणि ही है, जिस लोहे या लहू को छू लेती है, वह स्वर्ण/गगा-सा परम पावन बन जाता है। वह सोचने लगी कि क्या अपना गॉव छोड़ दूँ और चलूँ उस पतित-पावनी के चरण छूने ? अन्तत उसने सकल्प कर लिया और जैसे-तैसे दिल्ली पहुँच गयी। विचक्षणजी का पता लगाया और [illegible] पहुँची।

साध्वीश्री बैठी है । वे किसी श्रावक के पत्र का उत्तर लिखवा रही है। विनीताश्री लिख रही है। उनके पास अलग से लेखन का कोई तामझाम नहीं है, न कलम, न राइटिंग पैड। कौन सभाले इन्हें ? जब शरीर खुद परिग्रह है तब इनकी क्या और फिर चिट्ठियॉ लिखनी ही कितनी है ? और यदि लिखनी ही है तो उनके लिए अलग से कागज की जरूरत ? चिट्ठी लिखने वाला खुद इतनी जगह आगे-पीछे, चारों ओर छोड़ देता है कि वह सब काफी होती है उत्तर लिखने के लिए। साध्वीजी इसी छूटी जगह का इस्तेमाल करती है। शायद यह कोई अन्तर्देशीय है, जो आज सुबह की डाक से आया है। आसमानी रंग है। पिठकोरा है। लिखने को काफी जगह उसमे है। वहीं उन्होंने अपना उत्तर अंकित करवा दिया है। अन्त मे वे कह रही है 'देखो, सुख-साता जरूर पूछ लेना। पत्रो मे हमे आत्मीय होना चाहिये। आत्मीयता मे डूबे दो शब्द लिखने से पढने और लिखने वाले को बड़ी शान्ति मिलती है लिखो कम, किन्तु लिखो आत्मीय।'

उनके पत्र होते छोटे थे, किन्तु होते थे जीवन को रोशनी देने वाले, उसे दिशा देने वाले।

जैसे ही पत्र समाप्त हुआ, और ऑख उठी तो सामने उस मालविका को खड़ा पाया । मैली-कुचेली धोती, केश अस्त-व्यस्त , चेहरे पर पीड़ा और प्रार्थना -वह असहाय खड़ी है। उसकी परिक्रमा कर रहा है एक पद 'साहू सरणं पवज्जामि'। विमल दाये है, करुणा बाये। दोनो फटे-पुराने वस्त्रों मे है। वह बोली कुछ नहीं। प्रणति में झुक गयी। उसकी ऑखें भर आयी है और अतीत के घाव उभर आये है। विचक्षणजी की ऑखें भी बरस पड़ी है। बोलीं -'क्या चाहिये ?' उसने चरण पकड़ लिये है और कह रही है · 'कुछ नहीं महाराज, सिर्फ शरण और शुभाशीष'। साध्वीजी करुणार्द्र कण्ठ से कह रही है चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहते सरणं पवज्जामि , सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलीपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। भावोल्लास टूटने पर बोलीं 'जाओ यहीं नहाओ-धोओ और दोपहर मे मिलो '।

वह विलख पडी। उसकी ऑखो मे सारे अपराध घूम गये। वह आत्मालोचन मे गहरे डूबी खड़ी है। सोच रही है 'यह साध्वी अद्‌भुत है। इसने न नाम पूछा, न धाम, न कुछ देखा, न परखा सीधे विश्वास कर लिया।' वह उनके चरणो मे न्यौछावर हो गयी।

इस बीच एक - दो लोग आये-गये। विचक्षणजी की करुणा भीतर जीवन्त
ड़ी थी। वह उनकी परमसखा है। सब साथ छोडते है, वह छाया की तरह पल-
ल, सोते-जागते बनी रहती है। पल-भर मे आगन्तुका की सारी उलझनो का
नुमान उन्हे लग गया। उन्हे भीतर से किसी ने पुकारा 'इसे आसरा देना
ाहिये'। फिर क्या था उन्होने उसकी न जात पूछी, न पॉत, उसे हृदय के
क कोने मे ठॉव दे दिया। भला करुणा ने कभी किसी की जात आज तक पूछी है,
ौर फिर विचक्षणश्री की करुणा, एक अवढरदानी की करुणा !!! वह तो
किमगल के सिहासन पर बैठी करुणा थी, उदारमना, भला वह यह सब क्यो
छने लगी उस उपेक्षित मालविका से जो मालवे से चल कर दिल्ली आयी है ?
ादेश हुआ . 'उसे दादाबाड़ी में ही कमरा दे दिया जाए'। वह दिन-भर काम पर
ाती और दोनो बच्चे दादावाड़ी की छाया मे बने रहते।

विचक्षणजी मे मॉ रूपॉ का मातृत्व अब लोकमातृत्व मे प्रकट हुआ। वे
गज्जननी, जगन्माता, जगदम्बा बनीं। विमल बड़ा था, करुणा छोटी। दोनो
चल थे। किसी की एक न सुनते। साध्वीश्री की सुनते थे, पर प्यार मे उनसे भी
ठ कर बैठते। स्कूल मे दाखिल हो ऐसी उम्र अब न विमल की थी और न करुणा
ो। विचक्षणजी की पाठशाला के द्वार बारह मास खुले थे। उसमे विमल, करुणा,
रुणा, सुषमा, सरला, हेमा कोई आये सब का स्वागत था। विमल और करुणा
नजाने उसमे ही दाखिल हो गये। पट्टी-पोथी सब आ गयी। विमल पढने लगा,
रुणा भजन गाने लगी। उसे अक्षर-ज्ञान हो गया। बड़भागी था वह कि उसे एक
अक्षरज्ञानी' ने 'अक्षरज्ञान' कराया। तब वह यह सब नहीं जानता था, आज
ानता है। विचक्षणजी विमल को अक्षर सिखा रही हैं और बारह खड़ी का ज्ञान दे
ही है। वह भाग रहा है, उसे वे पुकार रही है। वह लौट आया है और पहाड़े सीख
हा है। उसने गिनती सीख ली है जोड़-बाकी तह सीख रहा है। कोई इस बीच

काया भिन्न : आत्मा भिन्न

जयपुर १९७९। वर्षायोग - दिगम्बर मुनिश्री विद्यानन्दजी , समानान्तर वर्षायोग खरतगच्छ की श्वेताम्बर साध्वी विचक्षणश्रीजी का।

साध्वीश्री की सूचना है कि वे अध्यात्म-विमर्श के निमित्त मुनिश्री के वर्षायोग-स्थल पर पहुँच रही है। मुनिश्री चकित हैं कि कैसर की दुस्सह व्याधि से पीड़ित विचक्षणजी उतनी दूर वहॉ तक कैसे आ पायेगी ? उन्होंने गहराई से सोचा है और कहला भेजा है कि वे 'वे न आये; मै स्वयं रहा हूँ।'

वे चल दिये है मोती डूँगरी रोड-स्थित दादावाड़ी की ओर । उनके चित्त पर साध्वीश्री की सहिष्णुता, तितीक्षा, साहस, धीरज, और धर्मानुराग की गहरी छाप है। बहुमान है इस सब के लिए अत्यधिक। वे मन-ही-मन भेदविज्ञान के इस उदित सूर्य की सराहना कर रहे है।

दादावाड़ी आ गयी है। साध्वीश्री उद्ग्रीव प्रतीक्षारत है। कैसर ने उन्हे एक ही मुद्रा मे बैठी रहने पर विवश किया है। अपनी हथेलियो पर मुख लिये वे बैठी हैं। पीड़ा का कोई भाव उनके चेहरे पर नहीं है। सत-समागम का अद्भुत उल्लास उनकी ऑखो में दमक रहा है। मुनिश्री विद्यानन्दजी सीढ़ियॉ चढ़ रहे है। साध्वीश्री अशक्त है। नीचे बहुत कम आ पाती है, किन्तु प्रयत्न कर रही है कि वे मुनिश्री की अगवानी के लिए उठे। वे उठें-उठे कि मुनिश्री ऊपर आ पहुँचे है।

विचक्षणजी संतसमागम के इन क्षणो में एक गहन भावोल्लास मे डूब गयी है। उनकी ऑखे छलछला आयी हैं । शरीर पर अपूर्व पुलक छा गयी है । मुनिश्री भी पुलकित हैं। कह रहे है 'कितनी निष्काम, निश्छल, निर्मल, प्रखर, पुरुषार्थपूर्ण है आपकी यह अथक साधना। भेदविज्ञान का अभीक्ष्ण अतरंग-स्वाध्याय करे। वही अचूक चिकित्सक है।'

साध्वीश्री समन्वय-साधिका है। उनके मन मे न कभी कोई दुई रही है, न द्वैत। उनकी निर्मल, सवेग अश्रुधारा में गच्छ, सप्रदाय, मतमतान्तर , का कूड़ा-करकट कभी का बह चुका है। दोनो सत आमने-सामने है। सुखशान्ति की पृच्छा हुई है। धर्म-चर्चा भी है।

मुनिश्री लौट आये है। सीढियॉ उतरते-उतरते उनके स्वर दादावाडी में प्रतिध्वनित हुए है 'मैने ऐसी निर्मल हृदय की साधिका कहीं नहीं देखी। कैसी अद्‌भुत - अपूर्व साधना है इनकी , दुस्सह पीड़ा मे भी मुस्करा रही हैं। जैनधर्म और दर्शन इनके रूप मे जीवन-जयवन्त हुआ है। प्रभु मगल करे इनका।'

उधर आँखे फिर हरख-बरख गयी है। देखने वालो को इन मोतियों की रोशनी मे दिखायी दिया है कि भेदविज्ञान, या सम्यक्त्व न तो श्वेताम्बर है, न दिगम्बर, वह धन उसका है जिसने शरीर की सीमाएँ जान ली है और आत्मा की अमरता को अपने भीतर सुस्थिर कर लिया है।

केशलोंच : भेदविज्ञान का स्वाध्याय

केशलोच मे बालो को उखाड़ना होता है , किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चाहे जैसे, ज्यो-त्यो कर बाल उखाड़ दिये जाएँ। केशलोच जहाँ एक क्रिया है, वहीं एक कला भी है। बाल की जहाँ जड़ होती है वहाँ उसे खींचने मे बल इस तरह लगाना कि बाल अन्दर से बाहर कब आ गया इसका अनुभव ही न हो। साध्वी विचक्षणजी इसमे बड़ी दक्ष थीं। वे कहा करती थीं कि 'सामने वाले को हम जितनी अधिक शान्ति दे सकते हो, दे। लोंच मे हमारी ओर से कोई प्रमाद, या असावधानी नहीं होनी चाहिए।' यदि कोई बाल दो-तीन बार छूट जाता या टूट जाता, तो उसे वे सही लोच नहीं मानती थीं। पीड़ा कम-से-कम हो इसकी सावधानी तो वे प्रतिपल बरतती थीं। वे यह भी कहा करती थीं कि 'बाल घास-फूस नहीं है, वे ऐसी किताबे है, जिनमे से शरीर अलग, आत्मा अलग का सबक पढ़ने को मिलता है।' केशलोच को वे भेदविज्ञान का स्वाध्याय मानती थीं।

साधो, यह तन ठाठ तँबूरे का !!

२० अक्टूबर १९८१ । साध्वी मणिप्रभाजी से मै परम तपोघन साध्वी विचक्षणश्रीजी की सहनशीलता का मर्मस्पर्शी प्रसग सुन रहा हूँ और सत कबीर की ये पंक्तियाँ मेरे मन-मस्तिष्क में बार-बार गूँज रही है। पूरा पद है-

साधो, यह मन ठाठ तँबूरे का।
ऐचत तार मरोरत खूँटी, निकसत राग हजूरे का॥
टूटे तार बिखरगे खूँटी, हो गया धूरम धूरे का।
कहै कबीर सुनो भई साधो, अगम पंथ कोई सूरे का॥

(यह शरीर तँबूरे का तार है। जिस प्रकार तँबूरे की खूँटियाँ मरोडने और तार के खींचने से मधुर ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार इन्द्रिय-दमन और मन के सयम से आत्मा का राग इसमे से प्रकट होता है। जब इन्द्रिय और मन-बुद्धि आदि का समवाय नष्ट हो जाता है, यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर चूर-चूर हो जाता है, तब जीव निज स्वरूप मे स्थिर हो जाता है। यह अगम पथ किसी शूर का ही हो सकता है।)

मणिप्रभाश्री कह रही है · 'महाराजश्री को कैसर की असाध्य बीमारी थी, जो धीरे-धीरे बढती गयी। अन्त मे उसने भयकर रूप धारण कर लिया। इस व्याधि के रोगी प्राय चार-छह महीनो में चल बसते है, लेकिन महाराजश्री ने पूरे साढे तीन वर्ष इसे साहस और धीरज के साथ सहा; नि सशय यह 'अगम पथ किसी शूर का' ही हो सकता है। सहनशीलता का परिचय तो तब मिला जब एक गाँव का व्यक्ति जो कहता था कि उसके एक प्रयोग से कैसर ठीक हो सकता है, उनके इलाज के लिए पहुँचा। उपचार की तो बात थी नहीं। उसका कहना था कि यह रोग साध्य है। वह लाल साबुन का पानी तैयार करता, नीम के पत्ते ले लेता, और कैसर के घाव को दो-तीन किलो पानी से धुलाता। साबुन के प्रखर जल से व्रण की धलाई होती। खून बहता रहता। महाराजश्री शान्त बैठी रहतीं। मुझसे यह सब सहन नहीं हुआ। मैने कहा कि कोई कुछ कहता है, कोई कुछ, महाराज कुछ बोलती नहीं है तो इसका मतलब यह नहीं है कि कुछ भी होने दिया जाए।'

व्यथा-कथा को आगे बढाते हुए वे बोलीं 'जब जयपुर के एक प्रसिद्ध वैद्य से बात हुई तब उसने बताया कि यह प्रयोग किया जा रहा है। कोई और रोगी तो इसे सहन नहीं कर सकता। साध्वीजी का अन्त समय भी निकट आ गया है और पीड़ा

सहने की उनमे अपार क्षमता भी है। वह वैद्य इसी कारण उन पर प्रयोग कर रहा है। यदि प्रयोग साध्वीजी पर सफल हो गया, तो कइयो को उसका लाभ मिल जाएगा और यदि विफल हुआ तो प्रयोग तो है ही।' मैने वेदना-भरी वाणी मे कहा-'आपके सोचने का यह ढँग कितना गलत है ? आप महाराजश्री की सहनशीलता का अनावश्यक शोषण कर रहे है। सहनशीलता और उदारता का यह सरासर दुरुपयोग है।' प्रयोग से उनकी कैंसर-ग्रन्थि (लाल साबुन के पानी से) ताँबे-जैसी हो गयी, चमड़ी जब हट चुकी थी। मांस-ही-मांस बच रहा था। ऐसी विकट स्थिति मे भी वे सहज स्थिति मे बैठी रहती थीं। उस समय हम लोगो का तो खड़े रहना भी मुश्किल हो जाता था। मैने कहा · 'यह तो परीक्षा मे भी एक और परीक्षा थी यानी अग्नि-परीक्षा थी।' मणिप्रभाजी बोलीं 'जिसने उस व्यक्ति को भेजा था उसकी और स्वय वैद्य की पूरी सद्भावना थी, लेकिन प्रयोग दिल दहलाने वाला था, परन्तु महाराजश्री हिलीं नहीं। उन्होने कभी नहीं कहा कि ऐसा प्रयोग क्यो किया जा रहा है ? उनके मुँह से आह तो कभी निकली ही नहीं और न ही चेहरे पर कभी कोई वेदना या खिन्नता नजर आयी।'

बाँझिन गाय दूध नहिं देहै, माखन कहँ से पाय ?

१८ अप्रैल १९८० । शुक्रवार । मोती डूँगरी रोड । जयपुर । राजस्थान । दादावाड़ी । दूसरी मजिल ।

साध्वी विचक्षणश्री की कैंसर-व्याधि कल से ही एक साघातिक मोड़ पर है। उनका शरीर रक्तहीन है, किन्तु आत्मबल अपरिमित है। शरीर की सीमाओ और विवशताओ का बोध उन्हें है। कबीर की ये पंक्तियाँ उनके इर्द-गिर्द परिक्रमा दे रही है - 'बाँझिन गाय दूध नहीं देहै, माखन कहँ से पाय ?' (बाँझ गाय दूध नहीं देगी, और दूध नहीं होगा तो माखन कहाँ से मिलेगा ?) काया बाँझ गया है, उसमे दूध [illegible], आत्मा का अमरत्व वहाँ कहाँ मिलेगा ? आत्ममन्थन से ही सम्यक्त्व [illegible] होगा, देह-मन्थन मे-से भला क्या मिलने वाला है ? इस/ऐसी [illegible] मे-से उन्होंने वह पा लिया है, जिसे बड़े-बड़े योगिराज नहीं पा सके [illegible] श्रीमद्राजचन्द्र, आनन्दघनजी, देवचन्दजी के पद ऐसे ही मौके पर तो उनकी [illegible] रहते हैं। इन पदो के वर्ण-वर्ण, अक्षर-अक्षर इस अवसर [illegible] [illegible] उपस्थित हैं।

उनका मुखमण्डल परमज्योति से अभिमण्डित है। चारो ओर शान्ति, परम शान्ति है। शायद वे अपनी मौन भाषा में कह रही हैं कि अब मेरा किसी बाह्य व्यापार से कोई प्रयोजन नहीं है। अब मैं 'मै' में हूँ, स्वयं मे, निज मे, निजता मे, गहरे, बहुत गहरे।' साध्वी-परिकर समुपस्थित है। चिकित्सक खड़े हैं। सद्गृहस्थ उपस्थित हैं। भारी भीड है भक्तों की, दर्शनार्थियों की। अमीर हैं, गरीब हैं, पडित है, अल्पज्ञानी है; किन्तु सब हताश, पराजित, विवश। कोई उस अतिथि-घटना को रोक नही पा रहा है। जन्म-मरण की इस असाध्य व्याधि को कोई संत ही चुनौती दे सकता है ? विचक्षणश्रीजी परमहसो की उस उदात्त श्रेणी मे खड़ी है जिन्होने मृत्यु को हॅसते-हॅसते आलिगन किया है। मृत्यु जिनके लिए महोत्सव बनती है, ये हैं वह परम विभूति।

'आत्मसिद्धि' की पंक्तियॉ मृत्यु के पॉव मे नूपुर की तरह बॅधी है और वह नाच रही है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह इन पंक्तियों ही पर सोचने लगी है ? उसके पाँव थिरक रहे है उधर, और इधर महाराजश्री के सम्मुख सद्गृस्थ भावविभोर वीतरागता की उस जीवन्त मूर्ति पर अपना सर्वस्व अर्पित कर रहे है। वन्दना मे उनके मस्तकों पर साध्वीश्री के वरदानी हाथ की सुखद छाया बनी हुई है। वे कह रही है . 'जिस मकान में उम्र भर रही अब उसे खाली करने के क्षण आ गये है।'

घड़ी के दोनों कॉटे मृत्यु की भुजा बने हुए है। वे धीमे-धीमे अपना आलिगन कसते जा रहे है। ग्यारह बज रहे हैं। बडा हाथ छोटे हाथ की ओर दौड़ रहा है, किन्तु यह क्या घड़ी हार गयी है !! इसके पहले कि दोनों हाथ सटें महाराजश्री के मुख से कुछ शब्द दिव्यवाणी की तरह झर रहे है 'आज · मै दीक्षा · ·' शायद यह उनकी सम्यक्त्व-दीक्षा का सकेत दे रहे है; किन्तु कौन जाने इनके आगे-पीछे और कौन शब्द है बड़ा हाथ अभी दूर है ·· ग्यारह बज कर चौतीस मिनिट हुए है · और यह क्या · पैतीसवे मिनिट पर हस ने पंख पसार दिये है और वह शून्य मे विलीन हो गया है · उपस्थितो की अंजलियॉ प्रणाम मे झुकी हैं ऑसुओं की धारा उनके पदचिह्नों को पखार रही है · चारों ओर जयध्वनियॉ गूॅज रही हैं अर्थी बनायी गयी है · कालपुरुष ने पहला कन्धा आगे बढाया है ·· उनकी लौकिक अर्थी उठने से पहले अलौकिक अर्थी उठ रही है जिस पर आरूढ़ वह परमज्योति चली जा रही है ·· इस अर्थी को उठाये हुए है वैराग्य, सम्यक्त्व, भेदविज्ञान। उनकी यह अमर पक्ति क्षितिज पर बहुत दूर हर सबेरे गूॅज उठती है -

''निराकुलता, स्थिरता, सर्वपरिस्थिति में समता, त्रियोग-एकता पाने के परम साधन हैं।''

जीवन-प्रसंग : आचार्यश्री नानालालजी के
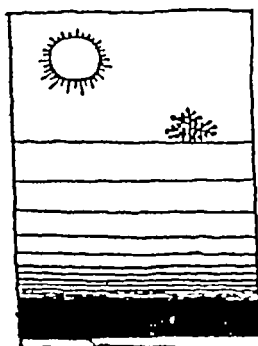
अचार्यश्री नानालालजी के जीवन-प्रसंग की ये चुनी हुई घटनाएँ हैं, जो जीवन की बहुमुखीनता का दर्पण बन सकती हैं।

– डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर – ४५२ ००१ (म.प्र.)

व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले ये जीवन-प्रसंग

'प्रसग' आचार्यश्री नानालालजी के जीवन-वृत्त 'आगम पुरुष' की चुनी हुई घटनाएँ हैं, जो जीवन की बहुमुखीनता का दर्पण तो बन सकती है, साथ ही उनके व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डालती हैं। 'आगम पुरुष' का लेखन मैंने सन् १९९२ मे किया था।
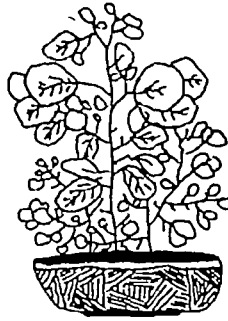
- डॉ. नेमीचन्द जैन

क्रम

जीवन-प्रसंग : आचार्यश्री नानालालजी के डॉ. नेमीचन्द जैन ; सपादन प्रेमचन्द जैन; © हीरा भैया प्रकाशन ; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१ (म.प्र), टाइप सेटिग एव मुद्रण रीगल इण्डस्ट्रीज, राजमोहल्ला, इन्दौर-४५२ ००२ ; प्रथम सस्करण अक्टूबर, १९९७, मूल्य चार रुपये।
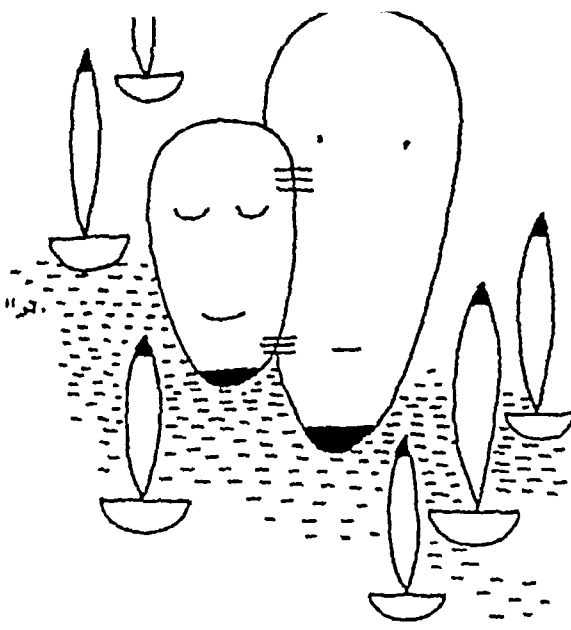
क्रोध ओले की तरह गल गया

१९५० । फलौदी का वर्षावास । मुनिश्री रतनलालजी मौन खड़े हैं । कुछ सोचते मुख-मुद्रा पर प्रशमरतित्व है । वैराग्य अपने सपूर्ण वैभव के साथ उनके रोम-रोम में हुआ है । वैसे वे स्वभाव के प्रखर हैं । अत्यन्त सुलभकोपी । मन साफ है । झुँझलाहट हो आती है । जब कभी कोई शिथिलता या प्रमाद देखते हैं, मन खिन्न हो उठता है और ...जना पड़ता है । ऐसे में वे स्वय को सँभाल नहीं पाते हैं ।

मौन खड़े हैं । सोच रहे हैं– यह जो नवदीक्षित साधु (नानालाल) है वह बड़ा विलक्षण है । कभी कुछ बोलता ही नहीं है । जब भी देखता हूँ इसके चहरे पर मुस्कराहट नृत्य-...ती है । इसे देख लगता है जैसे कोई हरा-भरा खेत है और मन पर अपनी हरीतिमा ...रहा है । कभी लगता है जैसे सावन-भादों की कोई सजल बदली बरसने आयी है । इसके ...पर क्रोध कभी देखा ही नहीं । इस सुभर तरुणाई में इसने क्रोध को कैसे जीत ... देख रहा हूँ क्रोध इसके सामने एक विनम्र दास की तरह खड़ा है और यह मुस्करा रहा ... पर क्रोध कर सकता हूँ, पर जब इसके सामने होता हूँ, पता नहीं तब क्रोध किस द्वार ... है ?

यह नहीं भी होता है तो भी इसका चेहरा आठों याम मेरे साथ बना रहता है। कभी सोचता हूँ– इस पर क्रोध करूँ, किन्तु जैसे ही यह सामने आता है, क्रोध ओले की तरह गल जाता है। रोम-रोम गगा-की-धार बन पड़ता है। तन-मन पर करुणा की अविरल शीतल धारा आ लगती है। सोचता हूँ यदि इसके साथ कुछ दिन और रहा तो क्रोध अपना रास्ता भूल जाएगा और मै क्षमा-के-आकाश की तरह अन्तहीन आकिचन्य मे डुबकियाँ लेने लगूँगा।

पता नहीं कैसे, मन मे बहुत गहरे, इसने मुझे बिन्दु-से-सिन्धु बना दिया है। क्या इस पर और इसके रहते किसी अन्य पर क्रोध कर पाऊँगा ?

□

कुछ दिनो बाद लोगों ने देखा कि रतनमुनिजी रत+न मुनिजी बन गये हैं। क्रोध के प्र उनमे विरति उत्पन्न हुई । क्षमा ने उन्हे अभिषिक्त किया है। उनका सपूर्ण व्यक्तित्व ही बद गया है। उनके चेहरे पर नवदीक्षित मुनिश्री की मुस्कराहट अठखेलियाँ करने लगी है– पर इस क्या, नाना-प्रदीप की जोत कम हुई ? वह और बढ़ गयी। एक दीये से दूसरा दीया प्रज्वलित कर भी किसी दीये की जोत कम नहीं करता। क्षमा और तितिक्षा के दीप इसी तरह के दीप

कहानी से जो मिलता है, वह बड़े-बड़े पोथों से नहीं

कहानी से जो मिलता है, वह बड़े-बड़े पाथो से नहीं मिलता। प्रवचन आया-गया गया, किन्तु जब मुनिश्री चौथमलजी ने कहा कि वे एक अद्भुत कहानी सुनायेगे, तब नाना का जाना रुक गया। उसने सोचा कि अब कहानी तो सुन कर ही चलेगे।

शब्द अमृत बनते गये

बादल तो अपने हिसाब से बरसता है। नीम में नीम, ईख में ईख, बबूल मे कॉटा, आम मे रस। चौथमलजी के शब्द अमृत बनते गये। नींद खुलने लगी। पलकों के नीचे बैठा जिद्दी अँधियारा टूटने लगा। भीतर-भीतर एक सुबह ॲगड़ाई भरने लगी।

जीवन्त त्रिभुज

आचार्यश्री नानालालजी का व्यक्तित्व एक ऐसा जीवन्त त्रिभुज है जिसे सात शिल्पियों की चूना-माटी ने घड़ा है। समता-दर्शन, समीक्षण-ध्यान और धर्मपाल-अभियान का त्रिभुज साधुमार्ग का अनुपम अवदान है। उन्हे यह सब अपने पूर्वाचार्यों से मिला, किन्तु उनकी अपनी पारिवारिक/सास्कारिक विरासत भी है।
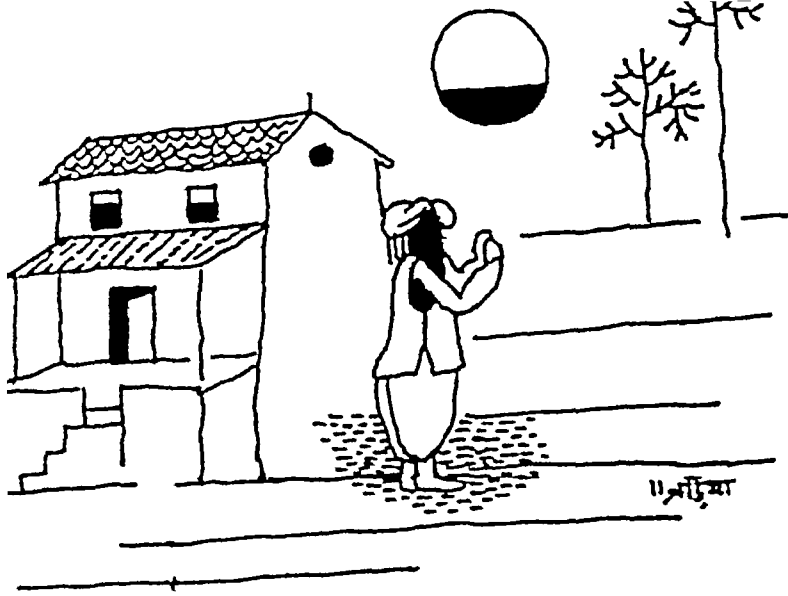
कान बना मकान

ई १९५९। जयपुर-हिण्डौन मार्ग। करौली के आस-पास सूरज अस्ताचल की ओर है। डूबते सूरज की लालिमा चारों ओर बिखरने लगी है। पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, सब शाम की इस लालिमा मे नहाये-से लग रहे हैं। पक्षी अपने घोंसले की ओर उड़े। महाराजश्री अन्य साधुओ के साथ पास के एक ग्राम-सीमान्त पर खड़े हैं। निकट ही। मकान के बाहर एक व्यक्ति बैठा है। कृशकाय, जीर्णशीर्ण वस्त्र। भारतीयता का प्रतिनिधि।

व्यक्ति बोला– बोझ की कोई बात नहीं है महाराज, मकान खाली है। बिछौने मैं घर से ले आऊँगा। लेकिन ।लगा कुछ कहते-कहते कई शताब्दियाँ उसके गले मे अटक गयी हैं। उसने बहुत धीमे स्वर मे कहा– महाराज, और कोई बात नहीं है, सिर्फ यह कि मैं हरिजन हूँ। महाराजश्री ने साश्चर्य कहा– तो इससे क्या ? हमारे लिए सब बराबर हैं।

व्यक्ति चमकृत खड़ा रहा। अचम्भे मे पड़ा बोला– तो क्या आप सचमुच एक हरिजन की आज्ञा से यहाँ ठहर जाएँगे ?

मुनिश्री ने भरोसा दिलाया कि वे जात-पाँत को जन्म-की-अपेक्षा-से नहीं मानते और न ही छुआछूत मे उनका कोई विश्वास ही है।

हरिजन का चेहरा हर्षोल्लास से खिल उठा। उसे लगा जैसे उसकी देहलीज़ पर कोई चिर-प्रतीक्षित सूरज आ खड़ा हुआ है और आने वाले किसी परिवर्तन की रश्मियाँ उसके मन-के-ऑगन मे बिखेर रहा है। उसने सशक पूछा– क्या आप मुझे अपने पैर छूने देगे ?

महाराजश्री ने कहा– वैसे मे किसी से यह नहीं कहता कि तुम मेरे पैर छुओ; किन्तु यदि को: छूता है तो मैं कोई एतराज नहीं करता। और सुनो, हम छुआछूत को जरा भी नहीं मानते। भगवा महावीर का कथन है कि कोई आदमी जन्म से नहीं कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है जैसा वह करता है, उसी मे-से उसके होने की कसौटी बनती हैं। तुम हरिजन नहीं हो, इन्सान हो।

हरिजन बन्धु की ऑखे डबडबा आयीं। सदियो का कलुष-कल्मष ऑसुओं के रूप मे उसकी ऑखो से बह निकला। उसे लगा जैसे अँधेरा भाग रहा है और रोशनी उसका द्वार खटखटा रही है। उसने मुनिश्री के पैर छुए। छूते-छूते उसे रोमांच हो आया। उसने जैनधर्म की सामान्य/गहन जानकारी ली और कहा- महाराज, यहाँ के सात सौ गाँवों मे हजारो हरिजन है, जो एक ऐसे ही सवेरे की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आज़ादी के बाद अभी रात बीती ही कहाँ है ? बात यह है, हमे आज़ादी आधी रात को मिली थी और लगता है अभी वह रात खत्म नहीं हुई है। आप आये है तो लग रहा है कि आप अपने साथ कोई सुखद सवेरा लाये है।

□

उसने पुन मुनिश्री के चरण छुए तो लगा जैसे सपूर्ण मानवता के ललाट पर लगी कालिख धुल गयी है और उसकी जगह मगल प्रभात का कोई बाल सूर्य आ कर टँक गया है।

'जन्मना' बनाम 'कर्मणा'

जोधपुर (१९७६) मे उन्होने जो पचसूत्री देशना दी उसमे उनके पचपन वर्षों का सार आ गया है। ये सूत्र जन जागरण और सामाजिक क्रान्ति के प्रमुख आधार बने। इन्हीं सृजनधर्मा क्षणों में उन्होंने 'जन्मना' महत्ता को नकारा और 'कर्मणा' महत्ता को स्वीकार किया। भगवान् महावीर की वाणी को मैदान मे जीने का उनका यह उपक्रम पूरे देश के लिए क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ (हो सकता है)।
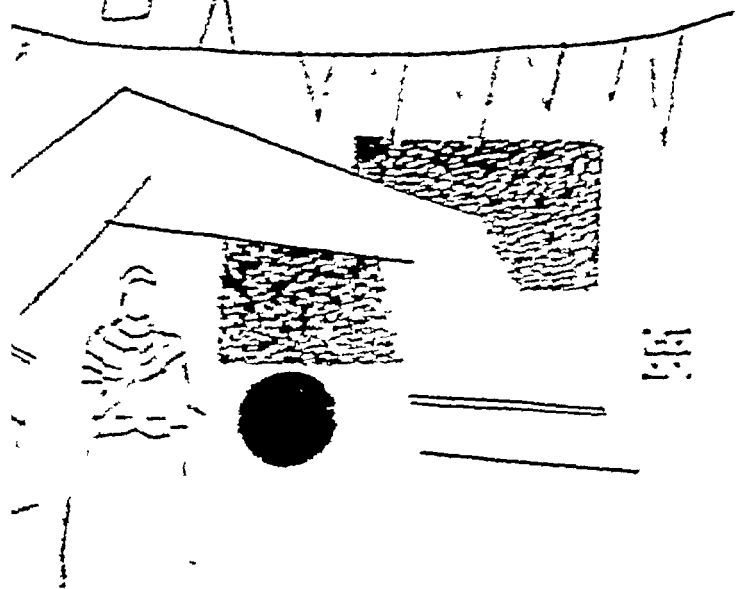
सुमंगला, शिवदेवी, वामा, त्रिशला प्राय सभी का मातृत्व और उनकी अपरपार वत्सलता जीवन्त हुई थी। माँ की ऑखों के मच पर नाना के जन्म से अब तक के सारे दृश्य एक साथ उपस्थित हुए थे। पास-पड़ोस मे बैठे लोगों ने सुना– 'मेरा नाना इतना बड़ा हो गया है! अरे, इसने तो चादर ओढ़ ली है !!! क्या यह सरल मन बालक युवाचार्य की गरिमा सँभाल पायेगा ? कहीं ऐसा ने हो कि यह अपने भोलेपन में हार जाए ?'

श्रृंगारबाई की आँखें आँचल बनी हैं। लग रहा है जैसे आँखों से हो कर दूध की धवल धार पाटासीन युवाचार्य का अजस्र अभिषेक कर रही है।

दाँता से आ कर भी इस क्षण वह दाँता मे ही है। वही घर, वही आँगन, वही 'नाना', वही किलकारियाँ, वही चहलक़दमियाँ-बड़ा मर्मस्पर्शी दृश्य है।

समारोह सपन्न हुआ है। श्रृगारबाई आचार्यश्री से उनकी सुखसाता पूछ रही हैं आचार्यश्री कह रहे हैं– 'कई माँजी, बेटा महाराज का दर्शन कर लीधा ? अबे ई 'नाना' नाना र रिया, घणा मोटार वेइग्या हे।' (क्या माँजी, बेटा महाराज के दर्शन कर लिये ? अब यह ना छोटा नहीं रहा है, बहुत बड़ा हो गया है।) माँ की ममता ऑसू बनी कह रह है– 'अन्नदाता, घणा भोला टाबर है, याँ पे अतरो बोझो मती नाको।' (प्रभो, यह बड़ा भोला बालक है। इस प इतना वज़न मत डालो।) फिर माँ ने युवाचार्य को अपलक सजल आँखो से देखा है। व निहाल हुई है। उसकी आँखों को नवनिधियाँ मिल गयी हैं। भला उसे अब क्या करना चाहिये वह अवाक् है और दोनो अँजलियों से खुशियो का दरिया अनथक उलीच रही है। उसने अप बेटे की ओर मुड़ कर देखा और बोली– 'म्हारा धोरा दूध री अणी चादर मे कालो दाग मत लगाइजो' (बेटे, मेरे धवल-शुभ्र दूध की इस चादर पर कोई काला दाग मत आने देना)। औ पता नहीं, कब/कैसे युवाचार्य के नेत्रो मे कबीर का यह पद अक्षरश निनादित हो उठा–

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया॥
सो चादर सुरनर मुनि ओढ़िन, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर *जतन से ओढ़िन, ज्यो की त्यो धर दीनी चदरिया॥

(*हम चाहें तो दास कबीर की जगह 'नाना मुनी' या 'मैंने खूब' को रख कर इसका अलौकिक रसास्वादन ले सकते हैं।)

करुणा के स्रोत खोल दिये

आठ वर्ष की उम्र में पितृ-वियोग ने उन्हें सहिष्णु, कर्मठ, और अनासक्त बनाया। विधि की क्रूरता ने उनके भीतर सषुप्त-के-स्रोत खोल दिये। वे जब भी किसी को व्यथित-विवश देखते आँखों में आँसू लिये उनकी ओर दौड़ पड़ते। बूढ़ी-दुर्बल माँ-बहिनो के घड़े उठा कर उनके घरों तक पहुँचा देना उनके लिए बहुत सामान्य था। यह तो उनसे लगभग रोज ही होता था।
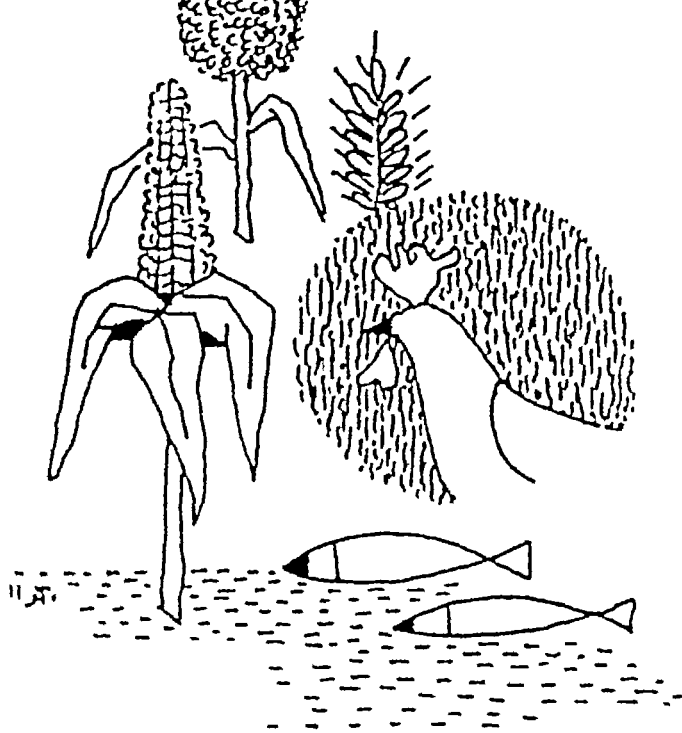
आचार्यश्री गभीर हुए हैं। उन्होने समस्या को गहराई में समझा है।

बोले– 'आपका सोचना एकागी है। आपकी यह धारणा भ्रान्त है कि मासाहा से अन्न-समस्या हल हो सकती है। सोचिये, जिन पशुओं के वध से मास प्राप्त होता है, उन पर कितना खर्च होता है ? क्या अमीर देश आर्थिक लाभ के लिए लाखो टन अनाज समुद्र में नहीं फेक रहे है ? इस समस्या के समाधान के लिए मैं आपको एक रचनात्मक/अहिसक प्रयोग बताता है। देश की वर्तमान आबादी चालीस-पचास करोड़ है, जिसमे दस-पन्द्रह करोड़ बच्चे हैं। इन्हें कम कर लीजिये। बाकी तीस-पैतीस करोड़ बचे। इतनी आबादी के लिए एक दिन मे पन्द्रह-बीस करोड़ टन अनाज चाहिये यदि हम अपने देश को जगाये और उसे साप्ताहिक उपवास के लिए तैयार करे तो क्या अन्न-समस्या का समाधान नहीं होगा ?'

मामा के गले बात उतर गयी। उनका मन आचार्यश्री के चरणो मे श्रद्धा से झुक गया। उल्लसित हो कर उन्होने आदिवासी भाई-बहिनो को आचार्यश्री का सान्निध्य दिया और भिल्ल-लोकजीवन को सात्त्विकता और व्यसन-मुक्ति की दिशा मे अग्रसर किया। हज़ारो भीलो ने व्यसन छोड़े और वे भारत की अहिसक सस्कृति की मुख्य प्राणधारा मे सम्मिलित हुए।

सूक्तियाँ

स्वयं करना होगा

अपनी आत्मा की मलिनता को धोने और उसे सँवारने का काम स्वय को करना होगा। परमात्मा ने मनुष्य-देह मे रह कर विकास जो मार्ग बताया है, उसके अनुरूप यदि मानव चलने की तैयारी कर ले और अपने कार्य-कलापों को तदनुरूप ढाल ले तो वह अपने मन की गति को भी एकाग्र बना सकता है तथा अपनी आत्मा के मूल रूप को भी पवित्र बना कर सँवार सकता है।

फल मिलता ही है

धैर्य कभी नहीं छोड़ना चाहिये। कर्त्तव्य-निष्ठा से सत्य कर्म करने वाले को आपत्तियाँ आने पर भी सफलता अवश्य मिलती है। निष्काम भाव से कर्त्तव्य-पालन करने वाले को सर्वतोमुखी फल ज़रूर मिलता है, जिससे वह उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

दूरदृष्टि

सूक्ष्म निरीक्षण दूरदर्शिता का द्योतक है। वह इन्सान को आपत्तियो से बचा लेता है।

जितनी प्यास, उतना जल

जिस प्रकार जितनी तीव्र प्यास होती है, जल उतना ही शान्तिदायक होता है, ठीक वैसे ही जीवन की अधार्मिकता के घनत्व के अनुसार गुण-ग्राहकता की वृत्ति भी गहरी होनी चाहिये। अधार्मिकता का अन्त गुण ग्राहकता से ही सभव है।
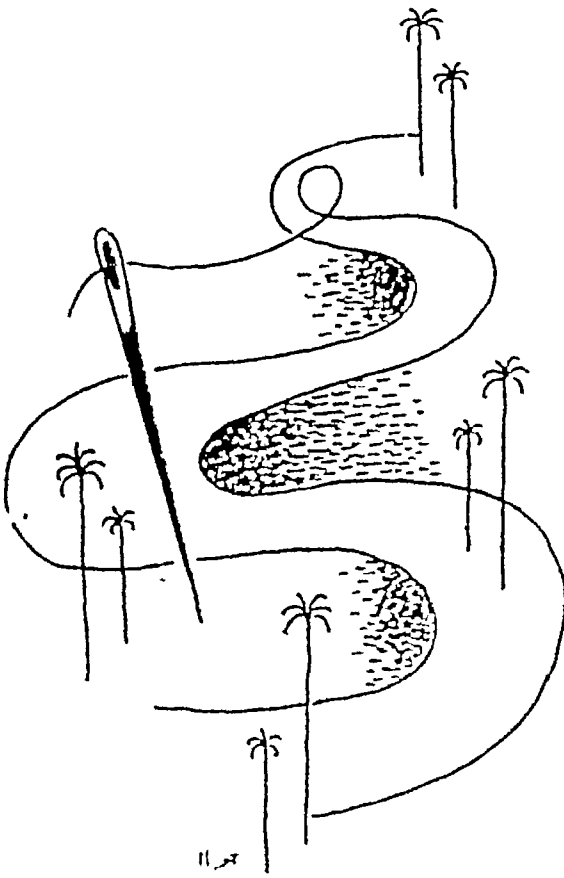
सुई की आँख मे से निकल सकता है ऊँट

आचार्यश्री ने हँसते हुए कहा– 'आपकी भावना प्रशस्त है, किन्तु हमारा सयमी जीवन इसकी अनुमति नहीं देता। सयम की अपनी मर्यादाएँ है। हम अपना काम खुद न करें, अन्यों से करवाये– यह ठीक नहीं है। एक सामान्य शिथिलता, एक मामूली मर्यादा-भग किसी भी समय बड़ा आकार ग्रहण कर सकता है। सुई तो अमरचदजी को खुद ही लौटानी है। सुविधाएँ दुविधाओ को जन्म देती हैं। जैन साधु सुविधाभोगी नहीं है। वह प्रतिपल अप्रमत्त-सजग है। अनुपल जागृत, अनुक्षण सावधान।'

जैसे ही अमरचदजी ने सुना, वे चल दिये। सुई लौटायी और लौट कर सघ-विहार में सम्मिलित हो गये।

सूरज ने यह सब देखा। डूबने से पहले उसने आचार्यश्री की चरण-रज अपने माथे प[र] ली और साधु-सघ की साष्टाग वदना की तथा अमरचदजी की तरह अस्ताचल की ओर अप्रम[त्त] मुड़ गया।

सूक्तियाँ

क्रम एक, छोर दो

व्यक्ति और विश्व एक ही क्रम के दो छोर है। व्यक्ति के जीवन से प्रारम्भ हुई समत विश्व-शान्ति के रूप मे विकसित होती है।

एक किरण काफी

प्रकाश आता है, तो अन्धकार नहीं टिकता। प्रकाश के अभाव में ही अन्धकार की कालिमा स्थित रहती है। विषमता तभी तक है जब तक समता का उदय नहीं होता। प्रकाश की एक किरण जैसे गहन अन्धकार को भेद देती है, वैसे ही समता की दिशा मे गति का आरम्भ ही विषमता को हिला देगा।

उन्नति-की-माँ

विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से सबद्ध है। कोई भी ऐसा नहीं है जो एक-दूसरे से बिलकुल निरपेक्ष हो। समाज के अन्दर ही सब कुछ है, अर्थात् समस्त उन्नति की जननी कहो तो समाज है।

विश्व : एक घर

विश्व एक घर है। इसमे विविध प्राणिगण तथा विविध पदार्थ विद्यमान् है। इन सभी को सही तौर पर भली भाँति जानना एव उनके साथ यथार्थ वर्तन स्वरूप कर्त्तव्य-दृष्टि का पालन होना जन्मसिद्ध अधिकार के रूप मे स्वत बनता है।

मेमने को मिला अभय

१९४४ ई।
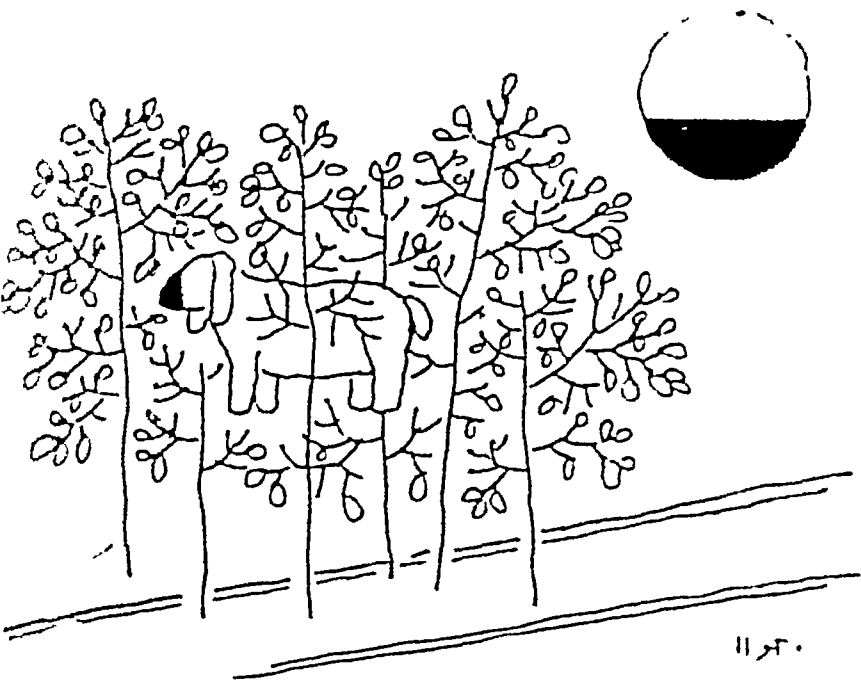
मेवाड़ का एक कस्बाई ग्राम बम्बोरा। शाम का समय। सूरज अभी अस्त नहीं हुआ है। [illegible] होने को है। आचार्यश्री पास की एक पहाड़ी पर शुद्धि के लिए गये हैं। निवृत्त हो कर [illegible] सजग, सावधान, अप्रमत्त। पास की झाड़ियो मे कोई मेमना कराह रहा है। देखा तो [illegible] एक किशोर मेमना है और नाले मे फैली जड़ों मे उलझ गया है। इधर-उधर [illegible]। सुनसान। सन्नाटा। कोई नहीं। पसोपेश। क्या करे, क्या न करे। यदि साधु-[illegible]-मर्यादा टूटती है। किसी को लायें तब तक सूरज डूब जाएगा।

गृहस्थ, आत्मा की पुकार सबसे पहले। जीव-रक्षा सर्वप्रथम। चाहे जो हो, यदि दुनिया की कोई धड़कन खिन्न-विपन्न है तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम हर काम छोड़ कर पहले प्राण-रक्षा के लिए दौड़ें। ऐसा करने के लिए हमे जो भी त्याग करना पड़े, करे। रूढ़ियों के दास न बनें। वर औचित्य और सम्यक्त्व को देखे तथा रूढ़ियो को अपना दास बनाये।

सूक्तियाँ

जागृत हृदय

जो सदा जागृत हृदय से कथन करता है और उसे जागृत हृदय से ही आचरण में उतार है, उसकी आत्मा का विकास सहज ही सम्पादित हो सकता है। आत्मा का विराट् चैतन शक्ति चिन्तन, कथन एव आचरण की शुद्ध जागृति में-से प्रस्फुटित होती है।

निर्मलता

आन्तरिक तत्वो को देखने के लिए ज्ञान की तीक्ष्णता का होना आवश्यक है, अथ ज्ञान की निर्मलता जीवन की निर्मल अवस्था पर अवलम्बित है। जीवन को निर्मल बनाने लिए भौतिक वस्तुओ पर ममत्व हटाना आवश्यक है।

चरैवेति

साधक को साधना के क्षेत्र मे निरन्तर चलते रहना चाहिये। कभी भी विराम की न सोचना चाहिये। विराम का चिन्तन साधक के गिराव (पतन) का सूचक है।

वैज्ञानिक की तरह

जागृत आत्मा एक वैज्ञानिक की तरह निरीक्षण/परीक्षण की प्रक्रियाओ मे तटस्थ दृ बन जाती है। विज्ञान के नये आविष्कार करने की जिज्ञासा रखने वाला वैज्ञानिक पहले प्रय करता है– एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ मे मिलाता है और निरीक्षण करता है कि उस मिश्रण दोनो पर कैसा प्रभाव पड़ा ? ध्यान रखने की बात है कि पदार्थों की पारस्परिक प्रभावशीलता वह अपना भान नहीं भूलता है, स्वय तटस्थ रह कर पदार्थों के विभिन्न मिश्रणों के परिणामों तौलता/परखता है।

जीभ स्वाद/शब्द

जिह्वा स्वाद और शब्द की भूल होती है। ये दोनो शक्तियाँ अपने-आप मे बड़ी विशि है। इन शक्तियो के प्रवाह को यदि ठीक से समझ लिया जाए तो इस सचार समुद्र की का जानकारी हो जाती है।

स्वल्प दुर्गुण

अमर बेल का छोटा-सा टुकड़ा भी यदि वृक्ष पर रह जाता है, तो वह पूरे वृक्ष को सुख डालता है। स्वल्प दुर्गुण भी अमरबेल की तरह जीवन के सद्गुण-रुपी वृक्ष को सुखा डालता है
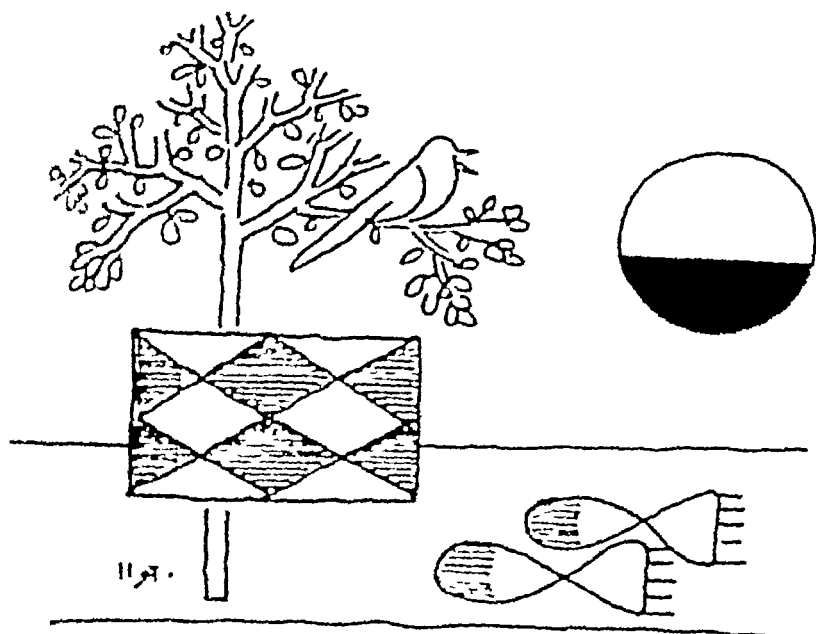
लोहे की लकीर

१९६३ ई।

उदयपुर। मंगल विहार के पूर्व क्षण।

आचार्य-पद पर आसीन होने के बाद नानालालजी महाराज ने उदयपुर से विहार करना

...दी में सूरज अभी कुछ ऊपर उठा ही था कि आचार्यश्री विहार के निमित्त निकल
...र सूरज अपने पाँव तेजी से उठा रहा था, उधर आचार्यश्री सत्वर। दोनों में होड़ थी।
...र और तैयार हुए ही थे कि श्रावकों ने कहा— 'महाराज, आप जिस दिशा की ओर
...हे हैं, उस ओर दिशाशूल है। कोई भी संकट आ सकता है। असल में मुहूर्त उपयुक्त

जिसे हवा का कोई झौंका मिटा दे। वह अटल-अविचल मार्ग है। एक बार हमारे मुख से जो भी निकल गया, उसे हमे करना ही है।'

ज्योतिषी ने समीक्षा की। तर्क दिये। बहुत प्रयत्न किये, किन्तु आचार्यवर अडिग बने रहे। बोले– 'मेरे लिए सब अच्छा है। कोई रास्ता नहीं बदलना है। वही पथ, वही पग, वही पथिक।' और वे वेग से चल दिये।

कोई विघ्न नहीं, कोई सकट नहीं, कोई विपदा नहीं। सबकुछ स्निग्ध, सानन्द, निष्कण्टक, निरापद।

सूक्तियाँ

जैसा वेश हो

जिस समय जैसा वेश हो, उस समय उसी के अनुरूप कार्य एव व्यवहार होना चाहिये और जिस समय जैसा कार्य किया जाता हो, उस समय उसी कार्य में मन, वचन और काया का एकाकार होना जरूरी है।

परावलम्बन

स्वय का उत्तरदायित्व स्वय पर है, दूसरों पर नहीं। दूसरे सहायक बन सकते हैं, लेकिन कब ? जबकि हम स्वय अपने कर्त्तव्य-पालन मे तत्पर हो तब।

बाधक नहीं, साधक

विचार-शक्ति का सदुपयोग करने वाला सोचना है कि मुझे आपत्ति मे डालने वाला कोई नहीं है। जो मेरी उन्नति मे बाधक दिखता है, वह बाधक नहीं, साधक है।

अन्धाधुन्ध

पेड़ों की अन्धाधुन्ध कटाई से वायुमण्डल मे गन्दगी बढ रही है और प्राणवायु की कमी हो रही है। वनस्पति के जीवो की इस हिसा से पृथ्वीकाय के जीवो की हिसा हो रही है, क्योकि अधिकाधिक कृषि-भूमि अपनी उर्वरा शक्ति खो कर बजर होती जा रही है, जिसका सीधा बुरा प्रभाव मनुष्य एव अन्य प्राणियो की जीवन-रक्षा पर अन्नाभाव के कारण पड़ रहा है।

अहिंसा का शासन

शासन-रहितता के अभिप्राय उस शासन से है, जो शासन शोषण-या-हिसा-से-युक्त हो, जिसमें विचार-स्वातन्त्र्य का दमन नहीं किया जाता है। शासन इन्सानियत से वचित रखने वाला नहीं हो, बल्कि प्रेम या अहिसा का शासन हो तो अवश्य हो। इसके बिना प्रगति सभव नहीं है।

बोधकथाएँ : आचार्यश्री विद्यानन्दजी की

आचार्यश्री विद्यानन्दजी के प्रवचनो पर आधारित ये बोधकथाऍं कान्तासम्मत शैली मे लिखी गयी चिट्ठियाँ हैं। प्रवचन समूह के नाम लिखे गये आत्मीयतापूर्ण पत्र हैं। इनका एक मानसिक सिलसिला है। ये सप्रेषण के माध्यम है, किन्तु विधा मे अन्तर है।

–डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

बोधकथाएँ : प्रवचनों का सार-सर्वस्व

'प्रवचन वे ही ऋषि-मुनि देते हैं, जिनकी कथनी-करनी एक होती है। ये ऐसे महापुरुष होते है जो भाषा की उसकी असलियत मे जीते है, उसे जीवन्त बनाते हैं, उसके साथ कोई छल नहीं करते।'

यह कथन है डॉ नेमीचन्द जैन का, जिन्होने एक ऐसे ही तपोनिष्ठ व्यक्तित्व की जीवनी 'परम तपोधन एलाचार्य श्रीविद्यानन्द' शीर्षक से सन् १९८० मे लिखी थी। उसमें जो बोधकथाएँ सम्मिलित की गयी थीं, उनका समावेश प्रस्तुत पुस्तिका में किया गया है। प्रवचनो को बोधगम्य, हृदयस्पर्शी और रोशनदान बनाने मे बोधकथाओ का अपना विशिष्ट स्थान है, योगदान है। उन्हे प्रवचनो का सार-सर्वस्व भी कहा जा सकता है। - स

क्रम : बोध मे अन्तर, पाप के भागी तुम हो, पैरो मे भी ऑखे, एकनाथ की क्षमाशीलता, जाकी रही भावना जैसी, तीन बाते याद रखे, अतिथि को प्राथमिकता, मेरे मन्दिर-मस्जिद का भगवान् यही है, तुबी का कड़वापन नहीं गया, शकराचार्य को आत्मबोध, मॉ की ममता, बुद्ध की करुणा, मॉ की ललकार, यथार्थ ज्ञान, विनम्रता नहीं सिखायी, प्रत्यक्ष उदाहरण, यही हालत होगी, कबल ले डूबा, प्रभु-विस्मरण, भ्रम बुद्धि से विनाश, जहॉ-के-तहॉ, धिक्कार है मुझे!, घृणा-तिरस्कार क्यो रखे ?, जूठन साफ करने मे बुराई क्या ?, वे दोनों सत्य है, मन का शल्य, राम-कथा का बोध, भारुण्ड पक्षी का बोध।

बोधकथाएँ (आचार्यश्री विद्यानन्दजी के प्रवचनो पर आधारित बोधकथाऍ) **डॉ. नेमीचन्द जैन**, संपादन **प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन**; प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१,** (म प्र) मुद्रण **नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९** (म प्र), टाईप सैटिग **प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - ४५२००१** (म प्र), प्रथम संस्करण **अक्टूबर, १९९७**; मूल्य **चार रुपये।**

बोध में अन्तर

कहते है कि एक जगल मे चौबीस तीर्थकरो का मन्दिर था। एक दिन उसमे एक बन्दर घुस गया। वह प्रतिमाओ को बहुत ध्यान से देखने लगा। भगवान् अभिनन्दन की प्रतिमा मे बन्दर का चिह्न देखकर वह आश्चर्यचकित हुआ। उसने सब प्रतिमाओ को ध्यान से देखा और पाया कि कहीं गाय, कहीं घोड़ा, कहीं हाथी, कहीं शेर। वह मन्दिर से बाहर गया और सब पशु-पक्षियो को मन्दिर मे बुला लाया और जहॉ जिसका चिह्न था वहॉ-वहॉ उन्हे बैठा दिया और स्वय भी बैठ गया। उधर से एक महिला निकली, वह दर्शन करने मन्दिर मे गयी, वहॉ का दृश्य देख वह तो मूर्च्छित हो गयी। फिर एक सन्त पुरुष गुज़र रहे थे , वे मन्दिर के दर्शन करने अन्दर गये, वे डरे नहीं, निर्भीकता से दर्शन करने लगे। जब वे अभिनन्दन भगवान् के दर्शन कर रहे थे तो वहॉ बैठे बन्दर ने उनके नमस्कार से खुश होकर पॉव उठाकर उन्हे आशीर्वाद प्रदान किया। उस व्यक्ति ने कहा- हम तुम्हे भगवान् मानकर थोडे ही नमस्कार कर रहे हैं, जो तुम आशीर्वाद प्रदान कर रहे हो। बन्दर ने कहा-भगवान् नहीं मानते तो वहॉं पत्थर पर खुदवा क्यो रखा है ? ये पत्थर की मूर्ति है, ये कौन से भगवान् है ? व्यक्ति ने जवाब दिया-ये अभिनन्दन भगवान् है। बन्दर ने पूछा-कैसे पहचाना ? उन्होने कहा-बन्दर के चिह्न से। तब बन्दर बोला-तभी तो हम कह रहे है कि हम भी भगवान् है। दोनो मे कुछ देर विवाद चला। मानव ने कहा कि पशु-पक्षियो के आकार भिन्न है, मानवाकार एक-सा है, इसलिए मानव-चिह्न न खुदवा पशु-पक्षियो के चिह्न खुदवा देते है। तब बन्दर ने कहा कि आज एक बात समझ मे आ गयी कि मनुष्य की बाह्यवृत्ति एक-सी होती है, पशु-पक्षी की भिन्न होती है। मनुष्य बाहर से एक समान होने पर भी अन्दर से एक नहीं हैं और पशु-पक्षी बाहर से पृथक्ता लिये हुए भी अन्दर से एक हैं।

पाप के भागी तुम हो

गौतम बुद्ध के दो शिष्य (एक वृद्ध और एक युवक) एक दिन विहार करते हुए आ रहे थे। राह मे नदी थी, वे नदी के किनारे-किनारे चले आ रहे थे। उन्होने देखा कि नदी-किनारे कपडे धोने के लिए आयी एक युवती का पैर फिसल गया और वह नदी में बह चली। युवा शिष्य ने देखा और तुरन्त नदी मे

कूद पडा। बहती हुए युवती को कन्धे पर उठाया और किनारे लाकर छोड़ दिया। वृद्ध शिष्य यह देख कर आग-बबूला हो रहा था। दोनों गन्तव्य की ओर चल पड़े। राह में वह वृद्ध उस युवा शिष्य को डॉटता रहा-तू भ्रष्ट हो गया, तूने उसे क्यो छुआ ? तुझे वापस घर लौटा दिया जाएगा, तू साधना से विचलित हो गया। वह युवा शिष्य घबरा गया, रोने लगा। दोनों अपने गुरु गौतम बुद्ध के पास पहुँचे। वृद्ध शिष्य ने आते ही कहा-इसे प्रायश्चित करा कर घर भेज दीजिये। गौतम बुद्ध ने इसका कारण पूछा- क्यों, क्या हुआ ? क्यो भेज दे ? वृद्ध ने बताया कि इसने नदी में डूबती एक युवती को कन्धे पर उठा कर किनारे पर छोड़ दिया। युवक से इसकी सत्यता के बारे में पूछा गया। युवक ने कहा- हॉ, मैंने ऐसा किया, पर वे मुझे वहीं से सारे रास्ते प्रताडित करते आ रहे हैं। यह कह कर वह फिर रोने लगा। गौतम बुद्ध ने वृद्ध शिष्य से कहा- इसने तो उस युवती को कन्धे पर उठाया और वहीं उतार भी दिया, पर तुम तो उसे वहॉ से यहॉ तक कन्धे पर रख कर उठाये चले आ रहे हो। तुम्हारे चित्त मे वहाँ से यहॉ तक पहुँचने पर भी वह युवती टॅगी हुई है। पाप के भागी तुम हो, प्रायश्चित तुम्हें करना होगा, इसे नहीं। केवल बाल सफेद हो जाने से ही ज्ञानी नहीं हो जाते, परिपक्व ज्ञान होने पर ही ज्ञानी होते हैं।

पैरों में भी ऑखें

कणाद महर्षि एक दिन तत्त्व-चिन्तन करते हुए जा रहे थे कि एक गड्ढे मे गिर गये और तब भी चिन्तन में ही निमग्न। उधर से गुज़र रहे एक देवता ने उन्हें निकाला। उनके तत्त्व-चिन्तन की निमग्नता देख वे बहुत खुश हुए और एक वरदान मॉगने के लिए कहा। तब कणाद ऋषि ने वरदान मॉगा-"मेरे नेत्र शास्त्रो का अध्ययन करते ही जाऍ, उन्हें कभी इस काम में बाधा न आये। चलते समय मुझे शास्त्रो से ऑखे हटा पृथ्वी की ओर देखना होता है, इसलिए आप ऐसा वरदान दीजिये जिससे मेरे पैरों मे भी दो ऑखें हो जाएँ जिससे वे पृथ्वी देखते हुए चले और मै पढता रहूँ।"

पुण्य-पाप से निरक्त हो, ज्ञान-प्राप्ति का ऐसी प्रबल आकांक्षा एवं प्रयास ही अमर पथ का पाथेय है।

एकनाथ की क्षमाशीलता

एक सन्त हुए है, जिनका नाम था एकनाथ। उनका प्रतिदिन गगा-स्नान का नियम था। उनके क्षमा-भाव, त्याग आदि की नगर मे बहुत चर्चा थी। उस नगर मे एक पठान भी रहता था, उसने एक बार उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। उसका घर उसी मार्ग पर स्थित था, जिस पर हो कर गगा-स्नान के लिए आते-जाते थे। दूसरे दिन जब सन्त एकनाथ उधर से गगा-स्नान कर लौट रहे थे, पठान ने ऊपर से पान का पीक थूक दिया, जिसके छींटे उन सन्त महोदय के शरीर पर पड़ गये। किन्तु सन्त फिर से स्नान कर आये और अपनी राह चल दिये। उस पठान ने फिर पान थूक दिया, सन्त पुन गगा-स्नान के लिए चल दिये। इस प्रकार यह क्रम सौ बार चला। जब एक सौ एक बार स्नान करके सन्त लौट रहे थे, तब वह पठान अपने मकान से नीचे उतर कर आया और उनके चरणो मे गिर कर रोने लगा तथा अपनी धूर्तता के लिए क्षमा याचना करने लगा। सन्त एकनाथ ने कहा- भाई, मै तो तुम्हारा उपकार मानता हूँ। क्योकि प्रतिदिन मै केवल एक बार गगा-स्नान करता था, किन्तु आज मेरे बड़े भाग्य कि मुझे एक सौ एक बार गगा-स्नान का अवसर प्राप्त हुआ।

जाकी रही भावना जैसी

एक मन्दिर था, जिसमे सोने की, चाँदी की मूर्ति थी। मन्दिर मे एक सुनार और उसका पुत्र दर्शन करने गये। वे उस मूर्ति मे सोने को ही देख रहे थे, उसमे कितना टँच का सोना है, कितना सोना है ? बस यही विचार उनके मन मे था। उस सुनार के जाने के पश्चात् एक सर्राफ उस मन्दिर मे गया। उसने उस सोने-चाँदी का बाजार-भाव से मूल्य ऑका। उसके बाद एक कलाकार पहुँचा। वह उसमे कला की दृष्टि से त्रुटियॉ देख रहा था। फिर एक व्यक्ति आया वह भक्त था, न वह स्वर्ण की शुद्धता परख रहा था, न वह उनकी कीमत ऑक रहा था, न कला परख रहा था। उसको उस मूर्ति मे वीतराग भाव नजर आ रहे थे, उसको तिल-तुष मात्र भी राग नहीं था। उस मूर्ति मे गुण-ही-गुण दिखायी दे रहे थे।

मूर्ति मे गुणो की पूजा है, सोने-चाँदी या कला की पूजा नहीं है।

तीन बातें याद रखें

मुम्बई मे साठ वर्ष पहले माणकचन्द पानाचन्द नाम के एक सेठ रहते थे। उस समय देश के हर शहर मे विश्वविद्यालय की परीक्षाओ की सुविधा नहीं थी। इसलिए मुम्बई मे अनेको शहरो मे एम ए , बी ए की परीक्षा देने के लिए परीक्षार्थी आते रहते थे। एक बार पचास विद्यार्थी एम ए की परीक्षा देने के लिए आये हुए थे। सेठ साहब ने उन्हे अपने घर भोजन करने बुलाया। उन्हे बहुत प्यार से भोजन कराया। भोजन कराने के पश्चात् उन्होने सब विद्यार्थियो से कहा–मैने आप लोगो को एक विशेष उद्देश्य से यहॉ बुलाया है। आप लोगो को तीन बाते बतानी है- आप कभी नौकरी करे या व्यवसाय करे, तो धर्म को न भूले, सदैव समाज–सेवा के लिए तत्पर रहे तथा राष्ट्र के प्रति निष्ठावान् रहे। बस, आपके भविष्य के लिए मेरा यही सन्देश है। उन्होने उन विद्यार्थियो मे–से जरूरतमदो को छात्रवृत्ति भी प्रदान की। उन विद्यार्थियों मे–से एक मैसूर के चीफ जस्टिस श्री पद्मनाभ भी उस समय मौजूद थे। मैने क्षुल्लकावस्था मे उनके घर आहार लिया तो वहॉ उन सेठ साहब की तस्वीर लग रही थी। उस तस्वीर के बारे मे श्री पद्मनाभ ने मुझे उपरोक्त सारी घटना बताते हुए कहा कि उनके उपदेश से ही आज मै इतना ऊँचा पहुॅच चुका हूॅ। इसलिए मैने अपने घर मे एक तस्वीर लगा रखी है।

अतिथि को प्राथमिकता

एक बहुत पुरानी घटना है। मै रेल से पुणे से बेलगाम जा रहा था। प्लेटफार्म पर एक अफ्रीकी दम्पति खडे थे। उन्हे कहीं पर भी स्थान नहीं मिल रहा था, रेलमे बहुत भीड थी, बहुत दौड–धूप भी थी, बहुत परेशान हो रहे थे। मुझे एक डिब्बे मे स्थान मिल गया था, मै बैठा था, उसी डिब्बे मे एक पत्रकार भी बैठे थे। उन्होने (पत्रकार ने) सीट पर से अपना बिस्तर हटा कर उनका बिस्तर लगा दिया और स्वय का नीचे आने–जाने वाले मार्ग पर लगा दिया। मै बैठा सोच रहा था कि कैसा व्यक्ति है ? अच्छी भली जगह मिली थी, उसे भी दूसरो को दे दी। मैने आखिर उनसे पूछ ही लिया कि आपने ऐसा क्यो किया ? पत्रकार ने उत्तर दिया कि ये लोग भारत में अतिथि बन कर आये है। जब यहॉ से वापस जायेगे तब वे क्या प्रभाव लेकर जायेगे कि भारतीयो ने हमे कोई

सहयोग नहीं दिया ? ये हमारे देश की सभ्यता लेकर जायेगे। इसीलिए हमारा कर्त्तव्य है कि स्वय असुविधा उठा कर भी इन्हे सुविधा प्रदान करे। हम चाहते हैं कि दूसरे हमारी सेवा करे, पर हम स्वय किसी की सेवा न करे तो यह कैसे सम्भव होगा ?

मेरे मन्दिर-मस्जिद का भगवान् यही है

महाराष्ट्र मे भवराव पाटिल नामक एक महान् व्यक्ति हुए हैं। उनका व्यक्तित्व, वेशभूषा सब रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसा था। उन्होने महाराष्ट्र मे सात सौ बीस स्कूल, छह कॉलेज और चालीस बोर्डिंग खोले। एक दिन वे सब्जी खरीदने बाजार गये थे। एक अत्यन्त गरीब मुसलमान सब्जी वाली से वे सब्जी खरीद रहे थे, उसके पास ही उसका सात-आठ वर्षीय बालक बैठा हुआ था। उन्होने उस सब्जी वाली से पूछा- तुम इस बच्चे को पढ़ाती नहीं हो ? सब्जी वाली ने कहा- मै बहुत गरीब हूँ, पढ़ाने के लिए मेरे पास पैसा नहीं है। पाटिल साहब उसे अपने घर ले आये, उसे पढ़ाया। वह बैरिस्टर बन गया। उसने उनकी एक मूर्ति बना कर अपने घर मे लगायी। उसके रिश्तेदार उसे मस्जिद मे चलने के लिए कहते, मित्रगण मन्दिर मे चलने के लिए कहते, पर वह कहता मेरे मन्दिर-मस्जिद का भगवान् यही है।

तुंबी का कडवापन नहीं गया

एक बार युधिष्ठिर वगैरह तीर्थयात्रा के लिए जा रहे थे, वे श्रीकृष्ण के पास गये और यात्रा मे साथ-साथ चलने का आग्रह किया। श्रीकृष्ण स्वय नहीं गये, एक तुबी का फल दिया और कहा कि तुम इसे तीर्थयात्रा करवा लाओ। यात्रा से लौटने पर युधिष्ठिर ने तुंबीफल श्रीकृष्ण को वापस ला कर दिया और बताया कि हमने सब तीर्थों पर एक-एक बार स्नान किया, पर इस फल ने सैकड़ो बार स्नान किया है। हर यात्री आपके द्वारा प्रदत्त फल है, यह जान कर इसे साथ ले कर स्नान करता था। श्रीकृष्ण ने कहा- अच्छा, अब इसको खाओ। सबने काट कर एक-एक टुकड़ा मुँह मे रखा और थू-थू करने लगे, बहुत कड़वी है, बहुत कड़वी है- कहने लगे। इतना स्नान करने पर भी तुबी का कड़वापन नहीं गया।

केवल चर्म धुलने से कर्म नहीं धुलते। क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्व आदि छोड़ने से ही सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं।

शंकराचार्य को आत्मबोध

एक दिन शकराचार्य गंगा-स्नान करके लौट रहे थे। वे आत्मा-परमात्मा की चर्चा और विशद व्याख्या मे मगन रहते थे। जब वे गगा-स्नान करके लौट रहे थे कि सामने एक हरिजन अपनी झाड़ू लिये खड़ा था। शंकराचार्य ने कहा- रुक जा। मै गगा-स्नान करके आ रहा हूँ। हरिजन ने कहा- आपने किसको रुकने के लिए कहा है ? यदि मुझे कहा है, तो मुझमे और आपकी आत्मा में क्या अन्तर है ? जैसा शरीर आपका है, वैसा ही शरीर मेरा है। तब आपने किसलिए मुझे रुकने के लिए कहा ? शकराचार्य ने यह सुन कर कहा- ओह ! मुझे आज आत्मा-परमात्मा के दिव्य ज्ञान का बोध हुआ है।

माँ की ममता

एक अत्यन्त अमीर विधवा महिला के एकमात्र पुत्र था। वह महिला अपने पुत्र का अत्यन्त लाड़-प्यार से पालन करती, उसे किसी भी कार्य करने के लिए नहीं टोकती। धीरे-धीरे मॉ के अत्यधिक लाड़ और पैसे ने उसे व्यसनी बना दिया। वह व्यसन अपनाता जाता और मॉ मना नहीं करती। माँ ने कभी धर्म-कर्म के सस्कार ही नहीं दिये। व्यसनो के चक्कर मे शीघ्र ही सारी सम्पत्ति समाप्त हो गयी, मकान बिक गया। अब उन्हे झोपड़ी मे रहना पड़ा। एक दिन उसकी प्रेमिका ने कहा- मुझे तुम्हारी मॉ का कलेजा ला कर दो, तभी समझूँगी कि तुम्हे मुझसे असली प्रेम है। बेटे ने अपनी मॉ से जा कर अपनी प्रेमिका की इच्छा व्यक्त की। मॉ ने कहा- जैसी तेरी इच्छा बेटा। बेटे ने चाकू से माँ का कलेजा चीर कर निकाल लिया और प्रेमिका को सौपने चल दिया। रास्ते मे वह पत्थर से टकरा कर गिर गया, तो मॉ के उस कलेजे से आवाज आयी- बेटा, कहीं तुझे चोट तो नहीं लगी ? उस मॉ ने ममता तो की, पर बेटे को अच्छे सस्कार, निर्व्यसनी संस्कार नहीं दिये।

बुद्ध की करुणा

एक बार महात्मा बुद्ध एक आम के पेड के नीचे बैठे थे। पेड पर पके हुए आम लटक रहे थे। उपवन मे कुछ बच्चे खेल रहे थे , वे पत्थर फेक कर आम्रफल तोड़ने लगे। पत्थरो से एक-दो आम टूट पडे। पर एक पत्थर पेड़ को न लग कर महात्मा बुद्ध के मस्तक पर लग गया, खून बहने लगा। बच्चे डर गये। महात्मा है, कहीं कोई श्राप न दे दे, इस भय से घबराने लगे। डरते-डरते वे महात्मा बुद्ध के पास पहुँच कर क्षमा चाहने लगे। महात्मा बुद्ध के ऑखो मे ऑसू भरे हुए थे। उन्होने कहा- नहीं मुझे कोई दु ख नहीं है, तुम घबराओ मत। बच्चो ने कहा-दु ख नहीं है तो आपकी ऑखो मे ऑसू किसलिए हैं ? बुद्ध ने कहा- तुमने पेड को पत्थर मारा इसने तुम्हे मीठे फल दिये, पर मुझे पत्थर मारा, तो मै तुम्हे कुछ नहीं दे सका, मै इसलिए दुखी हूँ।

मॉ की ललकार

एक सेनापति था, उसके देश का दूसरे देश से युद्ध चल रहा था। मॉ ने कहा- बेटा, मर जाना, पर युद्ध-भूमि से पीठ दिखा कर मत लौटना। बेटा युद्ध-स्थल पर गया, कुछ समय बाद वहॉ से भाग कर घर आ गया और अपने कक्ष का दरवाजा बन्द करके बैठ गया। माँ को ज्ञात हुआ तो वह बहुत दुखी और चिन्तित हुई, उसने सोचा- मैने अपने पुत्र को सदैव अच्छी-अच्छी बाते सिखायीं, अच्छे सस्कार डाले, धर्म सिखाया, फिर यह कायर कैसे निकला ? बेटे के इस कार्य को अपने दूध का अपमान समझ दुखी हो रही थी। मॉ को अत्यन्त उदास और दुखी देख कर घर की एक दासी ने पुत्र की कायरता का कारण बताते हुए कहा- माँ, आप एक दिन मन्दिर गयी थीं, आपके पुत्र रो रहे थे, मैने उन्हे चुप करने हेतु दया करके अपना दूध पिला दिया था। मॉ ने पुत्र-कक्ष के बाहर जा कर ऊँचे स्वर मे कहा- दासी के एक बार के दुग्धपान ने इतना असर किया और मैने तो सालो दुग्धपान कराया उसका कोई असर नहीं ? माँ की ललकार और दूध की याद ने पर्याप्त प्रभाव डाला। पुत्र मॉ को कायर चेहरा न दिखा कर पीछे के दरवाजे से पुन युद्ध-भूमि मे जा खडा हुआ और फिर विजयी हो कर ही घर लौटा।

यथार्थ ज्ञान

एक वन में एक बारहसिंगा विचरण कर रहा था। वह अपने शरीर की ओ
निहार रहा था। जब उसने अपने खूबसूरत सींग देखे, तो अत्यन्त गर्वित ह
उठा और जब उसने अपने पैरों की ओर देखा, तो उनकी बदसूरती देख क
घृणा करने लगा। इतने मे उसे एक बाण उठाये एक बहेलिया आता दिखा
दिया, उसे देख कर वह घबराया। वह अपनी जान बचाने के लिए भागा, भाग
गया। एक स्थान पर रुका तो देखा एक मुनिराज बैठे है। उन्होने भी उस
ओर देखा। उसकी घबराहट देख कर उन्होने पूछा- क्या बात है ? उस
कहा- मै अपने सींगो की खूबसूरती और पॉवों की बदसूरती पर विचार क
रहा था, इतने मे बहेलिया को देखा, बस जान बचाने के लिए भागा चला आ र
हूँ। मुनिराज ने कहा- अरे। तुम जिस सींगों पर गर्व कर रहे हो वे ही तुम्ह
लिए प्राणघातक हो रहे हैं और ये बदसूरत पैर जिन पर तुम घृणा कर रहे ह
इन्होंने ही तुम्हे बचाया है।

हम भी शरीरिक सौन्दर्य की ही देखभाल-साज-सॅवार करते है, जो हम
संसार-भ्रमण का कारण है और आत्मा (जिसको लोग शुष्क विषय मान क
उस) की कोई साज-सॅवार नहीं करते।

विनम्रता नहीं सिखायी

एक विधवा अत्यन्त गरीब थी, उसके एक पुत्र था। उस महिला ने अनेक
कष्ट उठाकर सिलाई करके, मेहनत-मजदूरी करके अपने पुत्र को पढ़ा-
लिखा कर योग्य बनाया। पुत्र भी बुद्धिमान और होशियार था, अपनी योग्यता
से वह सेना में भर्ती हो गया। कुछ समय पश्चात् वह बहुत बडा अधिकारी
बन गया। मॉ ने उसे सबकुछ सिखाया, पर एक बात नहीं सिखायी। वह यह
मानता था कि जो कुछ हूॅ वह मैं हूॅ, दूसरा कुछ नहीं है, सब मुझसे छोटे
है। मॉ ने उसे विनम्रता नहीं सिखायी थी। एक दिन सडक पर जाते समय
केले के छिलके पर पैर पडने से वह गिर गया और उसका पॉव टूट गया

डॉक्टरो ने इलाज किया, एक पॉव मे कुछ और खराबियॉ हो जाने से उन्होने उसका पॉव काट दिया। वह अपने घर मे ही बैठा रहने लगा, उसे अपनी लाचारी महसूस होने लगी। उसने अपनी मॉ से कहा- मॉ, तूने मुझे सबकुछ सिखाया, पर यह नहीं सिखाया कि दुरभिमान नहीं करना चाहिये, विनम्र होना चाहिये। आज मुझे अनुभव होता है कि मै बहुत छोटा व्यक्ति हूॅ, दुनिया बहुत बड़ी है।

प्रत्यक्ष उदाहरण

एक ठाकुर थे। उन्होने किसी से कुछ रुपये उधार ले रखे थे। जब भी वह व्यक्ति अपने रुपये मॉगने आता, ठाकुर कोई बहाना बना देते, दो-तीन दिन वाद का वायदा करने लगते। एक दिन वह व्यक्ति आने वाला था। ठाकुर ने अपने पॉच-छह वर्षीय बालक को दरवाजे पर बैठने को कहा और समझाया कि जब वह व्यक्ति मुझे पूछने आये, तो तुम कह देना कि पिताजी घर मे नहीं है। पर बच्चे पर इस प्रकार झूठ बोलने का बहुत गलत प्रभाव पड़ा। उसने एक दिन अपने पिताजी के कोट की जेब से चार रुपये निकाले और खर्च कर दिये। ठाकुर ने जब जेब से चार रुपये कम पाये, तो घर मे सबसे पूछताछ की, सबने इकार कर दिया। उस बालक ने भी इकार कर दिया। ठाकुर के बार-बार पूछने और सत्य बोलने पर पिटायी न करने का आश्वासन पर बालक ने कहा-हॉ, मैने ही रुपये लिये थे। तब ठाकुर ने पूछा- तो तुमने झूठ क्यों बोला ? बालक ने कहा- पिताजी, आपने भी तो उस दिन झूठ बोला था। तब उस ठाकुर को समझ मे आया कि यह बच्चा मेरे कारण झूठ बोलना सीख गया।

यही हालत होगी

एक व्यक्ति शीघ्रता से कहीं जा रहा था। रास्ते मे एक नरमुॅडी पड़ी थी। वह व्यक्ति उससे टकरा कर गिर गया। उस नरमुॅडी पर वह बहुत क्रोधित हुआ। उस समय उस मे-से आवाज आयी- अरे, मेरा भी तेरे जैसा सुन्दर रूप था, तेरे गुलाब-जैसे गालो से ही गाल थे। आज जो हालत मेरी हुई है, कल तेरी भी यही हालत होगी। मेरे ऑखे होतीं, तो मै एक ओर हो जाती, पर तेरे तो ऑखे थीं, तू ही थोड़ा बच कर जाता।

कंबल ले डूबा

एक नदी के किनारे दो मित्र घूम रहे थे। कहीं से बाढ़ में बहता हुआ एक कबल उस नदी के प्रवाह मे आ गया। उनमें-से एक मित्र के मन मे उस कंबल को देख कर उसे प्राप्त करने की इच्छा हुई। वह नदी मे कूद गया और कंबल को पकड लिया। पानी मे भींग जाने से कंबल भारी हो गया था, इस कारण उस व्यक्ति से सँभाला नहीं जा रहा था। कभी वह व्यक्ति डूबने लगा, तो कभी वह कबल डूबने लगा। किनारे पर खड़ा मित्र यह सब देख रहा था। मित्र को डूबते देख कर वह चिल्लाया कि अरे बन्धु। इस कबल को छोड दो, तब तुम बच जाओगे। पर नदी मे बह रहे मित्र ने कहा कि क्या करूँ ? यह कंबल मुझे छोड़ ही नहीं रहा। उसके मन मे कबल के प्रति राग उत्पन्न हो गया था। उसने कबल नहीं छोडा और डूब गया।

इस राग के कारण ही प्रत्येक मनुष्य फॅस रहा है, दुखी हो रहा है। कोई थोडा फॅस रहा है, तो कोई अधिक फॅस रहा है।

प्रभु-विस्मरण

एक महिला ने एक बहुत प्रसिद्ध सुनार से एक नथ बनवायी। सुनार ने छह महीने के परिश्रम और प्रयास से एक अत्यन्त सुन्दर नथ बना कर दी। अब वह महिला उठते-बैठते, मन्दिर मे, समाज मे हर समय उस सुनार की कुशलता के गीत गाती रहती। एक दिन मन्दिर की सीढियों पर एक पण्डितजी मिले, उन्होंने उस महिला की, नथ की और सुनार की चर्चा सुन रखी थी। महिला ने पण्डितजी को रोक कर अपनी नथ और सुनार की प्रशसा मे गीत गाना प्रारम्भ कर दिये। पण्डितजी हँसे। महिला ने हँसने का कारण पूछा। पण्डितजी बोले- अरे बावली। जिसने तुझे नाक दी उसके तो तू गीत नहीं गाती और उस सुनार के गीत गाती है।

भ्रम बुद्धि से विनाश

एक महिला सिनेमा के परदे पर तूफान, आँधी, वर्षा देख कर सोचने लगी मेरी छत पर कपड़े सूख रहे है वे उड़ जायेगे, भींग जायेगे, उन्हे चल कर उठा लूँ, और वह सिनेमाघर से उठ कर शीघ्रता से घर की ओर चल दी। शीघ्रता के कारण वह एक मोटर से टकरा गयी और मर गयी।

सत्य है नकली को असली समझ भ्रम बुद्धि से हम दुखी होते है , अपना नाश कर लेते हैं।

तहॉ-के-जहॉ

एक रात कुछ व्यक्ति नाव मे बैठे। उन्हे नदी के दूसरे किनारे पहुॅचना था। रात भर चप्पू चलाते रहे, अरुणोदय के समय थोडा प्रकाश होने से उन्होने जानना चाहा कि हम किनारे पर पहुँचे या नहीं ? सामने देखा तो किनारा तो था, किन्तु वह नहीं था जहॉ पहुॅचना था, बल्कि वही था, जहॉ से चले थे , क्योकि उन्होने रातभर उद्यम तो बहुत किया, पर नाव की रस्सी, जो किनारे मे पेड़ से बॅधी थी , उसे नहीं खोला था। इसी प्रकार जब तक जीवन मे बुराइयो की गॉठ नहीं खोलेगे, उसे नहीं छोड़ेगे, तो क्या लाभ होगा ?

धिक्कार है मुझे।

अमेरिका मे एक व्यक्ति गाये पालता था। उनका दूध पीता था, बेचता था और बाद मे उनको मार कर उनका मॉस बेच देता था। एक बार वह एक गाय को मारने के लिए शस्त्र लेकर गया, तो वह गाय उसे वात्सल्य से चाटने लगी। उस व्यक्ति के मन मे तत्काल विचार आया कि यह पशु हो कर मुझसे इतना स्नेह, वात्सल्य करती है और मै इसे मारना चाह रहा हूॅ। धिक्कार है मुझे। मैं तो पशु-से भी निकृष्ट हो गया हूॅ। उसी क्षण से उसने वह व्यवसाय छोड़ दिया।

घृणा-तिरस्कार क्यों रखें ?

एक बाग मे एक सुन्दर कली फूटी। वहीं जमीन पर एक पत्थर का टुकड़ा पड़ा था। किसी आने-जाने वाले से उस पत्थर को ठोकर लग गयी, यह देख कर वह कली हँस पडी-मुझे देख सब खुश होते हैं और तुझे सब ठोकर लगाते हैं। दैवयोग से एक कारीगर वहाँ आया और पत्थर के उस टुकडे को ले गया, उसकी मूर्ति बनवाकर मन्दिर मे प्रतिष्ठित करवा दी। वह कली फूल बन गयी, उसे किसी व्यक्ति ने तोड कर उस मूर्ति के सामने भेट कर दिया। तब उस मूर्ति ने कहा-अरे, तुम तो हँसी उड़ाती थीं, आज यहाँ मेरे चरणो मे आ कर कैसे बैठ गयीं ? तब उस फूल ने कहा - सच है, कभी भी किसी के प्रति घृणा भाव (तिरस्कार भाव) नहीं रखना चाहिये।

जूठन साफ करने में बुराई क्या ?

अमेरिका मे हेनरी फोर्ड नामक एक बहुत बडा उद्योगपति (मोटर-निर्माता) हुआ है। एक बार एक भारतीय उद्योगपति फोर्ड से मिलने उसके निवास- स्थान पर गया। उस समय फोर्ड अपने खाने के बर्तन माँज रहा था। भारतीय उद्योगपति ने जब यह देखा तो बहुत आश्चर्य हुआ। उसने पूछा - आप यह क्या कर रहे है ? यह काम तो नौकर ही कर देगे। फोर्ड ने कहा - प्रात काल प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपना भंगी बनता है, तो स्वयं की जूठन साफ करने मे बुराई है ?

वे दोनों सत्य हैं

कवि बनारसीदास ने नाटक समयसार मे लिखा है, एक व्यक्ति पहाड पर जन्मा, वहीं रहने लगा, कभी पहाड से नीचे नहीं उतरा। एक दूसरा व्यक्ति नीचे पृथ्वी पर जन्मा, वहीं बडा हुआ, कभी पहाड़ पर नहीं गया। एक दिन पृथ्वी वाले व्यक्ति को पहाड पर एक व्यक्ति दिखायी दिया, उसने सोचा- यह मानव-जैसा कीड़ा कहाँ से आया ? पहाडवाले व्यक्ति ने भी सोचा- यह मानव-जैसा कीड़ा कहाँ से आया ? जब दोनो थोडी दूर आगे बढ़ कर पास आये, तो ज्ञात हुआ कि यह भी मानव है, जितना बडा मै हूँ, उतना बड़ा ही

वह है। उसी प्रकार जब तक व्यवहार और निश्चय दूर-दूर है, तब तक वे मिथ्यावादी है और जब पास जाये, समीप रहे, समान रूप मे रहे, तब वे दोनो सत्य है। न सर्वथा व्यवहार झूठा है, न सर्वथा निश्चय झूठा है।

मन का शल्य

एक बार आचार्य शान्तिसागरजी महाराज एक गॉव से दूसरे गॉव विहार कर रहे थे। राह में एक साधु की झोपड़ी थी। साधु द्वारा आग्रह करने पर आचार्यजी ने उसकी झोपडी मे एक शिला पर बैठ कर ध्यान किया। कुछ देर पश्चात् आचार्यजी ने वहॉ से विहार किया। राह मे वह साधु अपनी झोपडी की प्रशसा करने लगा- महाराज, मेरी झोपडी बहुत अच्छी है, सुन्दर है, सब तरह से सुरक्षित है, इसमे कोई जानवर नहीं घुस सकता। इस प्रकार वह दस मिनट तक अपनी झोपडी के गीत गाता रहा। फिर उसने पूछा- महाराज, आपको मेरी झोपड़ी कैसी लगी ? आचार्यजी मुस्कराये और कहा- अरे पहले घर के गीत गाता था, अब घर छोड़ दिया, परिवार छोड दिया और झोपड़ी में आ कर रह रहा है, अब इसके गीत गाता है, तूने क्या छोड़ा ? वह साधु वापस भाग कर आया और उस झोपड़ी को आग लगा दी। पुन आचार्यजी के पास कहने के लिए भागा कि कहीं महाराज मुझे रागी न समझ ले। उसने आ कर कहा- महाराज, मैने झोपड़ी जला दी, बिल्कुल खाक कर दी। कुछ देर तक साथ चला और कहने लगा- कुछ भी कहे, पर महाराज वह झोपडी थी बहुत अच्छी।

वह घास की झोपडी तो जल गयी, पर मन की झोपडी नहीं जली। जब तक मन का शल्य नहीं मिटायेगे, तब तक सम्यग्ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता।

राम-कथा का बोध

राम-कथा के विविध आयाम हैं। रामायण का युग-संस्करण तैयार हो सकता है। इसे युग-सदर्भ मे इस प्रकार समझ सकते हैं

शबरी ने जूठे बेर राम को नहीं दिये थे। उसने बेर खा-खाकर राम के लिए उन वृक्षों से मीठे बेर चुने थे, जैसे हम टोकरे मे-से एक आम खा कर आम खरीदते हैं कि हॉ, इस वृक्ष के आम मीठे है। ○ हनुमान पवन के पुत्र नहीं थे, 'पवन-सुत' नाम का अर्थ है कि वे पवनंजय के पुत्र थे, उनका सूर्य-पुत्र नाम उनके नाना के कारण पडा। ○ हनुमान बन्दर नहीं थे। उन्होने नगर मे सिंह का रूप धारण कर भ्रमण किया था और बाद मे बन्दर का रूप -

घटनाएँ : भूलूँ कैसे ?

(आपबीती घटनाओ का मार्मिक चित्रण)

ऐसी घटनाओं के आँचल-तले यदि हम
जिन्दगी बिताएँ तो न सिर्फ हमारा बल्कि पूरी
धरती का जीवन स्वर्ग बन सकता है।

- डॉ नेमीचन्द जैन

१५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर – ४५२ ००१ (मध्यप्रदे

'मेरी ममता की एक ही क़िस्म है'

एक वार माँ से मैने दोनो भाइयो के सामने सवाल किया था 'माँ, बता तू हममे-से किसे सवसे अधिक प्यार करती है ?' उस समय उसकी आँखो मे सावन-भादो की घनघोर घटाएँ घुमड़ आयी थीं, शायद वह सोच रही थी - 'यह कैसा पेचीदा सवाल है, इनमे-से सभी तो मुझे प्राणो से अधिक प्यारे है, मेरे कलेजे के टुकड़े'। वह रो रही थी और सोच रही थी - 'क्या उत्तर दूँ' ? क्या अनायास आये इन आँसुओ मे सारा जवाव नहीं था ? उसके भींगे आँचल पर आँसुओ की लिपि मे सवकुछ लिखा हुआ था, किन्तु हम अभी इतने सुशिक्षित कहाँ थे कि माँ की भाषा को ठीक-ठीक समझ पाते।

मै घवरा गया, क्या मुझसे कोई गलती हुई है ? हम तीनो भाई थाली पर वैठे थे, माँ हमे परोस रही थी। प्रश्न वैसे ही ओठो पर आ गया था, हाथ का कोर हाथ मे ही रह गया था। अन्त में माँ ने सँभलते हुए कहा 'देखते हो मेरा हाथ, इसमे पॉच अँगुलियाँ है। पाँचो पाँच किस्म की हैं, मध्यमा सब मे बड़ी है, कनिष्ठा सबमे छोटी, अँगुष्ठ छोटा, मोटा और नाटा है। इन सवमे मेरी आत्मा का प्रवेश एक-जैसा है। आत्मा कहाँ कम, कहाँ ज्यादा है, मै नहीं जानती, मेरे लेखे शायद सवमे एक-जैसी है। लो यह सुई और इनमे-से जिसे चाहो चुभाओ, मुझे एक-जैसी व्यथा का अनुभव होगा। जैसे अँगुलियो मे विना किसी भेदभाव के मेरी आत्मा का प्रवेश है, वैसे ही तुम मे भी समझो। मेरे भीतर तुम सब एक समान हो। वहाँ कद, उम्र, रग-रूप का कोई भेद नहीं है। सवका एक कद है - ममता, सबका एक वर्ण है - वात्सल्य। तुममे-से किसी एक से एक किस्म का और दूसरे से दूसरे क़िस्म का प्यार कैसे कर सकती हूँ, मेरी ममता की एक ही क़िस्म है और वह सबके लिए समान है। जैसे जन्मभूमि को उस पर रहने वाले एक-जैसे प्यारे होते है, वैसे ही मेरी मनोभूमि पर तुम सब एक हो, एक-जैसे हो।' इतना कह कर माँ चुप हो गयी और उसकी आँखो मे मेघावलियाँ फिर लौट आयीं।

सचमुच माँ-जैसी राजा और कोई नहीं थी, उसकी प्रजा पर उसकी ममता धर्मनिरपेक्ष, उसकी करुणा वर्णनिरपेक्ष, उसके स्नेह की रसधारा गुणनिरपेक्ष अनवरत प्रवाहित रही। कहावत है 'माता कुमाता नहीं होती, पूत कपूत भले ही हो।' माँ युद्ध के स्तर पर अपने परिवार की परवरिश करती रही। वह आजीवन एक भरे-पूरे कुटुम्ब को पोसती रही और जीवन की साँझ मे जल्दी उठनेवाली और देर से सोने वाली उस माँ की उपेक्षा ही हुई।

माँ प्रेम की सजीव प्रतिमा, त्याग और वलिदान की जीति-जागती मूरत, सेवा और कर्त्तव्यनिष्ठा की जीवन्त विग्रह थी। माँ की निर्मल-विमल सत्ता की कोई तुलना नहीं है, चाहे जितनी महान् सम्पदा हो माँ के वलिदानो का प्रतिदान नहीं कर सकती। माँ माँ है, उसके लिए कोई उपमा नहीं है, कोई रूपक नहीं है, कोई अलकार नहीं है, कोई उपाधि नहीं है। वस, सारी दुनिया के लिए एक ही शब्द है - 'माँ'।

यह एक ऐसी घटना है जो वरवस / हमेशा ताजा है और ताजगी देती रहती है।

(माँ की ३९वी पुण्यतिथि १६ दिसम्वर, १९९६ पर आयोजित पारिवारिक मिलन मे सुनायी गयी घटना)

'सीना मेरी आदत है'

घर के फटे कपड़ो पर पिताजी की निगाह बराबर बनी रहती थी। कपड़ा फिर चाहे वह कुरता-पायजामा हो, चड्डी-बनियान हो, धोती-साड़ी हो, तौलिया-चादर हो। जहाँ उन्हे खण्डित दिखायी दिया, उन्होने अपनी सुई-धागे से उसे अखण्डित किया। फिर वह चाहे किसी का भी हो।

एक बार पिताजी ने मेरे खादी के कुरते या पायजामे को सी दिया था। तब मै कॉलेज मे पढ़ता/पढाता था। प्रतिक्रिया-स्वरूप मैने उन्हे बुरा-भला कह डाला। यह सुन कर वे मुस्कराते हुए बोले - ''बुरा क्यो मानते हो, सीना तो मेरी आदत है।' मै चुप रह गया, यह घटना मेरे जिहन मे कहीं गहराई मे पैठ गयी। इस घटना से जो सीख मिली वह आज भी इस दिशा मे मुझे सक्रिय बनाए हुए है।

(अपने ७० वें जन्म-दिवस ३ दिसम्बर, १९९६ पर लिये गए सकल्प 'मैं इस वर्ष नये कपड़े नहीं सिलवाऊँगा, स्वीकार भी नहीं करूँगा, फटने पर स्वय सीकर पहनूँगा।' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है -स)

'उसके पास सिर्फ़ एक ओढ़नी है'

बात १९५३ की है। मै भीली बोलियो की खोज़बीन के लिए निकला था। अपनी झोली मे शब्द-धन सचित करने, बटोरने। गुजरात का एक भीलग्राम है। कॅवार की धूप है। धूप तेज है। मेरे साथ मेरे अजीज दोस्त मकबूल हुसैन फखरी है। हम दोनो प्यास से तड़प उठे है। हमारी आँख एक भील टाप्रे पर है। दोपहर का वक्त है। सूरज पश्चिम की ओर खिसकने लगा है। पुरुषवर्ग खेतो मे है, स्वस्थ भीलागनाएँ भी उनके साथ है, हम जिस टाप्रे के सामने एक खटिया पर बैठे है, वहाँ कोई हलचल नहीं है। सन्नाटा है। हमने तेज आवाज़ मे पानी का जिक्र किया है। टाप्रे मे-से एक फटे हाल भीलनी मटका ले कर निकली है। उसने पास कहीं से पानी ला कर हम लोगो के सामने रख दिया है, हम शहरी है। सोच रहे है, पीने के लिए या जल निकालने के लिए कोई पात्र मिलेगा, किन्तु ऐसा कुछ हुआ नहीं। हमने एक-दूसरे की मदद की और बोख से पानी पिया।

हम सोचने लगे, वह बहिन टाप्रे से बाहर आये तो उसे धन्यवाद दे, उसका उपकार माने और आगे बढ़े, किन्तु वह नहीं आयी। वह शायद आ नहीं सकती थी। कोई लाचारी थी। एक अन्य महिला वहाँ से निकली। हमने अपनी समस्या उसके सामने पेश की। वह अन्दर गयी। लौटकर बोली - ''सुनो, उसने अभी कुछ दिन पहले एक शिशु को जन्म दिया है। वह उसकी देख-भाल कर रही है। उसके पास सिर्फ एक ओढ़नी है, जिस पर उसने अपने बेटे को जमीन पर डाल रखा था। जब पानी लेने गयी थी तब उसे ही ओढ़ लिया था। अब उसने उसे फिर बिछा दिया है, इसलिए दुबारा नहीं आ सकेगी। मैने उसे आपकी भावनाएँ बता दी है।''

हमारी पलके भींग गयीं। शहरो मे कहाँ ढेरो साड़ियाँ कॅवारी पड़ी रहती है और कहाँ उसके पास ठीक-से एक ओढनी भी नहीं है; लगा हिन्दुस्तान किसी एक खास मुकाम पर ठहर

गया है। आज भी कई गाँवो मे १९५३ ही जीवन्त है। क्या हम अपने वेईमान चरित्र के वलबूते पर इस सामाजिक विपमता से कभी जूझ पायेगे ? यह एक ऐसी घटना है, जिसकी आँखो मे पूरे हिन्दुस्तान के आँसू सिमट आये हैं।

'घोड़ी प्यासी है'

कुँवार का महीना है। तिथि भूल रहा हूँ। मै और मेरे साथी भाई मकबूल हुसैन फखरी (बोहरा, वड़वानी) गुजरात के आदिवासी-क्षेत्र मे है। छोटा उदेपुर से आगे कवाट एक सुन्दर कस्वा है। उसके आगे ऊवड़खावड़ पहाड़ी इलाका है, जहाँ भील रहते है। मै भाषिक अनुसधान र निकला हूँ, किन्तु भीतर वहुत गहरे भारत की अन्तरात्मा के दर्शन की ललक है। दोनो चले I रहे है और तरह-तरह के लोगो से मिल रहे है। मै गुजराती समझ लेता हूँ, बोल नहीं कता। भाई फखरी फर्राटे से बोल लेते है। बोहरो मे गुजराती का प्रचलन है। गुजराती बौराए म्रवृक्ष-सी भाषा है।

खूब गर्मी है, किन्तु काम तो करना ही है। कुछ नये तथ्य लेने है, कुछ जो पूर्वाकलित , उनकी पुष्टि करनी है। कवाट से एक और मित्र साथ हुए है। शायद वे वहाँ के अध्यापक है। ड़े उत्साही, नेक और ईमानदार, हमदर्द और रहमदिल। मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, किन्तु ाम तो करना ही है। सकल्प दृढ है। सबेरे कुछ हरारत थी, अव ठीक हूँ। स्थानीय मित्र की य है कि एक घोड़ी कर ली जाए ताकि चढ़ाई पर कोई दिक्कत न हो। मै भरोसा नहीं कर पा हा हूँ कि घुड़सवारी मुझसे हो पायेगी। मन के घोड़े की लगाम जिसके हाथ से छूट-छूट जाती , उससे अश्वारोहण की उम्मीद भला कैसे की जा सकती है ? मै कह रहा हूँ - ''पाँव-पैदल ल लेगे। घोड़ी के चक्कर मे क्यो पड़ते है ?'' ''आप नहीं जानते जैनजी, पहाड़ी पर इसकी रूरत पड़ेगी। आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। काम व्यर्थ ही अधूरा रह जाएगा'' - मित्र ने हा। काम मै किसी कीमत पर अधूरा छोड़ने को तैयार नहीं हूँ, अत मैने प्रस्ताव मान लिया है।

घोड़ी साथ है। पहले मै सवार हुआ हूँ। थक गया हूँ। सहारा मिला है। अच्छा लग रहा है। धूप तेज है। कण्ठ सूखने लगा है। एक आदिवासी टाप्रे से जल आया है। हम सव पी रहे है। घोड़ी यह सव कनखियोसे देख रही है, किन्तु हममे-से कोई उसका ध्यान नहीं रख सका है। वह भी प्यासी है। यदि वह बोल पाती तो सभव है अपना दर्द कह पाती। हम लोग बिना उसकी फिक्र किये आगे बढ़ गये है। घोड़ी के मन मे वया घटित हुआ है, इसे कौन जाने, किन्तु प्यासी वह है, यह असदिग्ध है। अक्सर होता यह है कि हम अपनी सुख-सुविधा देखते हैं, दूसरो की नहीं। घोड़ी मुझे अप्रमत्त ढो रही है, उसकी कोई चिन्ता मै नहीं कर पा रहा हूँ। घोड़ी ने इस पर विचार किया है। वह विचारशीला है। हम चढ़ाई पर है। अपने काम मे वेभान लगे है। शब्द/वाक्य/मुहावरे/कहावते/कहानियाँ/गीत/पहेलियाँ/रीत-रिवाज़ इत्यादि आकलित कर रहे हैं। दोपहर वाद के यही कोई एक बजे है। अब हम लोग उतार पर वसे एक गाँव मे हैं। बीच मे एक नाला आया है। उसमे पानी है। नाला आदमी से अधिक समझदार है। उसने घोड़ी को

न्योत लिया है। घोड़ी बीच धार मे है। उसने अपना सिर झुका लिया है और उस पर से गुज़र कर एक अपराधी की तरह छपाक से उसके सामने मै आ खड़ा हुआ हूँ। कपड़े भींग गये है, किन्तु अहसास हुआ है कि दु ख जैसा अपना वैसा दूसरे का। साथी हँस रहे है - लोटपोट। घोड़ी पानी पी रही है और मै गभीरतापूर्वक मेरे पानी पी लेने और घोड़ी का खयाल न रख पाने की तुलनात्मक समीक्षा कर रहा हूँ।

तब से अब जब भी मै कोई काम करता हूँ ध्यान रखता हूँ कि जरूरते जैसी मेरी है, वैसी पास-पड़ौस की भी है। दर्द की कोई आक्षरिक भाषा नहीं है, किन्तु आँख चाहे घोड़ी की हो, आदमी की हो, कुत्ते की हो, साँप की हो - वह सब कह लेती है, जो मानवकृत भाषाएँ कहने मे चूक जाती है।

घोड़ी की आँखो मे तृप्ति की जो चमक देखी, उसने उस क्षण मुझे निहाल कर दिया। अनुसधान अपनी जगह है और प्राणो-से-प्राणो की बातचीत अपनी जगह। भारतीय सस्कृति, विशेषत श्रमण सस्कृति, हमे एक ऐसी भाषा देती है, जिसमे वर्ण-वैभव नहीं है, किन्तु एक-दूसरे को समझने/समझाने की विलक्षण शक्ति है। काश, आज फिर हमारी वह मूर्च्छित विरासत होश सभाल पाती !

'दूसरे दुखी हों, यही मेरा सुख है'

उन दिनो मै नीमच के एक सार्वजनिक छात्रावास का अधीक्षक था और स्थानीय राजकीय महाविद्यालय मे हिन्दी पढ़ाता था।

छात्रावास मे कोई तीसेक छात्र थे। कमरा न २ मे एक गेहुएँ रग और नाटे कद का लड़का रहता था। उम्र यही कोई १६-१७ की रही होगी। लड़का देहात का था, देखने मे सत, सज्जन, विनम्र, किन्तु भीतर-भीतर औरो से काफी भिन्न। मै बहुत दिनो से उसको/उसकी गतिविधियो को लेकर चिन्तित था। वह रात मे काफी लेट आता था और बिना किसी आहट के सो रहता था। कॉलेज नियमित जाता था, किन्तु बचे हुए समय मे कई अनियमित काम करता था। मुझे उसके कमरे पर प्राय दोहरे ताले लगवाने होते थे। देर रात लौट कर वह मुझसे क्षमा माँग लेता था और मै उसे प्राय क्षमा कर देता था, किन्तु मेरे इस आचरण से बात उतनी बनी नहीं, जितनी बिगड़ गयी। लड़का माँ-बाप के हाथ से तो पहले ही निकल चुका था, अब मेरे हाथ से भी निकल गया।

वैसे वह सीधा-सादा था।

एक दिन उसने मन-ही-मन कोई योजना की और लगभग दोपहर बाद २-३ बजे छात्रावास से निकल पड़ा। उसकी कक्षाएँ सबेरे लगा करती थीं। वह कॉमर्स प्रथम वर्ष का छात्र था। उसके पास बाइक नहीं थी, अत उस दिन उसने बिना पूछे किसी छात्र की साइकिल उठा ली और चल दिया।

बाद मे जो रपट मुझे मिली उसके अनुसार वह नगर की एक होटल पर गया था और

उसने छात्रावास वाली साइकिल वहाँ छोड़ दी थी और किसी नागरिक की साइकिल उठा कर वह आगे चल दिया था। इसी तरह वह एक अन्य होटल पर गया और वहाँ होटल न १ की साइकिल छोड़ कर किसी और की साइकिल लेकर वह आगे बढ़ गया था। इसके पीछे उसकी कोई बदनीयत नहीं थी, मात्र वह कई लोगो को परेशानी मे डाल कर खुश होना चाहता था।

करते-कराते उसने २-३ घण्टो मे २०-२२ आदमियो को चिन्तित कर दिया। सब इधर-उधर दौड़े। किसी ने पुलिस मे रपट की, किसी ने कुछ किया और किसी ने कुछ। कुछेक आमने-सामने पड़ गये। हाथापाई हुई, किन्तु वह छात्र सीधे छात्रावास आया और चटखनी लगा कर आराम से सो गया।

थानेदार ने मुझे सूचित किया कि छात्रावास के किसी छात्र ने - नाम ठीक बताया था - इस तरह का कोई काम किया है और वह कई बार इस तरह के काम करता है। उसे गिरफ्तार करना जरूरी है। मैंने ऐसे किसी छात्र के होने से इकार किया और थानेदार से कहा कि वह शेर की माँद मे सोच-समझ कर ही सिर डाले। जैसे-तैसे रात निकल गयी। सवेरे मुझे लगा कि मामले की छानबीन की जानी चाहिये और वास्तविकताओ का पता लगाना चाहिये। मैं कमरा २ मे गया।

उस समय यही कोई ७-८ बजे होगे। लड़का कॉलेज जाने को था। मैंने उसे रोका। बोला - "कोई खास काम है सर ?" मैंने कहा - "हाँ"। मैंने कमरा खुलवाया और इतमिनान से बैठ गया।

मैंने देखा लड़का काफी शौकीन है। वैसे मैं लड़को के कमरो मे कभी-कभार ही जाता था। चौकीदार या उत्तरदायी छात्र मुझे आवश्यक सूचनाएँ दे दिया करते थे और मैं सबन्धित छात्रो को कार्यालय मे ही बुला लिया करता था।

मैंने चारो ओर नज़र दौड़ायी तो पाया कि दीवारो पर फ्रेमे है जिनमे नोट, अभिनेत्रियो के चित्र, और छात्र का एक खास चित्र है। अलमारी देखी, जिसके एक खन मे दुनिया-भर के मजन, पेस्ट रखे है और एक मे हेअरओईल की रग-बिरगी अनेकानेक शीशियाँ। मैंने पूछा - "यह सब क्या है ? तुम अपने पिता का रुपया इस तरह बर्बाद करते हो ? तुम्हे शर्म नहीं आती ?" सिर झुकाये बोला - "सर, यह मेरा शौक है। मुझे इसमे सुख मिलता है"। मैंने रात की बात उससे कही। वह बोला - "सर, सब कुछ सरासर झूठ है। एक तो मैं होटलो मे जाता नहीं हूँ और फिर आप ही सोचे ऐसा मैं क्यो करूँगा ? मेरे पास तो साइकिल भी नहीं है।"

मैंने उसे आश्वस्त किया कि कमरे मे सिर्फ हम दो ही है और उसे सारी बात खोल कर बता देनी चाहिये अन्यथा यदि पुलिस उसे पकड़ कर ले गयी तो मैं उसकी कोई मदद नहीं करूँगा। छात्र मेरे विचार/स्वभाव से वाकिफ था। उसने तुरन्त पाँव पकड़ लिये और बुरी तरह रोने लगा। मैंने ममतावश कहा - "मैंने तुमसे कई बार कहा है कि तुम मुझे अपना नाना और मुझसे कुछ मत छुपाओ। इसमे रोने को क्या है ? मुझे तो यह बताओ कि तुम ऐसा करते क्यो हो ? इससे तुम्हे कोई आर्थिक लाभ तो है नहीं, व्यर्थ ही बदनाम होते हो।"

लड़का फफक-फफक कर रोने लगा और कहने लगा - "सर, आप नहीं जानते मै कितना विवश हूँ। मै दूसरो को पीड़ा पहुँचाना चाहता हूँ। यही मेरा आनन्द है। यही मेरा सुख है। मै नहीं जानता, दूसरो को दुखी/परेशान करने मे मुझे क्यो सुख मिलता है। जिस दिन जब मै अधिक लोगो को परेशान करता हूँ, मुझे अधिक नींद आती है और अच्छी भूख लगती है।"

मैने उसे बहुत समझाया कि यह भारतीय सस्कृति के विलकुल विपरीत है। उससे इसकी कोई सगति नहीं है। यह अमानवीय भी है, किन्तु उसे मेरी एक बात नहीं रुची। वह रोता रहा और अपनी लाचारी दोहराता रहा।

मै नहीं जानता कि अब वह छात्र कहाँ है, किन्तु देख रहा हूँ कि इन दिनो उसके वशध बढ़ गये है और लोगो को तरह-तरह की परेशानियो मे डाल रहे है।

'हाउ स्वीट'

१९४६ का वर्ष है। मै इन्दौर क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर मे इटरमीजिएट प्रथम वर्ष का छात्र हूँ। हमारा एक पीरियड बाइबिल का होता है। बाइबिल पढ़ाते है फादर ब्राइस। बहुत भले, लम्बे-पूरे, लालचट्ट, तनिक-सी कूबड़ बाहर, मन के खूब साफ-सुथरे, वेशभूषा मे सादे, विचारो मे ऊँचे, टेनिस के कुशल खिलाड़ी।

कक्षा शुरू होने को है। उन्होने ईसा मसीह की प्रार्थना की है। अक्सर उनकी मेज खाली रहती है, किन्तु आज वैसा नहीं है। कुछ छात्रो ने शरारत की है। वे कॉलेज के बगीचे से एक बड़ा गमला उठा लाये है और उसके नीचे उन्होने कुत्ते के चार पिल्ले किसी तरह रख दिये है। गमला औधा है। चूँकि दिसम्बर का पहला हफ्ता है, स्वभावत ठण्ड अपने पूरे यौवन पर है, अत पिल्ले शान्त है। लग रहा है गमला यूँ ही रक्खा है, बिना किसी प्रयोजन के।

फादर ब्राइस बहुत शान्त मन-मस्तिष्क के व्यक्ति है। उनके जीवन मे कोई शल्य या तनाव नहीं है, अत उन्होने गमले की अनदेखी कर दी है और अपने रोजमर्रा के काम मे लग गये है।

प्रार्थना के तुरन्त बाद पिल्लो ने कूँ-कूँ शुरू कर दी है। ब्राइस साहब दयालु किस्म के व्यक्ति है। उन्होने आहिस्ते से गमला उठाया है और देखा है कि तीन-चार पिल्ले भरभरा कर एक साथ उछल कर कक्षा मे इधर-उधर दौड़ गये है फिर भी वे शान्त है और 'टेन कमाडमेट्स' पढ़ा रहे है। पिल्ले धीरे-धीरे चले गये है। किचित् शोरगुल के बाद सब कुछ शान्त हो गया है। इस अस्तव्यस्तता का लाभ उठा कर कुछ छात्र चुपके से खिसक गये है। कक्षा लगभग आधी रह गयी है, किन्तु फादर ब्राइस है कि पूरे सतुलन से यथापूर्व अध्यापन मे तल्लीन है। मै नहीं समझता आज कोई अध्यापक इस तरह अभग/अविचल/अस्खलित कोई काम कर सकता है।

वैसे ही एक दिन फादर ब्राइस क्लास ले रहे थे। कुछ लड़को को अजीबोगरीब सूझा। उन्होने अपनी सीट पर से प्रार्थना के समय, जब फादर ब्राइस ऑखे बद किये प्रभु यीशु की प्रार्थना कर रहे थे, ठीक सिर पर टमाटर फेके। ब्राइस साहब खल्वाट है। उनके सिर पर

बगल-बगल वाल है, किन्तु केन्द्रवर्ती प्रदेश पूरी तरह खाली है। टमाटर-कुल- तीन-एक-बाद-एक उन पर गिरे और फूटे है। वे निश्चल खड़े है और कह रहे है - ''हाउ स्वीट''। सारा सकट वे हँसते-मुस्कराते झेल गये है। किसी छात्र से उन्होने एक शब्द भी नहीं कहा है। उनके वस्त्र विगड़ गये है। चेहरा टमाटर के रगीन रस मे शराबोर हुआ है, किन्तु वे सहिष्णुता की मूर्ति बने खड़े है। मै अवाक्/स्तब्ध हूँ। मेरे सामने सलीब उभर आया है और लग रहा है जैसे कोई ईसा उस पर कस दिया गया है, जिसके मुँह से निकल रहा है ''तू इन्हे क्षमा कर दे चूँकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर हे है''।

मै एक अनिर्वचनीय / शब्दातीत आध्यात्मिक रोमाच से भर उठा हूँ और मन-ही-मन उस महर्षि के चरण छू रहा हूँ। मेरे लिए आज भी वह सब वर्तमान है। मैने देखा फादर ब्राइस टमाटर-जूस मे नहाये कह रहे है - ''सुने, मै अभी आया, आप बैठे।'' और तकरीबन दस मिनिटो मे वे तरोताजा लौट आये है और मुस्करा रहे है इस तरह कि जैसे-कुछ हुआ ही नहीं, किन्तु अब कोई छात्र कक्षा मे नहीं है। मै हूँ। ब्राइस साहब मेरे सामने है। मैने उनसे कहा है - ''पढ़ाइये''। ऐसा कहते हुए मै भीतर से हिल उठा हूँ चूँकि देख रहा हूँ कि उनकी आँखो मे आँसू, सुख और वात्सल्य तीनो एक साथ घुमड़ आये है।

माना, आज वे दुनिया मे नहीं है, किन्तु मेरी आँखो के सामने उन्हे लेकर ऐसे बीसियो प्रसग है, जब ईसा मसीह उनमे पुनरुज्जीवित हुए है। क्या हम कभी अपने चिन्तन को इस तरह अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी से जोड़ पायेगे ?

अन्धा वह या अन्धे हम

११ जुलाई १९५२ की घटना है। उस समय मैं इन्दौर क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर मे हिन्दी-विभाग का अध्यक्ष था। कॉलज की प्राचार्या श्रीमती एल डब्ल्यू ब्राइस अपने कक्ष मे बैठी थीं। दो-तीन अन्य अध्यापको के साथ नये सत्र पर विचार-विमर्श चल रहा था। दोपहर के लगभग साढ़े नौ बजे थे। अजोध्या ने सूचना दी कि कॉलेज-गेट पर कोई ताँगा खड़ा है, जिसमे एक अन्धा छात्र है, जो समाजशास्त्र (एम ए) मे प्रवेश लेना चाहता है।

यह जानते हुए भी कि कॉलेज मे अधे छात्रो के शिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है, श्रीमती ब्राइस तुरन्त उठ खड़ी हुई। उन्होने सारे कामकाज स्थगित कर दिये और बड़ी फुर्ती से गेट पर जा पहुँचीं। मै भी उनके साथ हो लिया। उन्होने लपक कर ताँगे की खिड़की खोली। छात्र का स्वागत किया। उसे सहारा देकर उतारा और कधे पर हाथ रखे बड़े कोमल मन से उसे अपने कक्ष मे लायीं। तागे और कक्ष तक के फासले मे उन्होने छात्र से खूब [illegible] कर बातचीत की और पूछा 'उसने बी ए कहा से किया, उसकी उम्र क्या है, उसके [illegible] मे और कौन-कौन है, उसका नाम क्या है, उसे कौन-कौन-सी वस्तुएँ पसद है, वह [illegible] रहता है, पहली बार ही क्यो आया, वह उन्हे अपनी माता माने और जब चाहे तब आये' [illegible]। मैने छात्र के चेहरे से अनुमान लगाया कि वह सब उसके लिए बिलकुल नया और [illegible] अनुभव था।

कक्ष मे उसे सब मे आरामदेह कुर्सी पर बैठाया ताकि उसे महसूस न हो कि वह दूसरे से कम है, समाज मे तिरस्कृत/उपेक्षित। श्रीमती ब्राइस कनाडा की रहने वाली थीं और प्रेसबीटीरियन चर्च की अनुयायी थीं। उनमे मॉ-सी ममता और अद्भुत वत्सलता थी। उस समय उनकी वय यही क़रीब ५५-५६ वर्ष रही होगी।

बावजूद सारी व्यस्तताओ के उन्होने आगन्तुक छात्र के साथ लगभग एक घण्टा व्यतीत किया। उसकी ज़िन्दगी मे भरपूर दिलचस्पी ली। एक पल भी अपने बारे मे कोई चर्चा न की। प्रतिक्षण उसी के सबन्ध मे चर्चा करती रहीं। इस तरह उसे आश्वस्त किया। उसके प्र शुभ/स्वस्तिभाव प्रकट किया। उसके अतीत के बारे मे जाना, भावी स्वप्नो/योजनाओ रुचि ली और इतने स्वल्प समय मे ही उसे अपना परिजन बना लिया। वे उसके साथ र हँसीं। हिन्दी-अग्रेजी दोनो मे बोलती रहीं, विनोद करती रहीं, और चाय की चुस्कियाँ ले रहीं। उस अधे छात्र के प्रति उनका जो सुकुमार सलूक था वह आज चिराग ले कर भी कहीं नही मिलता। इधर लोग-खास तौर से शिक्षा मे लगे लोग-पूरी तरह औपचारिक हो गये उनमे आत्मीयता चुक गयी है - निरे नीरस, खाली लोग।

मुझे याद है चाय की प्याली छात्र को देते हुए उन्होने बहुत ही मधुर स्वर मे कहा थ ''मुझे जल्दी नहीं है। चाय शान्ति से पियो और मुझसे बाते करो।''

इसके बाद वे उसे तॉगे तक लायीं। उसे सहारा देकर तॉगे मे बैठाना चाहती थीं रुकी और बोलीं - ''बेटे, हमारे कॉलेज मे हम जल्दी ही ब्रेललिपि मे पढाना शुरू करे पुस्तकालय मे ऐसी किताबो का एक अलग से विभाग भी बनायेगे, किन्तु यह सब जल्दी हो पायेगा। तुम्हे यहॉ हम एक अध्यापक के रूप मे ही ला पायेगे, छात्र के रूप मे नही। मेरी म तुम्हे हर क्षण मिलेगी। तुम कभी भी मेरे निवास पर/दफ्तर मे आ सकोगे। मेरे द्वार तुम्हारे हमेशा खुले रहेगे। मुझे विश्वास है तुम अगले दो सालो मे एम ए कर लोगे। मै तुम्हारे एक ब उज्ज्वल भविष्य की प्रतीक्षा करूँगी।'' और उन्होने उस अधे छात्र की दाहिनी हथेली गरमाहट से चूम ली। मैने देखा उनकी ऑखो मे ऑसू है और वे ईश्वर से कोई मौन प्रार्थना रही है, किन्तु उन्होने अपने इस दर्द की कोई सूचना अपनी वाणी और व्यवहार मे नहीं मुझे लगा मानवता अभी भी ज़िन्दा है और ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम अपनी समृद्धियो बीच उन लोगो के लिए कोई हमदर्दी न रखे जो किन्हीं अज्ञात कारणो से हमारी तरह परि नहीं है। और उन्होने उस छात्र को तॉगे मे बैठाया। तॉगे वाले को आने-जाने का किराया हुए कहा - ''देखो मित्र, मेरे इस बेटे को कोई कष्ट न हो इसका ध्यान रखना''।

क्या इस तरह के किसी सामाजिक वात्सल्य को हम कभी प्रकट कर पायेगे ?

'खेत पर आओगे तो ·'

शिवपुरी (म प्र) से झाँसी (उ प्र) के लिए बस मे सवार हुआ। अगली सीट थी। कु देर अकेला रहा, किन्तु, बस के रवाना होने से पहले एक भाई आ बैठे। सीट तीन की थी, ह दो ही थे। काफी उन्मुक्तता से बैठे। यही कोई दोपहर पूर्व के ११ बजे थे। खिड़की खुली थी

...आ रही थी। मौसम न अधिक गर्म, न अधिक ठण्डा था। पड़ोस मे बैठे भाई हट्टे-कट्टे, ...-पूरे, गेहुए, बलिष्ठ थे। काश्तकार लगते थे। बात उतनी करते थे, जितनी उनसे की जाती ...। काफी सार्थक थे।' न किसी से लेना, न किसी का देना' क़िस्म के आदमी थे।

बस दौड़ रही थी कि इतने मे खिड़की से एक बर्र भर्र से अन्दर आयी और पड़ोसी के ...न पर बैठ गयी। मैने पड़ोसी का धर्म निभाना चाहा, किन्तु सहयात्री ने बलपूर्वक मेरा हाथ ...द दिया। मैं चुप। क्या करता ? उन्होने भी बर्र का कोई उपाय नहीं किया। गाड़ी चलती रही, ...इत्मीनान से बैठी रही। मैं बराबर चिन्तित बना रहा, किन्तु पड़ोसी शान्त/सुस्थिर/निश्चिन्त ...। अकम्प/अविचल/अन्तत बर्र उड़ गयी और उसने उन्हे नहीं काटा।

मेरे लिए यह सब नया था। बर्र ने डक क्यो नहीं मारा ? वह चुपचाप अहिसक ...ज से कैसे चली गयी ? आखिर मैने पूछ ही लिया कि आपने बर्र को न तो खुद उड़ाया और ...ही मुझे उड़ाने दिया। बर्र ने काटा भी नहीं, आखिर वह सब कुछ हुआ कैसे ? आप न तो जैन और न ही वैष्णव, आज तो जाट है।

कहने लगे - "खेत पर आओगे तो प्रकृति कान मे सारी बात कह देगी। सीधा-सा ...सूल है जो कि न तुम किसी को मारो, न कोई तुम्हे मारेगा। जीने दोगे दूसरो को तो खुद भी ...ख से निरापद/निष्कण्टक जियोगे। डसोगे तो डसे जाओगे और निर्भय रहोगे तो मैत्री और ... अस्तित्व पाओगे। बात यह है कि कोई मरना नहीं चाहता है, इसीलिए जब किसी को ...ता है कि उस पर हमला हुआ है तो वह जवाबी हमला करता है। मैं कभी किसी प्राणी पर न ... हमला करता हूँ, और न ही किसी को कष्ट पहुँचाता हूँ, इसीलिए न मुझ पर कोई आक्रमण ...रता है और न कोई मुझे कोई कष्ट पहुँचाता है। खेत का हर प्राणी मेरी इस शुभकामना को ...नता है। साँप कई बार पाँव पर से निकल गया है, किन्तु उसने कभी काटा नहीं है। जब ...कामना/अहिसा की भावना तन-मन मे पूरी तरह फैल जाती है, फिर वह स्वय एक कवच ... जाती है, फिर न कोई कुछ करता है, न कुछ होता है। चारो ओर शान्ति छा जाती है।"

मुझे लगा यह सच्चा मनुष्य है - निश्छल और पवित्र, जिसके मन, वचन और तन एक ...। उनमे न कोई फरेब है, न कौटिल्य, है तो सिर्फ मगलकामना - वह भी सबके लिए एक-...।

तन्दुरुस्ती का गणित

भैया श्री मिश्रीलाल गगवाल बहुत साफ-सुथरे व्यक्तित्व के धनी थे। वे उन राजनीतिज्ञो ... तरह नहीं थे जिनके भीतर दिनरात कोई-न-कोई गोरखधन्धा चला करता है और जो ...दुर्गम किले की तरह अभेद्य बने रहते हैं-बने रहने मे अपनी बड़ी शान समझते हैं। भैया ... भैया थे। उनमे अथाह ममता थी, अतल वात्सल्य था, असीम करुणा थी और दूसरो के ...दुख-दरद को अपना दुख-दरद मानने का असाधारण सस्कार था। वे वर्षो मध्यप्रदेश के ... मे रहे, किन्तु निष्कलक/निष्पक। कभी कोई स्थिति उन्हे पराजित नहीं

सकी, बल्कि कहे, उन्होने ही सदैव अपने साथियो को निष्कलक बनाया। उन्हे सामान्य जन से लेकर विशिष्ट जन तक सब एक-जैसा प्यार करते थे। अच्छे-अच्छे दिग्गज नौकरशाह भी उनके प्रशसक थे।

यही कोई १९८० के पहले की बात है। मै भोपाल-बस मे सवार था। बस मे मेरे पड़ोसी एक माने हुए नौकरशाह थे। देखने मे भलेपूरे, गोरेचिट्टे, प्रभावशाली और भीतर से काफी सजग/होशियार। मै ठहरा एक मामूली अध्यापक। हिन्दी पढाता हूँ। सूर, तुलसी, कबीर, जायसी कहीं-न-कहीं मुझमे है, किन्तु उनमे शायद नहीं है। बात भैया की चली तो कहने लगे-मैने कई आदमी देखे किन्तु ऐसा अविचल/मधुर आदमी मुझे कहीं नहीं मिला। गगवालजी सरकारी धन को बहुत पवित्र मानते थे। वे पाई-पाई सावधानी से खरचते थे। वे सिर-से-पैर तक मितव्ययी थे। और साहब ऐसे थे वे कि कोई उनका होकर न रहे यह असंभव ही था। वे हर आदमी के सुख-दुख को अपना सुख-दुख मानते थे। उसका मन रखते थे। मार्गदर्शन करते थे।

मेरे पड़ोसी ने बताया कि एक बार भैया बहुत अच्छे मूड मे थे। शाम के यही कोई पाँच बजे होगे। हम सबके साथ वे बड़ी बेतकल्लुफी से बैठे थे। उनका एक भजन हो चुका था शायद कोई विनोद चल रहा था। इस बीच किसी व्यक्ति ने पेट-दर्द की शिकायत की यानि प्रसगवश बताया कि वह गैस्ट्रिक गड़बड़ी से बेहद पीड़ित है। इस पर भैया बोले-जो आदमी कुदरत से हाथ मिला कर चलता है, उसे जल्दी ही कोई बीमारी हो यह सभव नहीं है। मै तो अक्सर कहता हूँ कि देखो भाई, जितना खाओ उससे दुगना पानी पियो। जितना पानी पियो उससे दुगना हँसो और जितना हँसो उससे दुगना टहलो और फिर देखो कि एक तो तुम कभी बीमार पड़ोगे नहीं और कदाच् पड़े भी तो सह जाओगे। अधिक औषधियो की अपेक्षा हमे प्रयत्न करना चाहिये कि हम प्रकृति को अपना निजी सहलाहकार बनाये   और इतना कह कर वे खूब जोरो से हँस दिये। लगा यह आदमी कभी निराश होता ही नहीं है। राजनीति मे तो लोग प्राय नकली/फूहड़ हँसी हँसते है और भीतर किसी गहन/दुस्सह तनाव मे बने रहते है किन्तु यह आदमी तो उन्मुक्त हँसता है, भीतर से निर्मल है, और हर आदमी को अपना कुटुम्बी मान रहा है। वास्तव मे स्वास्थ्य को लेकर उनका जो गणित था वह अद्भुत था।

जब हम उनके युवा जीवन पर दृष्टि डालते है तो पाते है कि व्यायाम उनके जीवन का एक प्रमुख अग था। जब देश को स्वतन्त्रता नहीं मिली थी और वह प्रतिपल उसके लिए जूझ रहा था तब का उनका जीवन बड़ी फज़र शुरू हो जाता था और रात देर तक चलता था। खूब घूमना और खूब हँसना उनका सामान्य जीवन-क्रम था। अच्छे स्वास्थ्य के उनके सूत्र को हम सक्षेप मे इस तरह सयोजित कर सकते है -

(खाना × २=पानी × २=हँसना × २=टहलना) = स्वस्थ तन/स्वस्थ मन।

औचित्य का औचित्य

माधव वसतिका, इन्दौर - १९७९/अगस्त/अपराह्न कोई एक बजा है। कॉलेज से ... रहा हूँ। मुनिश्री विद्यानन्दजी के दर्शन की उत्कण्ठा मन मे है। बार-बार आने-जाने से ... लगा है कि मै अन्य अनेक दर्शनार्थियो से भिन्न और विशिष्ट हूँ और कमी भी मुनिश्री ... पास आ-जा सकता हूँ। मेरे साथ व्यक्तियो को लेकर ऐसा हुआ है। अधिक वात्सल्य ने मुझे ... और नि सकोच तो किया है, किन्तु दूसरी ओर उसने मेरे व्यवहार को किंचित् अनुचित ... बनाया है।

१९५२ की बात है तब मै क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर मे पढ़ाता था और सोशल ... का उत्तरदायी प्रोफेसर था। रात के एक बजे होगे मुझे लगा प्रिंसिपाल मदर ब्राइस ... चला जाए और मुख्य अतिथि के लिए तुरन्त एक खत प्राप्त किया जाए मदर ब्राइस ... मुझ पर अतिरिक्त वत्सलता थी वे मुझे पुत्र मानती थीं, और मै उन्हे माँ मैं तुरन्त ... ब्राइस के आवास की ओर चल दिया और नौकर के मना करने पर भी कॉलबेल का बटन ... बैठा सीढ़ियो से वे तो नहीं उतरीं जॉर्ज ब्राइस आये और डाँटने लगे। मैं घबराया ... बड़ा निराश हुआ, किन्तु देखा तो सामने श्रीमती ब्राइस मुस्कराती खड़ी है और कह रही ... "क्या है नेमीचन्द ?" मैने सच-सच कह दिया और वे टाइपिंग कक्ष मे चली गयीं। दो ... मिनिट बाद मुझे अपना वाँछित पत्र मिल गया इस प्यार-भरे कथन के साथ - "नेमीचन्द, तुम ... यह नहीं सोचते कि यह समय उचित नहीं था, मेरी प्रीति तुम पर इतनी है कि मैं तुम्हे कभी ... नहीं कह सकती। इसे समझो'

उस दिन माधव वसतिका के लोह द्वार पर ऐसा ही लगा, शायद मुनिश्री सामायिक मे ... मै बाहर खड़ा हूँ। कपाट लगे है। भक्ति अन्धी होती है। मै उसी आवेश मे हूँ। मेरी आहट ... कोई नतीजा नहीं है। मैने शोर बढ़ा दिया है, किन्तु उससे भी कुछ हुआ नहीं है। इतनी देर ... सम्भवत मुनिश्री ने सामायिक समाप्त कर ली है और वे शुद्धि के लिए बाहर आ गये हैं और ... रहे है - 'अरे आप !! कितनी देर से खड़े है डॉक्टर साहब ?" मै ओले-सा गल गया हूँ। ... सिर से पैर तक लगा है - "सब जगह औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है। क्या हम ... अपनी सुविधाओ के आगे किसी व्यक्ति, किसी स्थिति, किसी सिद्धांत अथवा परम्परा के ... औचित्य का ध्यान रखना कभी सीख पायेगे ?" उस दिन से घड़ी देख रहा हूँ, सुविधा देख ... रहा हूँ और तब जा रहा हूँ न केवल मुनिश्री के पास वरन् किसी के भी पास।

चाबी/चुनौती/समाधान

२३ फरवरी १९८१/कर्नाटक का जैन विश्वतीर्थ - श्रवणबेलगोला/सहस्राब्द ... महामस्तकाभिषेक के रोमांचक क्षण। चन्दन अगरु दुग्ध जल कलश गोमटेश्वर ... की विशाल प्रतिमा बदलते द्युतिमन्त रंग धूपछाँही दृश्य लगभग दो बजे हैं ... /प्रखर धूप दर्शनार्थी विन्ध्यगिरि उतर रहे हैं। मैं भी अपना झोला लटकाये ... सेटेलाइट ६/३७ की ओर लौट रहा हूँ। परितृप्त हूँ। लगता है रोएँ-रोएँ ने ...

बन कर भी उतना नही देखा है जितना/जितनी देर वे देखना चाहते थे ' ऑखो के साम
हजार वर्ष पूर्व का वह दिन भी आ रहा है जब चामुण्डराय ने अरिष्टनेमि की इस शिल्प
कलाकृति को नयन-भर देखा होगा। उस पूर्ण पराक्रमी सेनापति के रोम-रोम भी जिह्वा बन व
क्या कह पाये होगे उस दिन के प्रथम सौन्दर्य की सम्पूर्ण कथा ? कैसा रोमाचक रहा होगा व
क्षण जब गल्लिकाअज्जी की कलसी की धारा चरण-तल की ओर पूरी लपक से दौड़ी होगी
एक ही क्षण मे तब बीत सके होगे सहस्र युग लगभग ढाई बजे अपने टेन्ट पर पहुँचा हूँ।
जैन मठ से ५ किलोमीटर की दूरी पर है। भोजन कर रहा हूँ। भूख तेज है। श्रम खूब हुआ
थका बिलकुल नहीं हूँ और भोजन के तुरन्त बाद जैनमठ की ओर अपना झोला लटकाये
कदम चल दिया हूँ।

जैनमठ की सीढ़ियाँ चढ़ रहा हूँ। हॉल मे हूँ। हॉल दर्शनार्थियो से खचाखच भरा है।
एलाचार्यश्री विद्यानन्दजी की एक झलक पाने के लिए उत्कण्ठित है। कुछ चरण छू लेने
बेकरारी मे है। एलाचार्यश्री पार्श्वकक्ष मे है। यह उनका ध्यान/स्वाध्याय/विचार-विमर्श
कक्ष है। यहाँ प्राय वे विद्वानो, विदेशियो और समाज-प्रमुखो से मिल रहे है। सब कुछ बा
बारी से/आल्टरनेट चल रहा है। एलाचार्यश्री एक करवट हॉल मे और दूसरी विचार-कक्ष
है। दस-दस, पॉच-पॉच मिनिटो के मध्यान्तरो से वे इधर-उधर आ-जा रहे है।

लगभग सवा पॉच बजे है। विचार-कक्ष मे मेरे अलावा अब कोई नहीं है। ऐसा प्राय
ही होता है। हॉल से एलाचार्यश्री कक्ष मे आ गये है। पास सटे कक्ष की चाबी मेज पर पड़ी है
कक्ष खोलना चाह रहे है। मैने चाबी उठा ली है, किन्तु इसके पूर्व कि मै चाबी का इस्तेमाल
एलाचार्यजी कह रहे है - ''डॉ साहब, ताला खोल नहीं पायेगे।'' मै गहन असमजस मे
चुनौती को समझना चाह रहा हूँ। ''ताला नहीं खोल पाऊँगा'' यानी आधी सदी जितनी
व्यर्थ गयी। पढ़ना-लिखना बेमतलब हुआ। मै दुविधा मे हूँ कि एलाचार्यश्री ने चाबी मुझसे
ली है और द्वार खोल लिये है। ताला द्वार मे फिक्स्ड है। लौट कर मुझसे कहा है - ''
आप बन्द कर आये''। मैने सोचा - ''चलो बन्द करने के बहाने खोलना तो आया''। शु
ख्याल आया था कि ताले मे कोई चाल/ट्रिक होगी, किन्तु बाद को स्वय महाराज ने बताया
ताला उलटा लगाया गया है ताकि सबकुछ एकदम अनुपाय/आसान न हो। मै इस पिरा
ट्रिक को भॉप गया, किन्तु इसके बाद ही मुझे लगा कि एलाचार्यश्री ने चाबी के माध्यम से
गहन बात कह दी है।

मैने गौर से उनका मुख-मण्डल देखा। वहाँ वह सब लिखा पाया, जिसे प्राय
पढना भूल जाते है। वहाँ था कि इस दुनिया मे क़िस्म-क़िस्म के लोग है। एक वे है जो चा
रखते है किन्तु जिन्हे ताले के द्वार का भान नहीं है, दूसरे वे जो ताले का भान तो रख पाते है,
किन्तु चावी कहाँ है - स्वय के पास होते हुए भी - इसका चिराग लेकर भी पता नहीं लगा पाते,
तीसरे वे है जिनके पास चावी-ताला दोनो है, किन्तु जिन्हे सबन्ध-बोध नहीं है, इसलिए
उपयोग से चूक रहे है। मुझे सहज ही लगा-बिल्कुल अनायास अनुपाय कि भेदविज्ञान का
ताला सम्यकत्व की चावी से खुल सकता है; लगा कि ध्यान की चाबी से मोक्ष-महल का द्वार

सकता है, लगा कि समाधि से अमरत्व का ताला खुल सकता है, लगा श्रवण/मनन/ध्यान से युग-युग के सचित कलुष धुल सकते है। सोचने लगा भेदविज्ञान/सम्यकत्व की जिसके पास है भला उससे कौन-सा ताला नहीं खुल सकता !!! भेदविज्ञान/सम्यकत्व मास्टर की' है, उनसे तो कोई भी आध्यात्मिक उलझन सुलझ सकती है।

सच, इस छोटी घटना से मै एक ऐसे मोड़ पर आ पहुँचा हूँ जहाँ सब कुछ निरापद/ ...त/सुखद/शान्त/और अबाध है।

'आपकी मदद रुपयो के लिए नही की'

मै भीलवाड़ा से इन्दौर की ओर आ रहा था। प्रथम श्रेणी का डिब्बा था। मीनाक्षी सुबह ...ग चार बजे पहुँचती थी। मुझे हर्निया है। बोझ न तो उतार ही सकता हूँ, और न ही ढो ...हूँ। भीलवाड़ा मे मित्रो ने सामान यथास्थान जमा दिया था। कम्पार्टमेन्ट मे अधिक ...र नहीं थे। रतलाम तक आते-आते सभवत पूरे डिब्बे मे मै ही बच रहा था। इन्दौर ...को हुआ। दो-तीन स्टेशन शेष थे। प्रश्न उठा - 'सामान का क्या हो ?' मैं उतार नहीं ...।। असमजस मे था कि इतने मे एक सभ्रान्त व्यक्ति आये, बोले - 'लगता है मुझे आपकी ...करनी होगी, लाइये, मै सामान उतार दूँ'। मैने कहा - 'उतारिये, बड़ी कृपा होगी।' ...ने मेरा सामान खिड़की के नज़दीक कर दिया। शायद अगला स्टेशन इन्दौर था। मै फिर ...गे, अब क्या हो ? कि इतने मे फिर वही सज्जन दिखायी दिये। बोले - 'लगता है, मुझे ...र फिर आपकी मदद करनी होगी'। प्लेटफॉर्म पर उन्होने सामान उतार दिया और चल ...गाड़ी चल दी। मै अकेला छूट गया। कोई कुली नहीं था। अब। मै फिर सकट मे हुआ, कि ...ने फिर वे ही सज्जन दिखायी दिये, बाले 'आपको रिक्शे तक पहुँचाने का काम भी मुझे ...ना होगा'। और उन्होने मुस्कराते हुए सामान आल-बगल ले लिया। रिक्शे मे सामान ...या। मैने सोचा 'जिस आदमी ने मेरी इतनी मदद निष्काम की है उसे कुछ रुपये तो देना ...हिये'। मैने ५० का नोट निकाला और उनकी हथेली पर रखना चाहा तो वे बोले - 'क्या ...सोचते हैं कि मैने आपकी मदद इन रुपयो के लिए की है ?' मै पथरा गया। सिर से पैर तक ...रा। सोचा - आज जब कि सारी दुनिया दौलत की गुलाम है, तब यह आदमी-आदमी ...रिश्ता-कहाँ से और कैसे इस धरती पर है। मै रो पड़ा। मैने रिक्शे मे बैठते-बैठते उनसे ... भाई, अपना नाम-पता तो बता दीजिये'। जवाब मे साफ सुनायी दिया - 'ऐसे काम ...के बाद न तो नाम ही बताया जाता है, और न पता। नमस्कार।'

मै रास्ते-भर कृतज्ञता की परिभाषा करता रहा, किन्तु नही कर सका, क्योकि भाषा ...को व्यक्त करने मे निपट-नितान्त अपाहिज है। वह गाली-गलौच, हिंसा-दमन तो ...ती है, पर इसानियत की इन गहराइयो को पकड़ करना उसकी क्षमता के पर है। मै घर ... पहले तो ईंट-पत्थर, कांक्रीट-सीमेंट का गया है - असल मे इस घटना ने मुझे अपने ... भूले-बिसरे उस घर तक पहुँचा दिया जो हृदय-की-गहराइयो मे न मालूम कब ...गया था।

'मैंने कथनी-करनी की एकता की चरण-वन्दना की है'

एक बार बड़ी सभा मे मेरा व्याख्यान था। मैने चमड़े के इस्तेमाल के विरोध मे धुआँधार कुछ कहा था। सभा ख़त्म हुई। मै, आयोजक मच पर बचे, मच के नीचे शायद कोई नहीं था, पर एक ७० वर्ष की वृद्धा रुकी हुई थी। वह मेरे साथ चलने लगी। मैने सहज ही पूछा - 'सब जा चुके है, किन्तु आप ?' उसने कहा - 'यूँ ही बेटा, दरवाजे तक तुम्हारे साथ चलूँगी'। मै भाँ गया। अग्नि-परीक्षा के क्षण सामने है। सभवत यह दरवाज़े पर देखना चाहती है कि मै किस वस्तु से बने पादत्राण अर्थात् जूते-चप्पल पहिन कर आया हूँ। मै सिर-से-पैर तक काँप गया क्योकि मै इस आशका से भर उठा कि कहीं मेरी रबर की स्लिपरे कोई पहिन गया होगा औ उनकी जगह चमड़े की चप्पलें छोड़ गया होगा तो मेरा और मेरे धुआँधार व्याख्यान का क होगा ? मै तेज चला। मैने देखा कि मेरी बूढ़ी स्लिपरे ज्यो-की-त्यो सुरक्षित मुस्करा रही है मेरी जान-मे-जान आयी, किन्तु मै क्या देखता हूँ कि जैसे ही मैने उन्हे पहना उस वृद्धा ने मु पचपन साला व्यक्ति के पॉव छू लिये। मैने घबरा कर कहा - 'आप भारतीय मर्यादा का उल्लं कर रही है'। बोली - 'नहीं मै तो जहॉ भी कथनी-करनी की एकता देखती हूँ, वहॉ झुक उसे प्रणाम करती हूँ, उसके चरण-स्पर्श करती हूँ। आप इस गलतफहमी मे न रहे कि आपके चरण छुए है, मैने तो आपमे इस क्षण जो कथनी-करनी की एकता थी उसकी चरण वन्दना की है।' मै स्तब्ध। मुझे उस वृद्धा मे एक सम्पूर्ण विश्वविद्यालय मिल गया। मै उ प्रतिक्षण प्रणाम करता हूँ !

बदी का जवाब नेकी से

यह घटना ट्रेन मे मुसाफिरी की है। हम लोग ३ की सीट पर ३ थे। एक सज्जन आये बोले - 'क्या हम ४ हो सकते है, थोड़ी जगह देगे ?' 'मैने कहा - '३ की जगह है, ३ ही बैठेगे।' वे चुप रहे। खड़े रहे। हम अशालीन डट रहे। २-३ घण्टे बाद वह स्टेशन आया जहॉ मुझे उतरना था, मुझे खयाल नहीं रहा, कि वहॉ उतरना है। हड़बड़ा कर उठा और उतर पड़ा, फाइले सीट पर छूट गयीं। मुसीबत मे पड़ गया कि जिस काम के लिए आया हूँ उससे सबन्धित तमाम कागजात तो ट्रेन मे जा रहे है और मै । मै दौड़ा। निष्फल, विफल, किन्तु तब मै स्तब्ध रह गया जब मैने देखा कि उस आदमी ने जिसे मैने, कहिये हमने, बैठने की जगह नहीं दी थी, अपने नये गमछे मे तमाम कागजात लपेट कर खिड़की के बाहर मेरे नजदीक फेक रहा है। मै कुछ कहूँ-कहूँ कि इतने मे ट्रेन ने गति पकड़ ली। मै पथरा गया। कुछ देर हिल तक नहीं सका, इसलिए कि आज भी ऐसे लोग इस दुनिया मे है जो बदी का जवाब नेकी से देते है। क्या ऐसे लोगो की सख्या बढायी जा सकती है ?

‘फरिश्ते से बढ़ कर है इन्सान बनना’

(मर्मस्पर्शी बोधकथाएँ/कहानियाँ)

सरल आरम्भ, स्वाभाविक मध्य और फलप्रद अन्त इन कथाओ की विशेषता है । मन के घाट पर यदि बोधकथा की कोई नौका लग जाए तो स्वयं को पार उतरा ही समझिये । इनकी अविलम्ब फलदायिता का बोध स्वय हो जाता है हाथ कंगन को आरसी की शायद कोई आवश्यकता नहीं है ।

-डॉ. नेमीचन्द जैन

६७ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२ ००१ (म प्र)

बोधकथाएँ : मंगल घट/प्रकाश-स्तम्भ

बोधकथाऍ मूसलाधार वर्षा मे छाते की तरह, उमस्भरी दुपहरियो में सघन अमराई की भॉति और ठिठुराने वाली ठण्ड मे आग की तपन की तरह होती है। जैसे भोजन मे नमक का स्थान है, बोधकथाओ का मानव-जीवन मे है ।

जिस तरह कोई उदाहरण, रूपक या उपमा सत्य को सहज ग्राह्य बना देता है, बोधकथाऍ भी उसी डगर चल कर बडे-से-बड़े और पेचीदा सत्य को ग्राह्य बना देती है । भूसी की ऑच जैसी मद किन्तु ताव से तेज ये बोधकथाएं अपने चरित्र मे बड़ी प्रहारक होती है। इन कथाओ के कई विषय हो सकते हैं किन्तु लक्ष्य एक ही होता है- हिये की ऑखें खोलना यानी ये जीवन के आँगन में कोई मंगल घट स्थापित करती है, या कोई ऐसा प्रकाश-स्तम्भ बनाती हैं जो किसी भी तूफान से हमारी रक्षा कर सके।

जीवन को मॉजने और सॅवारने मे बोधकथाओ का जो योग है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। एक खुरदरे से काष्ठ-खण्ड को स्निग्ध बनाने मे रद्दे की जो भूमिका होती है, मन-मस्तिष्क को स्निग्ध बनाने मे इनकी भी वैसी ही होती है।

नर्मदा के प्रवाह मे पडा हुआ शिलाखण्ड चाहे कितना ही कोणात्मक क्यों हो, बहाव से उसका नुकीलापन छॅट जाता है और उसे एक अपूर्व गुलाई-चिकनाई मिल जाती है, बोधकथाओ की शक्ति भी उतनी ही अपरपार है आदमी के मन के खुरदरे और नुकीलेपन को छॉटने मे । बोधकथाओ की नदी मे चाहे जैसा खुरदरा-बर्बर आदमी और उसका दिल पड़ जाए, सभव ही नहीं है कि वह उसे स्निग्ध न बनाये ।

– डॉ. नेमीचन्द जैन

क्रम : १ 'फरिश्ते से बढ कर है इन्सान बनना', २ 'खुदा मेरे साथ था', ३ आप डाकू हैं! ४ चार गधे और किताबे, ५ चॉद, चन्दन, सॉप, ६ गॉव बीमार है , ७ प्रतिशोध ८ अभिसार ।

'फरिश्ते से बढ़ कर है इन्सान बनना' (मर्मस्पर्शी बोधकथाएँ/कहानियाँ) **डॉ. नेमीचन्द जैन** ; सपादन **प्रेमचन्द जैन**; © **हीरा भैया प्रकाशन** ; प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१ (म.प्र),** टाइप सेटिंग एव मुद्रण **रीगल इण्डस्ट्रीज, राजमोहल्ला, इन्दौर-४५२ ००२** ; प्रथम सस्करण **१५ अक्टूबर, १९९७ (पिताजी की २७ वीं पुण्यतिथि)** ; मूल्य **चार रुपये।**

'फरिश्ते से बढ़ कर है इन्सान बनना,
मगर इसमें पड़ती है मिहनत जियादा।'

यूनान का एक दार्शनिक दिन के बारह बजे लालटेन जला कर एथेन्स के बाजारों में कई घूमता रहा। इस तरह किसी व्यक्ति का सूरज की तेज रोशनी में लालटेन जलाये घूमना जनता के लिए आश्चर्य का विषय था।

एक जगह हजारों लोग इकट्ठा हो गये और सहज ही पूछने लगे 'यह सब क्या हो रहा ?'

दार्शनिक ने कहा 'मैं इस लालटेन की रोशनी में आदमी की तलाश में हूँ।'

सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले 'हम हजारों आपके सामने हैं, ऐसे में टेन की रोशनी में खोजने की क्या जरूरत है ?'

दार्शनिक ने सिंहगर्जना की, ''अरे क्या तुम स्वयं को मनुष्य मान हुए हो ? यदि तुम य हो तो फिर पशु और राक्षस कौन होंगे ? दुनिया भर के जुल्म करते हो, छल-छंद रचते अपने भाइयों का गला काटते हो, काम-वासना की पूर्ति के लिए कुत्तों की तरह मारे-मार ते हो और फिर भी बड़ी बेहयाई से कहते हो कि तुम मनुष्य हो !! मुझे मनुष्य चाहिये, वन-प नहीं।''

दार्शनिक का यह कठोर, किन्तु सत्य कथन मनुष्य-मात्र के लिए चिन्ता और चिन्तन विषय है।

'खुदा मेरे साथ था'

बोधकथाएँ : मंगल घट/प्रकाश-स्तम्भ

बोधकथाएँ मूसलाधार वर्षा मे छाते की तरह, उमसभरी दुपहरियों मे सघन अमराई की भाँति और ठिठुराने वाली ठण्ड मे आग की तपन की तरह होती है जैसे भोजन मे नमक का स्थान है, बोधकथाओ का मानव-जीवन मे है ।

जिस तरह कोई उदाहरण, रूपक या उपमा सत्य को सहज ग्राह्य बन देता है, बोधकथाएँ भी उसी डगर चल कर बडे-से-बड़े और पेचीदा सत्य क ग्राह्य बना देती है । भूसी की आँच जैसी मंद किन्तु ताव से तेज ये बोधकथा अपने चरित्र मे बडी प्रहारक होती है। इन कथाओ के कई विषय हो सकते हैं किन्तु लक्ष्य एक ही होता है- हिये की आँखें खोलना यानी ये जीवन के आँगन कोई मगल घट स्थापित करती है, या कोई ऐसा प्रकाश-स्तम्भ बनाती हैं ज किसी भी तूफान से हमारी रक्षा कर सके।

जीवन को माँजने और सँवारने मे बोधकथाओ का जो योग है उसे क भुलाया नहीं जा सकता। एक खुरदरे से काष्ठ-खण्ड को स्निग्ध बनाने मे रद्दे व जो भूमिका होती है, मन-मस्तिष्क को स्निग्ध बनाने मे इनकी भी वैसी होती है।

नर्मदा के प्रवाह में पड़ा हुआ शिलाखण्ड चाहे कितना ही कोणात्मक व हो, बहाव से उसका नुकीलापन छँट जाता है और उसे एक अपूर्व गुलाई-चिकना मिल जाती है, बोधकथाओ की शक्ति भी उतनी ही अपरंपार है आदमी के मन खुरदरे और नुकीलेपन को छाँटने मे । बोधकथाओ की नदी मे चाहे जैसा खुरदरा बर्बर आदमी और उसका दिल पड़ जाए, संभव ही नहीं है कि वह उसे स्निग्ध बनाये ।

- डॉ. नेमीचन्द जै

क्रम : १ 'फरिश्ते से बढ़ कर है इन्सान बनना', २ 'खुदा मेरे साथ था', ३ आप डाकू हैं ४ चार गधे और किताबे, ५ चाँद, चन्दन, साँप, ६ गाँव बीमार है , ७ प्रतिशोध ८ अभिसार ।

'फरिश्ते से बढ़ कर है इन्सान बनना' (मर्मस्पर्शी बोधकथाएँ/कहानियाँ) **डॉ. नेमीचन्द जैन** ; सपादन **प्रेमचन्द जैन**; **© हीरा भैया प्रकाशन** ; प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१ (म प्र)**, टाइप सेटिंग एव मुद्रण **रीगल इण्डस्ट्रीज, राजमोहल्ला, इन्दौर-४५२ ००२** ; प्रथम सस्करण **१५ अक्टूबर, १९९७ (पिताजी की २७ वीं पुण्यतिथि)** ; मूल्य चार रुपये।

'फरिश्ते से बढ़ कर है इन्सान बनना,
मगर इसमें पड़ती है मिहनत जियादा।'

यूनान का एक दार्शनिक दिन के बारह बजे लालटेन जला कर एथेस के बाजारो में कई टे घूमता रहा । इस तरह किसी व्यक्ति का सूरज की तेज रोशनी मे लालटेन जलाये घूमना म जनता के लिए आश्चर्य का विषय था ।

एक जगह हजारो लोग इकट्ठा हो गये और सहज ही पूछने लगे 'यह सब क्या हो रहा ?'

दार्शनिक ने कहा 'मैं इस लालटेन की रोशनी मे आदमी की तलाश मे हूँ।'

सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले 'हम हजारों आपके सामने हैं, ऐसे में लटेन की रोशनी में खोजने की क्या जरूरत है ?'

दार्शनिक ने सिहगर्जना की, ''अरे क्या तुम स्वय को मनुष्य माने हुए हो ? यदि तुम नुष्य हो तो फिर पशु और राक्षस कौन होंगे ? दुनिया भर क जुल्म करते हो, छल-छद रचते ।, अपने भाइयों का गला काटते हो, काम-वासना की पूर्ति के लिए कुत्तों की तरह मारे-मारे फिरते हो और फिर भी बड़ी बेहयाई से कहते हो कि तुम मनुष्य हो !! मुझे मनुष्य चाहिये, वन-मानुष नहीं।''

दार्शनिक का यह कठोर, किन्तु सत्य कथन मनुष्य-मात्र के लिए चिन्ता और चिन्तन का विषय है।

'खुदा मेरे साथ था'

इब्राहीम खवास बहुत बड़े सन्त थे । वे अपने शिष्य के साथ यात्रा कर रहे थे । एक जगल आ गया । कुछ दूर जाकर दोनों एक सघन वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए बैठ गये । सन्त ध्यानास्थ हो गये । शिष्य ने सोचा कि शेर दोनों को मार डालेगा । गुरुजी ध्यान में बैठे हैं, आँखें बद हैं। वे शेर को देख नहीं रहे हैं । मै क्यो मरूँ ? अपना बचाव कर लूँ । वह उसी वृक्ष पर चढ़ गया और सबसे ऊपर की शाखा पर जा बैठा । इतने मे ही शेर वहाँ आ पहुँचा । उसने सन्त के चारों ओर चक्कर लगाया, सूँघा, और चला गया । शेर को देखते ही शिष्य का सारा शरीर काँप उठा । उसका रग-रग भय से आक्रान्त हो गया । जब भय समाप्त हुआ तब वह धीरे-धीरे वृक्ष से नीचे उतरा । उतने मे ही सन्त ने ध्यान सम्पन्न किया । आँखें खोलीं । स्वस्थ होकर शिष्य से कहा- चलो, अब आगे चले । शिष्य बोला- गुरुदेव, अभी-अभी

यहाँ एक शेर आया था । सन्त ने कहा- आया होगा । शिष्य बोला- आपको उसने सूँघा । सन्त ने कहा- सूँघा होगा । आपके चक्कर लगाये । सन्त बोले- लगाये होगे । क्या आपको भय नहीं लगा ? सन्त बोले- नहीं, कोई भय नहीं लगा ।

वे आगे बढे । चलते-चलते सन्त को एक मच्छर ने काट लिया । सन्त शरीर को खुजलाने लगे । वहीं खड़े हो गये और शिष्य से बोले- मच्छर ने काट खाया है । घबराहट रही है । दर्द हो रहा हे । अब आगे कैसे चलेगे ? शिष्य बोला- गुरुदेव, यह क्या बात है ? शेर ने आपको सूँघा, आपके चक्कर लगाये, तब तो आपको कोई भय नहीं लगा और तुच्छ मच्छर के काटने से आप इतने डर गये ? सन्त बोले- बात कुछ ऐसी ही है । शेर से डरा क्योंकि उस समय खुदा मेरे साथ था और अब मच्छरसे डर रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे साथ

आप डाकू हैं !

छ्ह डाकू एक गाँव पर डाका डालने निकले ।

छहो के मन मे अलग-अलग विचार उत्पन्न हुए ।

पहिले डाकू ने प्रस्ताव रखा- जो मनुष्य या ढोर सामने पड़े, उसे मार डालो ।

दूसरे ने कहा- यह ठीक नहीं है, पशुओ को मारने से क्या लाभ ? केवल मनुष्य ही मारना चाहिये । निहत्थो पर वार करना अनुचित है ।

तीसरे ने सुझाया- स्त्रियो को मत मारो, दुष्ट और ढीठ मनुष्यो का ही हनन क

चौथे ने कहा- सभी पुरुषो को मारना उचित नहीं है । जिन पुरुषो के पास हथियार उन्हे ही मारना चाहिये ।

पाँचवे ने सुझाया- हथियारो से लैस जो पुरुष हमारा सामना करें, उन्हे ही मारो

छठे डाकू ने कहा- हमे आम खाने है, वृक्षो से क्या वास्ता ? हम धन लूटे, जन- न करे । लूट-खसोट करना और प्राण लेना दो बड़े दोष हैं । इस तरह हम एक दोष से जाएँगे और हमारा काम भी बन जाएगा ।

ये डाकू कभी मन मे और कभी बाहर आज भी सक्रिय है और आपस मे सल मशविरा कर रहे है ।

चार गधे और किताबें

गधो का अस्तित्व बड़ा रोचक है , खानपान, रहन-सहन बेहद सादा, न व तकल्लुफ, न कोई मर्यादा । नाम गधा, काम बिल्कुल सधा । बैठना तो वे जानते ही न खड़े-खड़े थक गये तो स्वास्थ्यवर्द्धक धूलिस्नान और फिर बड़ी निष्ठा से मौन साधना । शास्त्रीय, जिसकी नकल मुश्किल । सन्त-सा सहिष्णु मन, आकृति अद्वितीय, देह अनुपम ।

एक बार चार गधे एक बूढे जटाधारी बड़ के नीचे अपनी स्वाध्याय-विधियो पर चर्चा कर रहे थे । चारो अनुभवी थे और अपनी जमात मे अवलवरी के लिए मशहूर थे । चारो ने चर्चा के पहिले दौर में पुस्तकों के चुनाव पर अपने-अपने विचार रखे ।

'न' ने कहा- 'मेरा पुस्तक चुनने का ढँग बिल्कुल निराला है । मैं आवरण देखता हूँ और पुस्तक खरीद लेता हूँ । भीतर क्या है, इसे मैं न कभी देखता हूँ और न आगे कभी देखने की इच्छा रखता हूँ । छपाई सुन्दर, अक्षर सुडौल, कव्हर रग-बिरगा आकर्षक, जिल्द बढिया, मेरे पुस्तक खरीदने के यही मूल आधार हैं । जिन किताबो को हाथ मे लेकर चलने में व्यक्तित्व में गरिमा उत्पन्न होती हो, मुझे ऐसी किताबें खरीदना पसन्द है । बैठकखाने की शोभा ऐसी ही सुन्दर किताबो से है । भाई, पढने-पढाने मे कोई दम नहीं है , नाम चाहे कुछ हो, देखने मे अच्छी और भव्य पुस्तके मुझे चाहिये और बस । आपकी क्या राय है, मिस्टर 'प' ?

'प' ने कहा- 'भाई, मेरे विचार आपसे तनिक भिन्न हैं । मुझे आवरण उतना नहीं भाता जितना नाम । लोग नाम भी किताबों के कितने बढिया रखते हैं , नाम आईना है, इसे पढा कि फिर किताब पढने की जरूरत नहीं होती । नाम यानी टाइटिल के आकर्षक होने पर मन की कली खिल जाती है । मैं टाइटिल के पीछे पागल रहता हूँ । मैं शीर्षको के लिए किताबे खरीदता हूँ, पढ़ने के लिए नहीं । महफिल में शीर्षको की झड़ी लगा दीजिये और देखिये कि आपकी इज्जत कई गुना बढ गयी है, इसलिए अच्छे शीर्षको वाली सैकड़ों किताबें मेरे बैठकखाने में सज्जित हैं, जिन्हे मैंने न कभी पढा है और न जिन्हे कभी पढ़ने-देखने का मेरा इरादा है ।'

'क' अधिक नामी गधा था, वह बोला- 'यार, मैं तो लेखक देखता हूँ, न रग, न रोगन, न शीर्षक । मेरा अन्धविश्वास है कि एक प्रसिद्ध लेखक कोई खराव किताब लिख ही नहीं सकता, और फिर यहाँ पढ़ना ही किसे होता है ? मैं तो इन पुस्तको को इसलिए खरीदता हूँ कि बैठकखाने में आनेवाले लोग इनके कारण मुझसे प्रभावित हों, नहीं तो मुझे अपने धन्धे से फुरसत ही कहाँ है ! एक रहस्य की वात यह है कि इन पुस्तकों को रखने के कारण मुझे लोग विद्वान् समझते हैं और बड़े सम्मान के भाव से देखते हैं । मेरा उद्देश्य भी यही है इससे मेरा धन्धा अच्छा चलता है और सोहवत अच्छी मिल जाती है । भाई 'प', विद्वान् बनने का एक और तरीका है ''ज्ञानियों में चुप रहो और मूर्खो में जमकर बोलो । मैंने कई बार इस मन्त्र को आजमाया है और गहरी सफलता मिली है ।'

अन्तिम गधा 'ढ' अधिक चतुर था, उसने कहा- 'सो सब ठीक है । मेरा विश्वास सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार मे ही अधिक है । दाम कम, नाम और काम अधिक, मेरे जीवन का मूल मन्त्र है ।' मैं ज्यादातर कवाड़ियो की दुकानो से मोटी-मोटी और पुरानी किताबे खरीदता हूँ और उनकी जिल्दें इस तरह बँधवाता हूँ कि बैठकखाना गन्दा न हो और पुस्तको की प्राचीनता बनी रहे । वजनदार पुस्तकों से एक तो प्रभाव बढ़ता है, दूसरे लोग अधिक विद्वान् मानते हैं । मेरे यहाँ कई हजार पाण्डुलिपियाँ हैं । इन्हें या तो मैंने वेष्टनों में बाधा है या फिर बड़े अच्छे ढँग से प्रदर्शित किया है । देखो, पढ़ने का काम विद्वान् का नहीं है, यह काम

मूर्खों का है। भारी-भरकम पुस्तके बैठकखाने की रौनक बढ़ाती हैं, और व्यक्तित्व को महान् बनाती है।'

बातचीत का पहिला दौर समाप्त और चारों गधे अपने-अपने घर चले गये। रास्ते से गुजरने वालो ने उनकी बातचीत को ध्यान से सुना और ।

चाँद, चन्दन, साँप

एक दिन चाँद अपनी भरपूर छटा मे आकाश की यात्रा पर निकला। यही कोई अर्द्धरात्रि का समय होगा। पूनम थी, सब ओर शान्ति और शीतलता छिटकी हुई थी। नीचे चन्दन-वन मे सुरभि के कोष खुले हुए थे। भीनी खुशबू चारो दिशाओ मे व्याप्त थी। चन्दन-वृक्षो से साँप लिपटे हुये थे, उनके कौटिल्य ने चन्दन की सुरभि को भुजबन्धो मे कस लिया था। ऊपर से अमृत बरस रहा था, इधर शीतलता से लिपटे साँप अपने विष में लहरें भर रहे थे।

धरती पर अमृत की शुभ्र चादर बिछी हुई थी। चन्दन-तरुओ की शीतलता और शीतल हो गई थी। विषधर चन्दन को अपनी जकड़ मे दबाये हुए थे। लग रहा था जैसे करुणा को क्रूरता ने अपने शिकजे मे कस लिया हो या मानवता बर्बरता के नीचे कराह रही हो। चाँद का रथ चल रहा था अपनी गति से, धरती सो रही थी अपनी गति से, और इधर चन्दन वन के एकान्त कोने से अमृत विष से और शीतलता दाह से सघर्ष कर रहे थे। चन्दन की शीतलता अनन्त थी, विषधर का विष अपनी सीमा मे परास्त था। वह अपने जूथ को लिए चन्दन की सुरभि को आत्मसात् कर लेना चाहता था, किन्तु देखा गया है ठण्डे लोग कभी नहीं हारते और गरम लोग कभी नहीं जीतते। यह चिरन्तन सत्य है कि कोई भी अस्तित्व अधिक समय तक गरम नहीं रह सकता, उसका आरम्भ और अन्त शीतलता ही है। उत्तेजना स्थायी नहीं हो सकती, वह एक स्थिति है, सम्पूर्णता नहीं। शीतलता स्वाभाविकता है अत उसमे न कोई खतरा है, न कोई बाधा।

चाँद क्षितिज पर उतर रहा था। उतरते-उतरते उसने सुना चन्दन और साँप कोई गम्भीर बहस कर रहे है। साँप कह रहा था- ''गजब है तुम्हारी शीतलता, इसने तो मेरा सारा जहर सोख लिया है, किन्तु शायद तुम स्वय इस ठण्डक का रहस्य नहीं जानते। यदि मैं तुमसे इस तरह लिपटूँ नहीं तो तुम्हारी देह मे इतनी सुगन्ध ही न हो। यह मेरे आलिगन का ही सुफल है कि तुम इतने शीतल हो। मेरा विष शीतलता का अनन्त कोष है।'' चन्दन कुछ देर चुप रहा और बोला- ''हाँ भाई, यह सच है कि जब दुनिया सोती है तब तुम मेरी चिन्ता मे रात-भर जागते हो, मुझे डसते हो, मुझसे लिपटे रहते हो, मेरी सुरभि पर पहरा देते हो। यदि तुम ऐसा न करते तो सच, मै कभी का लुट गया होता। भाई, सचमुच मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ, किन्तु एक बात नहीं मानूँगा कि मेरी शीतलता और सुगन्ध तुम्हारे विष का परिणाम है।''

साँप फुफकार उठा– ''चन्दन, यदि तुम झूठ बोले तो इसका नतीजा अच्छा नहीं
गा। मैं जो कहता हूँ सौ फीसदी सच है ।''

चन्दन से चुप न रहा गया, वह बोला– ''यदि मैं तुम्हारा घातक विष पीता न रहता
र चाँद अपना अमृत तुम पर न बरसाता तो भगवान् जाने अब तक तुम क्या कर गुजरते ?
म्हारी जात का बहुत कुछ भाग हमारे और चाँद के सयुक्त अभियान से लगभग निर्विष हो
का है, लगता है शेष भी जल्दी ही अपना ज़हर खो देगा । मुझे भरोसा है तुम इस सच्चाई को
वश्य स्वीकार करोगे ।''

चाँद ने सुना उसका नाम कहीं आया है । वह चौंका । उसे लगा कि धरती को पन्द्रह
नों के अन्तर से अमृत का जो प्याला वह पिलाता रहा है, वह कहीं जाकर सार्थक हुआ है ।
ह सोचने लगा– ''मैं पन्द्रह दिनो तक अमृत सचित करता हूँ, और उसके ठीक बाद के पन्द्रह
नों में अपनी साधना के उस कोष को खुलकर उलीच देता हूँ । मैंने कभी नहीं सोचा था, मेरी
धना में इतनी शक्ति है कि वह शीतल को शीतल और विष को निर्विष कर सके ।'' उसे
गा जो साधना करते हैं, वे अपना कर्त्तव्य करते है, विषमताओ से कभी नहीं हारते, वे हारे
ओं को जिताते हैं । साँप और चन्दन की वहस ने उसकी साधना को बलवन्तर कर दिया,
ह अपने काम में और अधिक मुस्तैद और चौकस हो गया ।

विषधर ने चन्दन से फिर कहा– ''देखो, तुम जितना मेरा विष पियोगे, उतने ही
धिक शीतल और सुरभित वनोगे । इतिहास देखो विषपायी ही गजव ढा सके हैं।''

चन्दन को पहली वार लगा कि उससे लिपटा साँप सच बोल रहा है । सच है, विष
नेवाले दुनिया को भव्यता का मार्ग दिखाते हैं । सघर्ष ही जीवन को माँजता है । मैंने विष मे
े अमृत प्राप्त किया है, उसने उसे काटकर ले जानेवालो से यह भी सुना था कि उसे जितना
घेसा जाता है, वह उतना ही अधिक शीतल बनता है, उसे आग मे डाला जाता है तो वह उसे
भी सुगन्ध से भर देता है । उसे आश्चर्य हुआ अपने व्यक्तित्व पर कि विष उससे लिपटा रहता
है, वह घिसा जाता है, उसे जलाया जाता है । उसने अपने स्वय के जीवन से यह जाना कि
साधना में शक्ति है और वह व्यक्तित्व को ऊँचा और वन्दनीय बना सकती है ।

इधर साँप ने सोचा– ''चन्दन बुरा नहीं है । उसने मेरे विष को बिना किसी झिझक के
भरपूर पिया है । इसकी सहिष्णुता प्रेरणादायी है, मैं इससे लिपटा रहता हूँ और यह हर बार
मेरी अगवानी में पलक-पाँवड़े विछाये आठो पहर खड़ा रहता है।''

चाँद ने देखा बात कटुता मे शुरू हुई थी, मैत्री मे समाप्त हुई है । उसने अपने सचित
अमृत को धरती पर उँड़ेला और रथ आगे हाँक दिया ।

गाँव बीमार है

जब भी घर मे कोई बीमार पड़ जाता है, बड़ा अजीब लगने लगता है, सब कुछ बेमानी, नीरस, स्वादहीन। उस दिन जब गॉव बीमार पड़ा तो नदी-नाले, जगल-पहाड़, पेड़-पौधे, खेत-खलिहान सबको गहरी बिथा हुई। उन्हे लगा जैसे उनकी जिस्म को ज़हर लग गया है। वैसे बीमारी कुछ खास नहीं थी। देह सूखती जाती थी, मुख मुरझाया जाता था, और आँखों के कोए सफेद हुए जाते थे। लग रहा था जैसे एक सजल सरोवर सूख गया है और बड़ी फसल को तीखा तुषार डस गया है । खून की कमी के कारण गाँव का मुख निस्तेज था, सारी आभ उड़ गयी थी, काया सूख कर कॉटा हो गयी थी।

गॉव-गॉव के गारुड़ी आये । सबने अपने-अपने टोने-टोटके आजमाये, किन्तु बेअसर मर्ज जहॉ-का-तहॉ और जैसे-का-तैसा बना रहा । अन्त में किसी सयाने ने कनफूसी की कि यदि खैर चाहो तो गॉव को शहर ले जाओ और किसी विशेषज्ञ से जाँच करवाओ । खूब सोच विचार के बाद गॉव को एक बड़े शहर ले जाया गया।

गॉव अस्पताल मे दाखिल हुआ । उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी, बुढापा डरा-डरा-सा झॉक रहा था, फिर रक्तहीन मॉसपेशियॉ जोर आजमाई के लिए तैयार-सी फड़क रही थीं, हल-कुदाल की याद उन्हें सता रही थी । श्रम की आस्था ने गॉव की आत्मा को रोक रखा था विशेषज्ञो ने खूब गरमा-गरम बहस के बाद गॉव को पूरे पॉच बरस के लिए अस्पताल में भर्ती रखने का अपना फैसला सुना दिया ।

गाँव के पास नगद पैसा बिलकुल न था, उसने जो भी चीज-बसत थी वही दे कर डॉक्टरो की फीस चुकाई और उन्हे खुश किया । गाँव के ऑख, कान, नाक, गला, फेफड़े दिल और दिमाग सब देखे गये । उसकी सर्वांग जॉच हुई । खून-खखार, मल-मूत्र सभी का परीक्षण हुआ । अलग-अलग रपटें आयीं । आँख के विशेषज्ञ ने राय दी, इसे पीछे देखने की आदत अधिक है, ऐसा चश्मा लगाया जाए जो आगे दूर तक देखने की सुविधा इसे दे, कान के डॉक्टर ने बात के पेट तक सीधे जाने की बात कही। उसकी राय मे बात आर-पार निकलनी चाहिये, पेट से उसका कोई वास्ता नहीं होना चाहिये । नाक के चिकित्सक का कथन था कि इसे गन्दगी नहीं सुहाती है, अत कुछ दिनो या तो इसे किसी मिल के आस-पास रखा जाए या किसी फैक्ट्री मे इससे काम कराया जाए, गले के विशेषज्ञ ने गले को आराम देने की सलाह दी, उसका कहना था कि मरीज चिल्लाया बहुत है, अब अधिक चिल्लाने से इसकी हालत सगीन हो जाएगी और पास-पड़ौस परेशान होगे, इसलिए इसके बोलने के तन्त्र को निष्क्रिय कर दिया जाए, फेफड़े ठीक पाये गये, दिल बदलने की राय किसी ने नहीं दी, क्योंकि उसका सीधा असर पैसों की लेन-देन पर पड़ता है । दिमाग पर जरूर विचार किया गया । चिकित्सको

की खास राय थी कि मरीज को कोई गहरा सदमा लगा है, इसीलिए उसका दिमाग घबराया हुआ है । इसका दिल साफ है, फेंफड़े स्वस्थ हैं किन्तु दिमाग हकीकत देखता रहा है इसलिए उसे दूसरी ओर मोड़ने की जरूरत है । सब इस निष्कर्ष से सहमत थे कि गाँव के दिमाग का आधुनिकीकरण कर दिया जाए । इसे नई हवा मे रखा जाए और इसके नजरिये को सर से पाँव तक बदल दिया जाए । इससे यह बौद्धिक कमजोरी मे जरूर फँस जाएगा। इससे शहर की साख बैठ जाएगी और गाँव को कुछ राहत मिल जाएगी। इस तरह तय कर लिया गया कि गाँव को नयेपन के चक्कर मे डाल दिया जाए । इससे कहा जाए कि तुम्हारा सब कुछ पुराना है, यह देखो कितना नया, कितना उपयोगी और कितना वेहतर है और इस ढँग से इसे सत्य मे से उखाड़ कर स्वप्न में रोपा जाए । जहाँ सत्य की अपनी कठोरता है, वहीं स्वप्न का अपना आकर्षण और सहज खिचाव है । नवीनता के गोरखधन्धे शुरू हुए और गाँव के दिमाग मे नई तालीम, नई सस्कृति, नये हल, नये बीज, नये खाद, सब कुछ नये की बात जमायी जाने लगी । स्वप्न बाँटे गये, सदाचरण नहीं बाँटा गया, किन्तु सत्य से उसे हटा लिया गया । गाँव को अच्छा लगा, वह पछता रहा था कि वह इससे बहुत पहिले ही शहर क्यों नहीं आ गया। क्या शहर है, सरग है पूरा-का-पूरा ! नन्दनवन चारो ओर। इस बदलाव ने गाँव की सेहत मे असाधारण परिवर्तन किया । स्वप्न उसे मधुर लगने लगे, शहर ने उसे स्वप्न ही भेट किये, सत्य के बदले स्वप्न लेकर उसे बहुत खुशी हुई ।

गाँव स्वप्नमय हो गया, वह रात-दिन स्वप्न मे डूबा रहता । वह बिलकुल शहर जैसा हो गया तो चिकित्सको ने उसे स्वस्थ घोषित कर दिया और उसे अस्पताल से मुक्त कर दिया। गाँव राजमार्ग से ग्रामवीथी पर होता हुआ अपने घासफूस के छप्पर तक किसी तरह पहुँच गया। उसे उसके साथियो ने बड़ी मुश्किल से पहिचाना। सबकुछ आधुनिक था, नया था, बदला हुआ था । पहाड़ ने सबसे पहिले पहचाना, वह बोला, ''कहो मामा, अच्छे तो हो'' । ''बहुत अच्छा हूँ भैया ! बस अब अपनी किस्मत बदलने की बात सोच रहा हूँ । चारों ओर ट्रेक्टर चलवाऊँगा, सब ओर सब्ज करना चाहता हूँ । कुएँ खुदेंगे, मेड़े बँधेगी, नये-नये भवन खड़े होंगे, बच्चे शाला जाएँगे, लड़कियाँ भी पढ़ेगी, देखना भैया कुछ दिनो मे अपने ठाठ हो जाएँगे।'' पहाड़ को यकीन नहीं हुआ, पर गाँव का लहजा विश्वसनीय था, इसलिए इन्तजार करने लगा। नदी ने भी यही कुछ पूछा, और उसे भी ऐसे ही उत्तर मिले ।

गाँव जब अपनी चौपाल पर बैठा तो उसे लोगों ने घेर लिया । सब भौंचक थे । गाँव नई भाषा और नए मुहावरे काम मे ले रहा था, लोग उसका मुँह ताक रहे थे । स्त्रियाँ तो बेचारी अपनी ग्राम-सुलभ मुद्रा मे सिटपिटाई बैठी थीं, गाँव ने उन्हें देख कर एक छोटा-सा शहरी भाषण ही फटकार दिया, बोला- ''यह घूँघट-वुँगट अब नहीं चलेगा । अब समान अधिकार का जमाना आ गया है, स्त्री और पुरुष दो अलग चीजे नहीं हैं, सविधान की नजरों में दोनों एक हैं। दोनों को बरावर हक है । कर्त्तव्य कोई करे न करे, हक की बात करनी ही चाहिये। मै शहर

से आ रहा हूँ, वहाँ कर्त्तव्य का कोई प्रश्न ही नहीं है, सब अधिकार के लिए जूझते हैं। हमे भी अपना काम छोड़कर हको के लिए लड़ना चाहिये। हक खुदा है। वह बड़ी चीज है। अब मैं गॉव की तरह बीमार नहीं रहूँगा। मुझे यदि बीमार ही रहना है तो शहर की तरह उसी लहजे मे बीमार रहूँगा। बीमारी का भी अपना वैभव होता है, शहर ने मुझ पर इस रहस्य को पाँच बरसों की कई किश्तों मे प्रकट कर दिया है। मै जानता हूँ शहरो की हालत मुझसे ज्यादा खराब है, किन्तु रहते सब ठाठ से हैं। हम सब भी आगे से समृद्ध दरिद्र की तरह जीवन जियेंगे'' आरम्भ में शहर से लौटे गाँव की बात से बहुत कम लोग सहमत हुए, किन्तु जब उन्हें भी उसमें तात्कालिक सुहावनापन दिखाई दिया तो वे भी उसकी तरह रहने लगे। अस्थिपजर एक सुखद महँगी वेशभूषा मे बड़े सुन्दर लगने लगे।

दूसरे पाँच बरस बीत गये। गाँव का नाकोनक्श शहर की तरह का हो गया। इधर कुछ दिनो बाद खबर फैली कि शहर सख्त बीमार है और अपनी सेहत सुधारने के लिए गाँव आ रहा है। उसे दूर किसी पहाड़ी इलाके की खुली हवा मे रहने के लिए कहा गया है, उसे ऐसा इलाका खोज़ना पड़ेगा, जहाँ आज तक किसी शहर ने यात्रा न की हो। शहर आखिर कुछ दिनो गाँव मे रहा, उसका मर्ज़ जिद्दी था और छूत जबर्दस्त थी, उसे कोई खास लाभ नहीं हुआ, किन्तु गॉव बीमार पड़ गया। अपने जैसो की सख्या बढते देख शहर को मनोवैज्ञानिक राहत मिली। वह शहर लौट गया। मानसिक राहत ने उसके स्वास्थ्य मे किचित् परिवर्तन किया, जिसे शहरी लोगो ने स्वास्थ्य-लाभ माना। इस तरह एक नया क्रम शुरू हुआ, गाँव बीमार पड़कर शहर जाने लगा, और शहर बीमार होकर गाँव आने लगा, किन्तु कुछ दिनों बाद गलतफहमी टूटी और दोनो को ऐसा लगा कि दोनो ही सख्त बीमार हैं और अपना-अपना आत्म-निरीक्षण करना चाहिए।

पता नहीं क्या हुआ, किन्तु सुनते हैं दोनों अब अपने-अपने बारे मे सोचने लगे हैं और किसी नये रिश्ते का अनुबन्ध लिखने की तैयारी कर रहे हैं।

प्रतिशोध

'मैं हूँ' इसमे सदेह क्यो? 'नही हूँ' यह भी मिथ्या नहीं पर 'हूँ' 'नहीं हूँ' से अधिक सत्य है। यही सोचकर गोपवती अपने मे खोने लगी। वह सोचती जाती पर अपने को समझने में उसे द्रुतविलम्बित छन्द की लय की तरह झूलना पड़ रहा था। समझने को होती कि विलम्ब हो जाता। पति हैं इससे क्या!! हैं भी और नहीं भी कब घर रहते हैं जब देखो बाहर भोजन किया न किया सोये न सोये दिन-दो दिन घर फिर पद्मिनीखेट जनपद और अन्तत यह सब क्यों। उसने निश्चय कर लिया है कि आज वह यह सब समझेगी और पूरी तरह समझ कर किसी निश्चित समाधान पर पहुँचेगी।

फिर वही 'मै हूँ' कि अहमन्यता ने बल किया और वह अपने से घिर गई। मस्तक

भरता, खाली होता । विचार आते और निमग्ना सरिता की तरह बह जाते वह उनमे-से कुछ बीन न पाती। सुस्थिर होने के प्रयास मे वह आगे भी अधिक अस्थिर हुई जा रही थी । आज जब वह अपने से इतनी अधिक घिर गई है तो उसका व्यतीत उस पर हावी हुआ जा रहा है। पलासगाँव की वीथि-वीथि उठ-उठ कर उसके मस्तिष्क के उपचेतन-अवचेतन मे तैर रही है। पर वह चुप । सहसा गोप ने अपना मुँह ढाँक लिया और फफक-फफक कर घटे-दो घटे रोती रही ।

रो कर निबटी तो सिहबल को पर्यंक के सिरहाने बैठा पाया । वह इस तरह पति को सामने देख कर सिहर उठी पर व्यवस्थित हो कर बोली– 'बड़ी देर की है । चलो भोजन कर लो ।।'

'गोप ! आज हम भूखे ही रहेगे भूख नहीं प्यास प्रिये प्यास ऐसी जो जन्म-जन्मान्तर तक लगती रहे एक बुझी-सी पिपासा जो लग कर बुझे नहीं और दहक उठे ही ।।' देखते-देखते उसने गोप को अपने भुजपाश मे भर लिया । अधर पर अधर रखे दोनों मानव-पछी किसी स्वर्ग की कल्पना कर रहे थे कि गोप को सुभद्रा की स्मृति हो आई है फिर खो गई पद्मिनीखेट सुभद्रा वह ऐन्द्रजालिक कुमारी कौन है इस परकीया भावना ने तो मुझे 'मैं' नहीं रहने दिया । क्या 'ये' मेरे नहीं हैं ? यह आज का अप्रत्याशित हरा प्यार इसका अर्थ ऐसा तो कभी नहीं हुआ, यह सब मिथ्या है । क्यो ?

और उसने देखते-देखते सिहबल के आलिगन-पाश से अपने आपको मुक्त कर लिया। सिहबल पर इस समय पशु घिर आया था । वह इसे सहन न कर सका । उसके पौरुष को नारीत्व की यह अनभीप्सित चुनौती बुरी लगी। उसने एकबारगी ही झपट कर उसे फिर अपने पाश में भर लिया । गोप को बुरा लगा या नहीं यह निश्चित नहीं पर उसके नारीत्व को पौरुष की यह विजय सहन न हुई । फिर भी वह सब देखा की ।

सिहबल का पशु सो गया । अब उसमें मानव भर शेष रह गया । उसने पाश ढीले कर दिये । गोप ने मुक्त होने का प्रयास नहीं किया । नारी को पुरुष अच्छा लगा पर पुरुष को अब नारी नहीं रुच रही थी । पुरुष ने करवट बदल दी, नारी को लज्जा ने समेट लिया । वह चौंककर उठ बैठी और गोप ने पाया कि उसका 'अहम्' दूसरे क्षण फिर खाद्य बनकर उपस्थित था।

उसने अपने से प्रश्न किया- ये जो पर्यंक पर लेटे हैं आखिर मेरे कौन होते हैं ? और मैं इनकी कौन हूँ ? इनको क्या अधिकार है जब चाहे तब आयें और जो चाहे सो करें ? एक मैं हूँ जो हर तरह से परतत्र । मैं क्या हूँ ? कहाँ से आई हूँ ? क्यों आई हूँ ? यह ससृति क्या है ? यदि यह है तो इसके लिए मैं या मैं-जैसी अगणित क्यों आवश्यक हैं ? और यदि आवश्यक ही है तो फिर एकरूप रहकर सतत आवश्यक क्यों नहीं बनी रह पातीं ? उष्णीष की तरह हमें देह क्यो बदल देना होती है ? और उसने पाया कि उसके मुखमडल पर स्वय स्वेद बिदु झिरप आए हैं । रोम कटकित है । हाथ-पैर काँप रहे हैं ।

उत्तरीय अरतव्यस्त है । वह अपनी इस शारीरिक अव्यवस्था को एकबारगी ही देख जाने के लिए एक आदमकद दर्पण के सामने जा खड़ी हुई । इस समय उसे अपना सौंदर्य कुछ भला-सा लगा। वह अपने ऊपर सहसा ही रीझ उठी , पर अपर क्षण खीज कर वह अतर्कक्ष में चली गई ।

दक्षिणी गवाक्ष पर पहुँच कर उसने देखा कि क्षिप्रा के जल में हिमकर ऊर्मियो से खेल रहा है । लहरो को चूम कर वह स्वस्थ दीख पड़ा, पर क्रमश उसका मुख गिरता-सा लगा प्राची मे लालिमा फूटी । एक पीताभ गोलक उठा चला जा रहा था । पलाश-सा पीला र अगारे-सा लाल हो चला था । इस स्वर्णाभ रक्तवर्ण पथिक को पश्चिम तक पहुँचना था। औ सिहबल को पद्मिनीखेट जाना था । उसने भोजन किया, न किया और चल पड़ा।

'कब लौटोगे, पथिक !!' उन्मन किंतु साहस के साथ उसने प्रश्न किया। 'सप्ताह दो सप्ताह में ।। अपितु इससे भी शीघ्र लौटने का प्रयास करूँगा । न आ सकूँ तो चिन्त न करना । वाणिज्य मे देर-अबेर हो ही जाती है । ' सिहबल ने अपनी आकृति पर म के भावों को आने से रोकते हुए यह सब कहा ।

एक सप्ताह बीत गया । सिहबल न लौटा । कोई सम्वाद भी नहीं मिल सका। सम के वक्षस्थल पर दूसरे सप्ताह की भी सात लकीरे खिच गई । तीसरा भी आया और गया गोपवती को यद्यपि सिहबल की प्रतीक्षा न थी पर वह उठ रहे सशय का समाधान चाहती थी सुभद्रा क्या है ? कैसी है ? क्यो है ? सिहबल मेरे लिए है । उस पर सुभद्रा का क अधिकार ? वह जादूगरनी है, अवश्य ।

दूसरे पल उसने अपने आवश्यक परिधान लिये और प्रासाद के सामने से जानेवा राजवीथि पर आ खड़ी हुई । अब उसने पद्मिनीखेट जाने का निश्चय कर लिया था ।

चली जा रही शिबिका को रोक कर शिबिकाधारियो को चार-चार स्वर्णमुद्राएँ दे व उसने आवरण उठाया और शिबिका के भीतर हो गई। वहीं बैठे-बैठे पार्श्व में खड़े शिबिकाधारि से कहा– देखो कल निशीथ तक मुझे पद्मिनीखेट पहुँचना है । सफल होने पर चार-चार स्व मुद्राएँ और दूँगी । शीघ्रता करो ।

शिबिकाधारियो ने काष्ठ कधो पर रखे और अपनी अभ्यस्तगति से अधिक तेजी चलने लगे ।

गोप ने पद्मिनीखेट जनपद के लिए प्रस्थान करने के पूर्व अपने जूड़े मे एक दीर्घका कृपाण रख लिया था । उसने सुभद्रा के मुण्ड को काट लाने का सकल्प कर लिया ।

अव जब शिबिका पर्वतीय प्रदेश की उस निम्न भूमि पर हो कर गुजर रही थी । गोप की मनोभूमि म भी कई खाइयाँ खुदतीं और पुरतीं। वह सोचती और सुभद्रा को सामने पाती, एक

सलोना मुख, चाँद के आसपास जैसे काली बदली घिर आई हो वैसी ही श्यामवर्ण, नागिन-सी अलकें, दीर्घ विलबित कर्ण । अजानुभुज लताएँ। लम्बी-लम्बी लचीली अगुलियाँ । गोल नाक । कान तक खिच आई सीपी-सी आँखें। उभरे गुलाबी कपोल । पतले-पतले रक्ताभ ओठ । अण्डाकार ठुड्डी । सुराही-सी गढी गर्दन । वक्षस् पर यौवन । गति में इठलाहट और मचल । यह सब गोप के सामने आता और मिट जाता । फिर आता और सौदामिनी-सधि सा खो जाता । उसे कुछ भरता-सा लगता, फिर भर जाता। काँप उठती यह कह कर कि इसे कैसे मार सकूँगी ? पर इसने भी तो मेरे प्रणय का वध किया है। किया होगा पर क्यो नहीं, मैं नहीं मारूँगी लौट चलूँ नहीं यो ही चलना हो जायेगा । उसमे दु सकल्प उठते और मिटते। कुछ आता और दूसरे ही क्षण खो जाता। इसी तरह सोचते-सोचते उसे नींद आ गई ।

'देवि ! सिहसेन का प्रासाद है ।' शिबिकाधारी ने शिबिका रखते हुए कहा ।

'आ गया मेरा निर्दिष्ट अच्छा तो यह कार्षापण लो देखो अभी दो घटिका बीतने पर मुझे फिर लौट चलना है । शिबिका यहीं तैयार मिले।' गोपने दृढ़ता के साथ कहा।

'आप निश्चित रहे।'

और देखते-दखते गोपवती सिहसेन के प्रासाद में प्रवेश कर गई। प्रहरी सो रहे थे। उन्होंने रोका नहीं । शैशव के दिन उसके पद्मिनीखेट मे ही कटे थे । सिहसेन के प्रासाद मे जब कभी आना-जाना होता ही रहता था । सभी परिचित थे ।

गोप सीधी अतर्कक्ष में पहुँची । देखा सिहसेन निम्न कक्ष में सो रहे हैं और सुभद्रा ऊपरी कक्ष में, अत वह सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर पहुँची और चुपचाप सो गई । किसी तरह की आहट न हो सकी ।

एक घटिका बीत चुकी । रात्रि की साँय-साँय मे भी इतना स्पष्ट था कि तीसरा पहर चल रहा है । विचारों की उधेड़बुन पर नियत्रण पाते हुए गोप ने अपने जूड़े में-से कृपाण निकाला और एकबारगी उसे देख गई । वह भयानक लपलपाती कालजिह्वा दूसरे क्षण सुभद्रा की गर्दन पर चलेगी यह निश्चित था।

सुभद्रा के सुषुप्त सौंदर्य पर नारी की सहानुभूति जागी पर सकल्प को विजय मिली और देखते-देखते सुभद्रा का मुण्ड गोपवती ने अपने रक्तरजित हाथो पर फैलाते हुए अपने को घन्यवाद दिया । हाथ खून से सने हुए थे । वस्त्र उठाया उससे उन्हें पोछा। कृपाण को भी यथास्थान सुरक्षित किया । मुण्ड सम्पुटिका मे रखा और चुपचाप प्रासाद के बाहर हो गई ।

विरक्ति ने उसे भर लिया पर इससे क्या उसने अपने निश्चय मे सफलता जो प्राप्त की थी उसे एकदम सूना-सा लगा । आँखों मे सुभद्रा का अधकटा शरीर झूल गया । उसने शिबिका में बैठकर शिबिकाधारियों को शीघ्रता से वह लाश गाँव ले चलने का आदेश दिया।

शिबिका बढ रही थी अपने छोटे मार्ग पर उसे चलते जाना था । वह चलती चली गई। उधर गोप के मस्तिष्क मे आँधी-तूफान झंझावात सभी उमड़ आये । खून उसने खून किया है हत्या की है क्या पाया ? सकल्प की सफलता । सम्पुटिका से सुभद्रा का कटा सिर निकाला गया और उसे केशपुज के सहारे झुलाते देख अर्द्धविक्षिप्त गोप ने कहा मैं पागल हुई यह क्या ? क्यो किसलिए ? सुभद्रा के मुण्ड से खूनकी बूँदें अब भी टपक रही थीं हर बूँद की टपक पर गोप चौक उठती वह कहती मैने यह क्या किया ! यदि मुझे सुभद्रा ने मार डाला होता तो पर अब अब तो मेरा प्यार निश्चिन्त है सिहबल निश्चित रूप से मेरा हुआ । सुभद्रा गई कभी न लौटने के लिए अच्छा ही है मुझे भी जाना है यह ससार जल मे उठे बुदबुदे की तरह क्षणिक एक दो दिन का यह महापाप ! उसके विस्फारित नेत्रो मे खून उबल पड़ता तथा पुतलियो पर विचार दौड़ते दीख पड़ते थे । वह चुप कार्य की उपकरता निद्रा मे बदल गई । वह सो गई और दूसरे दिन गुप्त रूप से पलाशग्राम पहुँची ।

दिन पर दिन की पर्त्त चढती गई दो वर्ष बीत गये । सिहबल भोजन कर रहा था । गोपवती बड़े प्यार से भोजन करा रही थी । उसने देखा आज उसका पति नित्य की अपेक्षा अधिक उन्मन है । वह पूछ बैठी— 'प्रिये, स्वास्थ्य तो अच्छा है ?' क्यो ? '

''योही क्या किसी '' सुभद्रा के विषय मे सोचते-सोचते गोप कुछ कहते कहते रुक गई । उसने पिछले दिनो अनुभव किया था कि सिहबल पर्याप्त ऐश्वर्य का स्वामी होते हुए भी जबसे पलाशग्राम आया है, तबसे अनमना-अनमना रहता है । उसे अचानक सुभद्रा का सिर याद आ गया । वह सहसा बिजली की तरह अपने अतर्कक्ष मे गई और सम्पुटिका खोल उसे केशपुज पर झुलाती सुभद्रा का मुण्ड ले आई ।

सिहबल ज्यो-त्यो भोजन उतार रहा था, उसका ध्यान साधारणत थाली पर था । सहसा उसने देखा कि एक नारी-मुण्ड जिससे कि वह परिचित है उसकी थाली में रखा जा रहा है।

वह चीख पड़ा यह क्या यह क्या ?

'सुभद्रा ' सुभद्रा तुम्हारी प्रेयसि तुम्हारी प्रेयसि' - गोपने व्यगभरी भयकर मुस्कराहट से कहा ।

और वातावरण शून्य था केवल गोप की हँसी की प्रतिध्वनि लौट-लौटकर तड़क रही थी।

दूसरे दिन—

विरक्ति को जैसे रूप मिल गया । सबने देखा पलाशग्राम के परिपार्श्व की एक उपत्यका पर शिलाखण्ड पर आसीन सिहबल स्व-अध्याय खोल रहे थे । उनके मुखमडल पर जगत् की भँगुरता और पाशविकता के प्रति उपेक्षा उभर आई थी ।

- 'आराधना कथाकोष' से (सन् १९५१ में लिखित)

अभिसार

सन्यासी उपगुप्त मथुरापुरी की प्राचीरो की छाँह में एकाकी सोया हुआ था । नगरी के दीप पवन के झोंको से बुझ चुके थे । पौर भवनो के द्वार बन्द थे । सावन के नम मे निशीथ के नक्षत्र घने मेघो के कारण छुप गये थे ।

कि सहसा उसने अपने वक्षस् पर किसी के नूपुर-क्षितिज चरणो के पड़ने की आवाज सुनी । सन्यासी चौंक कर जाग उठा । उसे लगा जैसे उसकी आँखें स्वप्न देख कर पथरा गई हों । रूढ दीपक के प्रकाश में उस सुन्दरी के लावण्य-क्षम चक्षु बड़े मोहक थे ।

नगरी की नर्तकी आज यौवन के उन्माद मे अभिसार करने चली थी । अग पर नीले रग का आँचल था । आभरणो के सघर्षण से 'रुन-झुन' ध्वनि निकल रही थी । सन्यासी के शरीर पर चरण पड़ते ही वासवदत्ता थम गई ।

दीपक रख कर वह उसे निर्निमेष देखने लगी । गौरवपूर्ण था सन्यासी, उसके शरीर पर काति की रश्मियाँ बिछी हुई थीं । सौम्य, साहस, तरुण-वयस् वह था, करुणा उस के मुख पर विद्यमान थी, ललाट धवल चन्द्र की भाँति शुभ्र था । चेहरे पर स्निग्ध शान्ति की प्रतिमा थी ।

रमणी ललित कण्ठ से चहक उठी । उसकी आँखें लाज के भार से झुक रही थीं । उसने कहा– ''मुझे क्षमा कर दो कुमार किशोर, कृपा कर मेरे घर चलिये । यह कठोर ककरीली भूमि तुम्हारी शैया नहीं बन सकती, तरुण ।''

सन्यासी ने करुण स्वर मे कहा– ''लावण्य पुँजे ! आज मेरे चलने का समय नहीं । तुम लौट जाओ, पुण्यवति !! जब अवसर आयेगा- मेरे आने का, मैं तुम्हारे कुज मे स्वत चला आऊँगा ।''

सहसा बिजली कौंध उठी । झँझावात जोरो से बह चला । रमणी त्रास से सिहर उठी । पवन में प्रलय-शख बज उठे । आकाश में 'हहर-हहर' अट्टहास के साथ बिडम्बित बज्र हँस पड़े ।

तब से एक वर्ष भी नहीं बीते, चैत्र की सध्या आ पहुँची है । हवा उतावली हो उठी है, आकुल-व्याकुल । पथ के किनारो की विटप-शाखाओं ने मौन धारण कर लिये हैं । उपवन की रजनी-गधा भी मुकुलित हो उठी है ।

सुदूर से श्रान्त-पान्थ की तरह बसी रव करता मदिर गति-समीरण प्रवाहित हो रहा है । नगरी सूनी-सूनी-सी है । सभवत पुरवासी जन मधुवन में पुष्पोत्सव के लिए गये हुए हैं । पुरी की इस शून्यता को देख कर अर्द्धचन्द्र नीरव हँसी हँस रहा है ।

□

निर्जन पथ है । ज्योत्सना के आलोक में सन्यासी अकेला चल रहा है । शीश पर छ
वृक्षों पर बैठा कोकिल बार-बार कुहुक उठता है । और तब उसने अपने आप कहा- ''रे
अभिसार-यामिनी के एक दिन पूर्व ही मै आ पहुँचा ।''

नगरी छोड़ कर सन्यासी प्राचीर प्रान्त की ओर चल दिया ।

इधर खाई के इस पार सन्यासी खड़ा था, तो उधर आम्रवन के उद्यानों की छाया में

क्या यह वही रमणी है ? तपस्वी अपने मे डूबता रहा । उसने देखा कि वह एकब
उसके पास ही खड़ी थी ।

असहाय, रोग से उसके अग गल गये थे । उस देह-यष्टि में पहले जैसी काति न
वह विकृत-विरूप हो गई थी ।

पुरवासियो ने उसे खाई के उस पार यह कहते हुए डाल दिया कि इसका
विषात्मक है ।

वासवदत्ता का परिहार कर दिया गया ।

□

सन्यासी ने गलिताग वासवदत्ता का सिर अपनी गोद में भर लिया । आँचल से
साफ किया । सूखे पपड़ीले ओंठो में बूँद-बूँद जल रिसाया । मन्त्रोच्चार करते हुए उसके
और देह-यष्टि पर अपने हाथो से शीतल चन्दन का लेप किया ।

पराग-युक्त पुष्प झूल रहे है, कोकिल कुहुक रहा है, यामिनी चन्द्र-ज्योत्सन
उन्मत्त है ।

□

''दयानिधे ! तुम आ गये !'' नारी ने मुरझाये किन्तु कोमल स्वर में कहा ।

'' आ गया वासवदत्ते ! इस यामिनी की प्रतीक्षा मे था ! अवसर !!'' सन्यार
पुराने स्वर मे कहा ।

स्व रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'कोथा ओ काहिनी' में-से 'अभिसार' (बोधिसत्वावधान कल्पलता) पर आधारित (सन् १९५५ में लिखित)

चुभते शूल : खिलते फूल

(पावन/प्रेरक प्रसग)

ये जीवन–प्रसग अपूर्व है, प्रभावक हैं, बहुआयामी हैं और जीवन मे अभिनव मोड़ लाने वाले है । ये सरल, सुबोध और तलस्पर्शी भी है।

– डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर – ४५२ ००१ (म प्र)

प्रस्तुत प्रसंग मत्र की तरह छोटे है, अकुश की तरह ये समस्या के ऐरावत हाथी को अपने काबू मे रख सकते है और पलक मारते एक ऐसा समाधान हमारे सामने रख देते है जिसकी तलाश मे हम लगातार रहते हे। ये प्राणो को छूने वाले हैं। हीतल को शीतलता प्रदान करने वाले भी है।

इन प्रसगो के माध्यम से हम खण्डो मे अखण्ड का अनुभव कर सकते है। ये ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे प्रेरणा की झिरियाँ/झरने हमारे हृदय मे खुल सकते है।

— डॉ. नेमीचन्द जैन

चुभते शूल : खिलते फूल (पावन/प्रेरक प्रसग) **डॉ. नेमीचन्द जैन** ; सपादन · **प्रेमचन्द जैन; © हीरा भैया प्रकाशन** ; प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२००१ (म.प्र),** टाइप सेटिग एव मुद्रण **रीगल इण्डस्ट्रीज, राजमोहल्ला, इन्दौर-४५२ ००२** ; प्रथम सस्करण **१५ अक्टूबर, १९९७ (पिताजी की २७ वीं पुण्यतिथि)** ; मूल्य **चार रुपये।**

चुभते शूल खिलते फूल

एक दिन शूल और फूल मे कुछ मीठी, कुछ तीखी मुठभेड़ हो गयी। शूल ने कहा ''यार, तुम हो खूबसूरत, रगबिरगे, लुभावने, किन्तु जहाँ तक ताकत और तरकीब का सवाल है, हमारी तुलना में तुम कहीं के नहीं हो।''

फूल ने बात तो सुन ली, किन्तु पचा नहीं सका, और बोला ''देखो, सौन्दर्य स्वय एक तरकीब और ताकत है। उसके आगे बड़ी-बड़ी शक्तियाँ परास्त हुई हैं। यदि मेरी बात पर भरोसा न हो तो दुनिया का इतिहास देख जाओ। वही कारण है कि तुम्हारा दर्जा मुझसे नीचा है।''

शूल को बात चुभ गयी, प्रत्युत्तर में उसने कहा ''यार, बात तुम्हारी पते की है, किन्तु है निरर्थक। काँटों के कारण ही तुम्हारी सुरक्षा और साख है वरना कौड़ी के मोल बिक जाते। तुम्हें इज्जत बख्शने ये हमारी जाति का बहुत बड़ा हाथ है। वैसे भी दु ख न हो तो सुख की पहिचान न हो, अधेरा न हो तो उजाला कैसा होता है, इसे जानना दुश्वार हो जाए, सयोग का सुख वियोग की तीव्रता पर निर्भर नहीं है क्या ? इसीलिए मैं कहूँगा कि तुम्हारी सुषमा मेरी चुभन पर आश्रित है।''

क्षणभर को फूल का चेहरा निस्तेज हो गया। उसे लगा जैसे बाजी उसके हाथ से निकल गयी है और वह हार गया है, फिर भी साहस बटोरते हुए उसने कहा ''माना सुकुमारता और कठोरता एक-दूसरे के उपकारक अस्तित्व हैं। एक की अनुपस्थिति में दूसरे के बोध के गुम हो जाने की आशका है, किन्तु दोनो दो अलग व्यक्तित्व हैं और दु ख की अपेक्षा सुख ही अधिक लोकप्रिय है। यदि स्वेच्छा से चुनना हो तो मेरे ख्याल से लोग तुम्हारी अपेक्षा मुझे ही चुनेंगे। सकट अनिवार्यता है, समृद्धि चिराकाक्षित पूर्ति।''

शूल को अनुभव हुआ कि फूल ने कोई मर्म की बात कह दी है, फिर भी उसने पैंतरा बदलते हुए कहा ''चाहे जो हो युद्ध के बिना शान्ति सभव नहीं है, सकट के बिना समृद्धि, और अभिशाप के बिना शुभाशीष मे कोई स्वाद नहीं है। सुख का आनन्द सकट की पृष्ठभूमि पर ही विकास करता है। उषा की शोभा भी रात के घने अन्धकार के बाद ही सुखद लगती है। जब तक मैं नहीं चुभता, तुम्हारी उपलब्धि का आनन्द अधूरा बना रहता है। रसास्वाद के लिए चुभन जरूरी है।''

फूल की अन्तरात्मा ने पुकारा ''शूल ठीक कहता है। परस्पर-निर्भरता में ही जीवन का सूत्र है। आपसी मदद और हमदर्दी के बिना कोई स्थिति नहीं है।'' उसने अपनी बहुवर्णी मुस्कराहट द्वारा शूल को इतने अच्छे उपसहार के लिए धन्यवाद दिया और अपने अधिक सुरभित होने में लग गया। काँटो ने भी अपने व्यक्तित्व को शान पर रख दिया। दोनों अपने स्वरूप में स्थिर हो गये।

सबने देखा शूल की नोक, और फूल की पँखुड़ियाँ अपने स्वरूपाचरणो में मुस्करा रह थीं।

आकृतियों में संघर्ष

कल अचानक ही ऐसा हुआ कि मुझे गणित के एक प्राध्यापकजी के घर जाना पड़ा। वे मेरे मित्र थे और रोएँ-रोएँ में ईमानदार थे। रेखा की तरह सरल, बिन्दु की तरह समर्पणशील और चौकोर की तरह स्पष्टवादी। उनका सबके साथ अच्छा सलूक था, किन्तु अधिकाश लोग उन्हे पागल मानते थे। मै उन्हे भीतर से जानता था और उनका सम्मान करता था। वे भले आदमी थे, अपने काम से काम, न ऊधो का लेना, न माधो का देना।

उनका बैठकखाना एक छोटा-मोटा ग्रन्थालय ही था। तस्वीरे वहाँ नहीं थीं। एक काला तख्ता टगा था, और नामालूम कितने सख्या और आकृतिमूलक चार्ट ! दीवारो पर अक ही अक लिखे थे और बैठक तो इस तरह के गणितीय सवालो का अजायबघर ही था। बैठकखाने मे भी मै बैठक से तनिक दूर बैठा था। साहित्यिक होने के कारण मेरी अक्षरमैत्री है, अकमैत्री बिलकुल नहीं है। बेतरतीबी मेरी जिन्दगी है और कड़ा अनुशासन गणित के प्राध्यापकजी की। उनकी पुस्तकें करीने से सज्जित थीं। १-१, २-२ या ३-३ की कतार में बिल्कुल पट्टी-पहाड़े की तरह। सारी किताबे और ग्रन्थ एक कड़ी निगरानी मे और फौजी अनुशासन मे रखे थे।

प्राध्यापकजी का व्यक्तित्व अकों, बीजाक्षरो और भूमितीय आकृतियो से बना था। वे जमाने की तरह जोड़ और गुणा पसन्द करते थे, बाकी उन्हे पसन्द न थी, भाग से वे भागते थे, पुस्तको के परिग्रही थे, फटेहाल, फाकाकश किन्तु अध्ययन मे गहरे।

प्राध्यापकजी चाय के लिए जैसे ही भीतर कक्ष मे गये मैने सुना अलमारियो और मेज पर रखी सारी किताबे किसी गरमाहट मे गूँज रही है। सब किसी बहस की तैयारी कर रही थीं। गणीत की किताबे अपेक्षा चुप थीं। लगता था, वे सुनना चाहती थीं। बीजाक्षरो का आज मौन-दिवस था। भूमिति (ज्यामिट्री) की आकृतियों मे गरमजोशी थी और वे तेज आवाज में एक-दूसरे से उलझने के लिए पैंतरे बदल रही थीं। कुछ नारी और कुछ पुरुषकण्ठ पुस्तको के भीतर से साफ-साफ सुनायी दे रहे थे। रेखा का स्वर सबसे ऊँचा था। वह कह रही थी– ''भाइयो और बहिनो, तुम सब मेरी महानता से अभी भी अपरिचित हो। मैं तुम सबकी सृष्टा हूँ। मै न रहूँ तो तुम सबका अस्तित्व खतरे मे पड़ जाए। मै नारी हूँ, मुझे सब चालें और पैंतरे आते हैं। मै कुटिल या वक्र चल सकती हूँ, सीधी दीख सकती हूँ। इठलाकर चल सकती हूँ, घेरा बन सकती हूँ और कई भागों में बँटकर कई-कई शक्ले ले सकती हूँ। ऐसा करना मेरी सम्पूर्ण जाति का सस्कार है। मै त्रिभुज, चतुर्भुज, पचभुज, षड्भुज, अष्टभुज, बहुभुज हूँ। मेरी ताकत समझो, मैं जमाने की चीज हूँ। बड़ी हूँ। खड़ी, पड़ी, आड़ी सारी स्थितियो मे सन्तुलित और रहस्यपूर्ण बने रहने की कला मुझे याद है। मेरा ठीक-ठीक मूल्याकन करो।''

बिन्दु एक कोने में खड़ा रेखा की गर्वोक्तियों पर मुस्करा रहा था। वह रेखा को जानता था। उसके बैठकखाने मे कई बार गया था, दु ख उसे यह था कि रेखा उससे अब तक एक

अपरिचित थी । रेखा ने उसे नहीं देखा और अपनी बात जारी रखी, वह बोली- ''मैं महान् हूँ। मेरी सत्ता महान् है । मैं आकृतियो की माता हूँ । विधाता मेरी उपयोगिता जानता है । मुझसे चित्र ते हैं, मूर्तियाँ बनती हैं, यन्त्र बनते हैं, पूछती हूँ क्या नहीं बनता ? इमारतें बनती हैं, मेरी ा सर्वव्यापी है ।''

बिन्दु फिर मुस्कराया । इस बार रेखा ने उसे देख लिया, वह तड़प उठी । उसे तैश आ । वह बोली– ''बिन्दुजी, आप बड़े ढीठ हैं । नारी की प्रकृति को नहीं जानते ।'' बिन्दु शान्त भाव का समर्पणशील नागरिक था । उसने धीरज से काम लिया और बोला– ''रेखाजी, प इतना नाराज क्यों होती हैं ? आपकी सत्ता और महत्ता को भला कौन अस्वीकार कर ता है ? मैं तो आपकी तुलना मे बहुत छोटा और अकिचन हूँ । मेरी तरह मेरे ही सारे साथी बहुत छोटे हैं, किन्तु बात जब चल ही पड़ी है तो कहूँगा कि यदि मैं न रहूँ तो न धार बन ती है, न रेखा । हम सब सटकर बैठते हैं या दौड़ते हैं, तभी रेखा अस्तित्व में आती है और बनती है । हमारा सातत्य ही तुम्हारी सत्ता है । मेरी मुस्कराहट मे कोई व्यग या उपेक्षा नहीं एक सच्चाई स्पन्दित है । हम सब पुरुष साथ न बैठे तो तुम्हारी सत्ता ही खतरे मे पड़ जाए ।'' स्थितों ने बिन्दु की बात को बड़े ध्यान से सुना और यह जानकर सचमुच आश्चर्य हुआ कि दु उन सबकी सत्ता में चुपचाप बैठा है किन्तु निरभिमान और विनम्र । उन सबका सिर शर्म र श्रद्धा में झुक गया ।

रेखा ने सारी परिस्थिति को भॉप लिया और बिन्दु के विश्लेषण पर मुग्ध हुई-सी बोली- ें तुम्हें ब्रह्माण्ड भर में ढूँढ़ आयी, प्रिय, तुम कहॉ थे ?''

बिन्दु ने कहा– ''प्रिये, मैं कहीं नहीं था, तुममें था, सबमें हूँ । मैं परोक्ष हूँ, किन्तु परिहार्य हूँ । समर्पण और त्याग की तरह मे दिखायी नहीं देता, किन्तु सारी विकास-प्रक्रिया तल में मरी धड़कन मौजूद है ।''

रेखा ने प्रणय का हाथ बढाया, बिन्दु ने उसे अपने हाथ से भर दिया । इतने में ध्यापकजी चाय ले आये और आकृतियों का सारा दर्शन उस कप में अवगाहन करने लगा ।

चाँद बड़ा अफसर

एक दिन सूरज ने सोचा– 'चाँद और मैं सदियो से यात्रा पर हैं, कभी ऐसा सयोग नहीं आ कि हम दोनों साथ-साथ बैठकर एक-दूसरे के अनुभव सुन-सुना सकें । बड़े सोच-विचार बाद उसने चाँद को एक खत लिखा और सॉझ के हाथ भिजवा दिया । चिट्ठी में लिखा–''भाई ाँद, कल शाम समय निकालकर घड़ी-दो घड़ी के लिए घर आओ, साथ-साथ भोजन करेंगे ।''

चाँद को चिट्ठी मिली तो वह बड़े पसोपेश मे हो गया । सूरज जैसे कर्मयोगी को मनाही कैसे करे, और यदि न्यौता स्वीकार कर भी लिया तो रोज के काम का क्या होगा ? उस समय

उजले-काले पखवाड़ो का भेद विकसित नहीं हुआ था, चॉद को तीसों दिन काम पर जाना होता था, सो उसने जवाब मे लिखा–''दादा, निमंत्रण के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद, जब तक अपनी एवज पर कोई इन्तजाम नहीं कर लेता, नहीं आ सकूँगा। आने का कार्यक्रम जल्दी ही बनाऊॅगा। मैं समझता हूँ हमारे व्यक्तिगत हितो की अपेक्षा लोकहितों का स्थान ऊँचा है। यदि वक्त निकालकर कल सवेरे मेरे घर आ सको तो अहोभाग्य मानूँगा, हम लोग साथ-साथ नाश्ता करेगे।''

चॉद के उत्तर ने सूरज की ऑखे खोल दीं। उसे अपनी भूल समझ में आ गयी, जवाब लिखा–''मै तुम्हारी कर्त्तव्य-भावना के सबन्ध मे सुन चुका हूँ। ठीक तो है, व्यक्तिगत लाभ के लिए हम दोनो अपने कर्त्तव्य से कैसे विमुख हो सकेगे ? यह तो दुनिया के सामने एक बुरी मिसाल होगी। हमारी सदियो की तपश्चर्या कुछ ही क्षणो मे कलकित हो जाएगी। तुम जैसा चाहो करो, पर कोई रास्ता जरूर ढूँढ निकालो। मेरे दरवाजे तुम्हारे लिए खुले हैं, बिना किसी पूर्वसूचना के आने मे भी तुम्हे कोई सकोच नहीं करना है।

सूरज का उत्तर पढकर चॉद ने ठण्डे दिल से सोचा–''सूरज अकेला है। मेरा स्टाफ बड़ा है। मैं अपने दायित्व को बाँट सकता हूँ। मुझे तारो पर विश्वास करने की आदत डालनी चाहिये। नाचीज ही वक्त पर काम आते है। दायित्वबोध मे सफलता का मर्म बैठा हुआ है। कुछ भी अनिवार्य नहीं है। क्यो न कुछ वक्त निकालकर दादा के घर चलूँ और उनके अनुभवो से लाभ उठाऊॅ।'' दो क्षण के असमजस के बाद उसने सूरज को लिखा– 'दादा, कल शाम पहुँच रहा हूँ। और यदि प्रयोग सफल रहा तो रोज-दर-रोज आ सकूँगा, यहाँ तक कि महीने में एक पूरा दिन भी सत्सग मे रह सकूँगा। भला तुम सदियो से सचित अपने बहुमूल्य अनुभवो को दिन-दो-दिन मे कैसे सुना पाओगे, इसलिए एक लम्बे अर्से तक चल सकने वाली योजना बना रहा हूँ।'

दूसरे दिन सूरज दादा का बैठकखाना चॉद की मुस्कराहटो से खिल उठा। चाँद पर सूरज के तपोनिष्ठ जीवन का बड़ा प्रभाव हुआ, उसने एक लम्बे सत्सग की योजना बना ली। अब वह कभी शाम, कभी सबेरे दादा के पास पहुँचने लगा और उनके अनुभव चाव से सुनने लगा। धीरे-धीरे उसने तारों की मदद से अनियमितता को नियमितता में बदल लिया और वह चौदह दिन देर रात तक और चौदह दिन देर शाम से पहुँच कर बड़े सबेरे तक रुकने लगा। इस तरह अब वह एक दिन पूरे समय सूरज के साथ रहता–इसे वह 'अमावस्या' कहता और एक दिन पूरे समय तारों के साथ रहता–इसे वह 'पूनम' कहता। तारे भी खुश, सूरज भी।

'मौत से मरता नहीं मैं'

सम्राट् सिकन्दर ने एक दिगम्बर मुनि से कहा– 'तुम मेरे राज्य चलो'। मुनि ने कहा– 'नहीं चलूँगा'। सिकन्दर भौंचका रह गया। उसकी बात टालने की हिम्मत बड़े-बड़े राजा-

महाराजाओं में नहीं थी। उसका सकेत ही सबको सिर-से-पैर तक थर्रा देता था, ऐसी स्थिति में एक अदना साधु कह रहा है कि 'मै नहीं जाऊँगा'। बड़ा अजीब-सा लगा उसे। वह खता रह गया। बोला– 'साधु, तुम नहीं जानते कि मैं कौन हूँ। सम्राट् सिकन्दर हूँ। तुम्हे नहीं ता कि मेरी हुक्म-उदूली का क्या नतीजा होता है, जानते हो ?' साधु ने कहा– 'जानता हूँ, फर भी बता दो' सम्राट ने कहा– 'यह है तलवार । परिणाम होगा, तुम मारे जाओगे।' साधु ने हा– 'किसे डराते हो ? मौत का यह खौफ तो कभी का ख़त्म हो चुका है। मौत में मुझे मारने ी क्षमता नहीं है – मौत से मरता नहीं मैं, मौत मुझसे मर चुकी है।'

'देखो तो-हमारे मुँह में जीभ है'!

कनफ्यूशियस मृत्युशैया पर पड़े थे। अतिम घड़ी थी। कुछ कहने को जी चाह रहा था। न्होंने शिष्यों को पास बुलाया और कहा– ''देखो तो-हमारे मुँह मे जीभ हैं ?'' और उन्होंने पना मुँह शिष्यों के सामने खोल दिया। शिष्यो ने उनका मुँह देखा। जीभ पूर्ववत् अपने स्थान र थी। शिष्यों ने कहा, ''जीभ तो है, किन्तु दाँत एक भी साबित नहीं बचा है।''

कनफ्यूशियस बोले, ''ऐसा क्यों ? दाँत का निर्माण तो जीभ के पीछे हुआ था। फिर हले ही क्यों गुजर गये ?''

शिष्य चुप थे, कुछ समझ नहीं आ रहा था। उन लोगों के बीच एक सन्नाटा-सा छा गया।

तब कनफ्यूशियस ने कहा– ''ऐसा क्यों हुआ नहीं जानते ? बड़ी छोटी-सी बात है। ीभ कोमल थी, दाँत कठोर, इसीलिए उनका विनाश पहिले हुआ। याद रखना– क्रूर और ठोर का विनाश समय से पहले होता है।''

और तो और, मरते क्षण भी ·

दूसरे महापुरुषों की तरह मुल्ला नसरुद्दीन भी अपनी बीवी से बहुत मज़ाक किया करते थे। और तो और, मरते क्षण भी उसे हँसा गये। जब उनका अत निकट आया, तो बीवी बेचारी काला लिबास पहने, आँखों में आँसू भरे, पलग के पास बैठी हुई थी। मुल्लाजी बोले– 'बीवीजान, यह क्या बुरी हालत बना रखी है! उठो, मुँह धोओ, अच्छे कपड़े पहनो और मुस्कराती हुई आओ।'' बीवी ने तड़पते हुए कहा– ''अब आप मौत के नज़दीक हैं, मैं यह सब कैसे कर सकती हूँ ?'' वे बोले– ''मैं मौत के नज़दीक हूँ इसीलिए तो तुम्हे ऐसा करने को कह रहा हूँ। मौत का फरिश्ता किसी भी क्षण आ धमकेगा। तुम्हे सजी-धजी देखकर हो सकता है, तुम्हें उठा ले जाए, और मुझे छोड़ दे।'' बीवी की हँसी फूट पड़ी और उसी बीच मुल्ला नसरुद्दीन ने सदा के लिए आँखें मूँद लीं।

'बाबाजी, धूनी में कुछ आग है ?'

तथाकथित सन्त एकान्त मे धूनी रमाये बैठे थे। एक व्यक्ति उनकी परीक्षा के लिए आया और उसने कहा– 'बाबाजी, धूनी मे कुछ आग है ?' सन्त ने कहा–'इसमे आग नहीं है।' उसने कहा– 'कुरेद कर देखिये,शायद आग हो ?' सन्त ने त्योरियॉ चढाकर कहा– 'मैंने तुझसे कह दिया है कि इसमे आग नहीं है।' उस व्यक्ति ने फिर झॅझोड़ा– 'बाबाजी, कुछ चिनगारियाँ तो जरूर है।' सन्त ने चिमटा ठोकते हुए कहा– 'तो क्या मै अन्धा हूँ ?' वह व्यक्ति बोला– 'अब तो कुछ लपट भी उठती दिखायी देती है ?' फिर तो सन्त ने धैर्य खो दिया। उनकी आँखे चिनगारियों से भर गयीं और उसकी वाणी लपटो से। वह अपना चिमटा ले कर उसको मारने दौड़ पड़ा। भागते-भागते उस व्यक्ति ने कहा– 'देखिये, अब तो अग्नि पूरी तरह भड़क उठी है।'

'मैं इन्हें लेने से इंकार करता हूँ'

एक बार महात्मा बुद्ध को एक गॉव से हो कर गुजरना पड़ा। गॉव के कुछ लोग उनके पास आये और लगे उन्हे बेहिसाब गालियॉ देने, तरह-तरह से उनका अपमान करने। जब वे गालियॉ दे चुके, तब भगवान् बुद्ध ने उनसे कहा– 'अगर तुम्हारी बात समाप्त हो गयी हो तो मैं जाऊॅ ? मुझे जल्दी ही दूसरे गॉव पहुॅचना है।'

बुद्ध की बात सुनकर लोगो की हैरानी का ठिकाना न था। वे बोले– 'हमने कोई बात तो नहीं की। हमने तो खरी-खरी गालियॉ दी है, फिर भी आप खिन्न नहीं हुए। आपने हमारी गालियो का कोई उत्तर तो दिया होता, बदले मे कुछ तो कहा होता।'

बुद्ध ने कहा– 'अगर तुम लोग अब से दस साल पहले आये होते तो मै भी गालियो का उत्तर गालियो से देता। उस समय मुझे अपने अपमान का दु ख होता, किन्तु इधर दस वर्षों में मै दर्शक मात्र रह गया हूँ, इसलिए अब तुम्हारे साथ वही करूँगा, जो मैंने पिछले गॉव में किया था।'

लोगो ने जिज्ञासा-वश पूछा– 'वहॉ आपने क्या किया था ?'

बुद्ध बोले– 'पिछले गाँव के कुछ लोग आये थे, फल-फूल और मिठाइयॉ मुझे भेट करने। मैने उनसे कहा– 'मेरा पेट भरा हुआ है, इसलिए मुझे क्षमा करो। और वे मेरे ऐसा कहते ही थालियाँ वापस ले गये। तुम लोग गालियॉ ले कर आये हो, अत वापस ले जाने के अलावा कोई उपाय नहीं है। वे तो फल-मिठाइयाँ वापस ले गये थे अत उन्होने वह सब बच्चो मे बॉट दिया, किन्तु तुम इन गालियो को किन लोगो मे बॉटोगे, क्योंकि मै तो इन्हे लेने से इकार कर रहा हूँ।

उपस्थित जन टुकुर-टुकुर एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे।

'हो सकता है, अपमान सही हो'

गुरुजी एक पहुँचा हुआ फकीर था। एक दिन वह भी भगवान् बुद्ध की तरह एक गाँव के निकट से गुजरा। कुछ ग्रामवासियों ने जब उसे देखा तो तरह-तरह की गालियाँ दे कर वे

उसका तिरस्कार करने लगे।

उसने गालियाँ सुनीं और बोला– 'मैं कल आ कर इनका उत्तर दूँगा'।

लोग हैरान कि गालियो का उत्तर भला कोई कल पर छोड़ता है ?

उस ने कहा– 'पहले मैं सोचूँगा कि मेरा अपमान ठीक हुआ है या नहीं ? हो सकता है, ही ही हुआ हो। यदि मुझमे वे कारण मौजूद हैं जिन्हें ले कर तुमने मेरा अपमान किया है, तो तुम लोगों को धन्यवाद दूँगा और तुम सबका आभार मानूँगा। यदि नहीं तो झगड़े का कोई रण नहीं है।'

फकीर दूसरे दिन उन्हीं लोगो के पास उस गाँव मे आया और बोला– 'तुम लोगों ने मुझे । गालियाँ दीं, ठीक ही दीं, क्योंकि वे सारे कारण अभी भी मेरे अन्दर मौजूद हैं। मैं इन लियों के लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ।'

'ये फल आपने भेजे हैं ?'

स्वामी दयानन्द गगा के किनारे अपनी कुटिया मे रहते थे। वहाँ कई अन्य साधुओं की टियाएँ भी थीं। इनमें एक साधु ऐसा था जो स्वामीजी से बहुत ईर्ष्या करता था। वह उन्हे रोज़ सैकड़ों गालियाँ देता था।

एक दिन स्वामीजी की सेवा मे कोई व्यक्ति भेट-स्वरूप बहुत-से फल दे गया। स्वामीजी सहज ही वे सारे फल उस साधु के पास भिजवा दिये।

साधु ने सेवक से कहा– 'तुम भूल से मेरे यहाँ आ गये हो, वह भला मुझे फल क्यो देगा ? तो उसे रोज-रोज गालियाँ देता हूँ। तुम फिर से पूछ आओ।'

सेवक ने लौट कर फिर वही बात कही कि ये फल आपके लिए ही हैं।

अन्तत साधु उठा और स्वामीजी के पास जा कर उनसे पूछा– 'ये फल आपने भेजे है ? मैं जो सदैव आपको गालियाँ देता रहा हूँ।'

स्वामीजी मुस्कराये और निर्मल चित्त से बोले– 'महात्मन्, ये आपको इसलिए भेजे हैं कि आप इन्हें खायेंगे, तो शक्ति आयेगी और नतीजे मे आप मुझे और अधिक गालियाँ दे सकेंगे। मेरी अधिक निन्दा कर सकेंगे।'

साधु दौड़ कर स्वामीजी के पैरों पर गिर पड़ा और देखते-देखते उसने पछतावे के आँसुओं से उनके चरण पखार दिये।

श्रमजल

सन्त ने पूछा– ''सर्वोत्तम जल कौन-सा है ?''

एक शिष्य ने उत्तर दिया– ''गगाजल''।

सन्त ने फिर पूछा– ''क्या उससे बढ़ कर भी कोई जल है ?''

दूसरे शिष्य ने विनम्रतापूर्वक बताया– ''भूमि पर गिरने से पहले का वर्षाजल''।

सन्त ने पुन वही प्रश्न किया– ''उससे भी बहत्तर कोई जल है ?''

तीसरे शिष्य ने कहा– ''प्रभात की उज्ज्वल किरणो मे दमकनेवाला ओसजल''।

सन्त के पुन वही प्रश्न करने पर चौथे शिष्य ने कहा– ''बिछुड़े हुए बेटे से मिलने पर माता की ऑखो से टपकने वाला अश्रु जल''। सन्त इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होने पाँचवे शिष्य से वही प्रश्न किया– ''क्या इस पवित्र और महिमाशाली जल से भी उत्तम कोई जल है ?''

शिष्य ने उत्तर दिया ''आजीवन धोखाधड़ी और फरेब से सचित धन को देख मरणासन्न धनी के आँखो से अनायास बह निकलने वाला अनुताप-जल''। अन्त मे सन्त ने अपने छठे शिष्य की ओर मुड़ कर पूछा– ''तुम बताओ इन सब जलो से कहीं अधिक प्रणम्य और वन्दनीय कोई जल है ?''

शिष्य ने जवाब दिया– ''सारे दिन परिश्रम करके अपने आश्रित जनो के लिए अन्न जुटानेवाले मजदूर का श्रमजल''।

सन्त ने इस उत्तर से सन्तुष्ट हो कर शिष्य को साधुवाद दिया और उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना की।

सोने का सिक्का

एक दिन किसी की जेब से निकल कर सोने का एक सिक्का गदे चिथड़े के पास जा गिरा। चिथड़े को देख सिक्का बोला– ''ओ गदे चिथड़े ! जरा दूर हट जा, देखता नहीं मैं सोने का सिक्का हूँ, जिसे पाने के लिए रक से लेकर राजा तक नित्य प्रयत्न करते रहते है।'' बात चिथड़े को बहुत अखरी, किन्तु वह कर ही क्या सकता था।

कुछ दिनो बाद चिथड़े बीनने वाले ने चिथड़े को उठा लियाा और साफ-सुथरा करके उसे कागज के कारखाने मे बेच दिया, उससे जो कागज तैयार हुआ, वह दस स्वर्ण-मुद्राओ के बराबर आँका गया।

एक दिन कागज का खरीददार आया और दस स्वर्ण-मुद्राएँ देकर कागज खरीदने लगा। सयोग से उन दस सिक्को मे-से एक सिक्का वह भी था जिसकी बात चिथड़े से हुई थी। उसने सोने के उस सिक्के को तुरन्त पहिचान लिया और बोला– ''भैया, उस दिन तो तुम मुझे

दुत्कार रहे थे, किन्तु आज मैं तुमसे अधिक कीमत का बन गया हूँ। तुम-जैसे लोग दूसरों की निरर्थक निन्दा करते रहते हैं और जब बड़े हो जाते हैं तो उसकी पूजा करने दौड़ पड़ते हैं''।

'मैं अपनी सज्जनता क्यों छोड़ूँ ?'

एक सन्यासी एक नदी के किनारे बैठे थे। उन्होंने देखा एक बिच्छू नदी में गिर पड़ा है ौर पानी में-से निकलने के लिए छटपटा रहा है। सन्त ने अपना हाथ पानी में डाला। उसे हारा दिया। बिच्छू उनके हाथ पर बैठ गया। वे उसे पानी से बाहर निकालने लगे। बिच्छू ने क मारा। सन्यासी का हाथ कॉपा, बिच्छू पानी मे गिर गया। सन्यासी ने पुन वही क्रम हराया। बिच्छू ने फिर डक मारा। जब तीसरी बार भी यही क्रम चला तब एक व्यक्ति ने, जो स ही खड़ा यह सब देख रहा था, सन्यासी से कहा– ''आप अब तक इस दुष्ट की दुष्टता परिचित हो गये होगे। देखिये न, आप इस पर उपकार करना चाह रहे है और यह है कि आपको र बार डक मार रहा है। अब आप इसे पानी में पड़ा रहने दीजिये।'' सन्यासी ने कहा– ''भैया, ह दुष्ट जब अपनी दुष्टता नहीं छोड़ रहा है, तब मैं अपनी सज्जनता को कैसे त्याग दूँ ?''

'हिसा का कोई मूल्य नहीं होता'

तैमूरलग एक अति क्रूर शासक था। एक बार उसके सामने दो गुलामो को पेश किया या। दोनो को मृत्युदण्ड दिया। कवि अहमद को भी बदी बना कर लाया गया था। तैमूर ने हमद से पूछा– ''तुम तो कवि हो, बताओ, इन दोनो गुलामों का क्या मूल्य होगा ?''

''प्रत्येक का पाँच-पाँच सौ अशर्फियाँ''।

''अच्छा बताओ, मेरा मूल्य कितना आँकते हो ?''

''पच्चीस अशर्फियाँ''।

सुन कर तैमूर का कोधित होना स्वाभाविक ही था। वह गुस्से मे बोला– ''अरे बेवकूफ, इतना भी नहीं जानते, पच्चीस अशर्फियों का मूल्य तो सिर्फ मेरी पोशाक का ही होगा''।

कवि अहमद ने कहा– ''सही कहा आपने, मैंने आपकी पोशाक का मूल्य ही आँका है, पच्चीस अशर्फियाँ''।

''तो क्या मेरा मूल्य कुछ भी नहीं है ?''

''जी नहीं, आपका मूल्य कुछ भी नहीं है। जो आदमी क्रूर है, हिसक है, उसका कोई मूल्य नहीं हो सकता''।

उपहार

विलायत के एक गिरजाघर के एक पादरी को विश्वास की शक्ति में दृद विश्वास था। वे इसका प्रयोग डाकू, बेईमान, क्रूर, अन्यायी, अत्याचारियों पर भी करते थे। उन्हे सन्मार्ग पर

लाते थे। एक रात वहीं के कारागार से भागा हुआ एक कुख्यात चोर, उनके दरवाज़े पर आ पहुँचा। रात्रि के समय पादरी ने उस चोर के आतिथ्य के लिए, जो भी उपलब्ध था, प्रस्तुत कर दिया। उसके शयन की सुन्दर व्यवस्था अपने ही शयन-कक्ष मे कर दी। स्वय जमीन पर लेट गये। सबेरे उठकर देखा तो चोर गायब था। उनके चॉदी के दो दीपदान भी नदारद थे। कुछ देर बाद ही नगर-प्रहरी के जवान उस चोर को पकड़ कर ले आये। चॉदी के दीपदानों के बारे में उन्हे भी ज्ञात था कि वे पादरी के ही है अत वे सीधे पादरी के पास आये थे। पादरी ने चोर को देखा और प्रहरी से कहा– 'अरे, यह तो मेरे मित्र हैं, रात्रि को मेरे घर में मेरे अतिथि भी थे। चॉदी के ये दीपदान तो मैने इन्हे उपहार मे दिये थे' इन शब्दो ने चोर के हृदय मे क्षणभर मे ह जो प्रभाव जमाया, वह अविस्मरणीय हो गया । उसने तुरन्त क्षमा-याचना की और ज़िदगी-भर चोरी न करने का प्रण कर लिया।

'फिर वहाँ क्यों बैठे हैं' ?

एक भिखारी सेठ की कोठी पर गया। बोला– 'सेठ साहब ! पैसा दो!' सेठ बोला- 'पैसा नहीं है'। भिखारी ने कहा– 'रोटी दो'। 'रोटी भी नहीं है'। 'अच्छा, फटे-पुराने कप ही दो'। 'कपड़े भी नहीं है'। इतना सुनते ही भिखारी बोला– 'फिर यहॉ क्यो बैठे हो ? मे साथ चलो। हम दोनो भीख मॉगेगे ?'

स्वस्थ कौन ?

आयुर्वेद के महान् आचार्य महर्षि चरक ने स्वास्थ्य-के-मर्म को जानने वाले वाग्भट्ट पूछा– 'स्वस्थ कौन ?' वे बोले– 'जो सेहत को मुख्य रख कर भोजन करता है'। उन्होने फि पूछा– 'स्वस्थ कौन ?' वाग्भट्ट ने उत्तर दिया– 'जो थोड़ा खाता है, स्वाद के लिए अधिक नह खाता'। आचार्य चरक ने फिर प्रश्न किया– 'स्वस्थ कौन' ? वाग्भट्ट ने कहा– 'जो दूसरे व शोषण करके नहीं खाता'।

सफलता का मर्म

रूस के सुप्रसिद्ध चिन्तक टॉलस्टॉय से उनके एक मित्र ने पूछा– 'सफलता का रहस्य क्या है ?'

टॉलस्टॉय ने उत्तर दिया– 'सफलता का एकमात्र रहस्य है 'धैर्य''।

मित्र ने कहा– 'यह गलत हे। क्या धैर्य होने से ही मे चलनी मे पानी भर पाऊँगा ?'

'अवश्य' - टॉलस्टॉय ने दृढ विश्वास के साथ कहा– 'अगर तुम्हारे पास धैर्य है, अगर तुम तब तक प्रतीक्षा करने को तैयार हो, जब तक तुम्हारी चलनी का पानी वर्फ-सा जम नहीं जाता है'।

यह तो आस्था की स्थिति है। आस्था है, श्रद्धा है तो सब कुछ सभव है, अगर नहीं तो कुछ भी नहीं।

एक लोटा पानी

सन् १९३० के दशक की बात है। नेहरू-परिवार (मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल ...रू) के निवास 'आनन्द भवन' मे काग्रेस वर्किंग कमेटी की मीटिंग थी। रोज के नियम के ...ाबिक मीरा बहन (मिस स्लेड) ने गाँधीजी के सामने मुँह धोने के लिए पानी का एक लोटा ... दिया। उसी समय जवाहरलाल नेहरू कोई जरूरी बात करने के लिए गाँधीजी के पास ...ये। बात करते-करते पानी खत्म हो गया, लेकिन मुँह धोने का काम पूरा नहीं हुआ। मीरा ...न ने दुबारा लोटा भर कर गाँधीजी के सामने रख दिया। बातचीत में ही गाँधीजी चुप हो गये। ...रे पर गभीर मुद्रा छा गयी। जवाहरलाल ने पूछा– 'बापू क्या हुआ, चुप क्यो हो गये ?'

गाँधीजी ने कोई उत्तर नहीं दिया तो जवाहरलाल और उत्सुक हो गये। दुबारा वही ...ाल पूछा। तब बापू ने कहा– 'आज मुझसे गलती हो गयी। रोज़ मैं एक लोटे पानी से मुँह ...ने का काम पूरा कर लेता हूँ, आज बात करते-करते ध्यान नहीं रहा, दो लोटे पानी इस्तेमाल ...ना पड़ा।'

जवाहरलाल मुस्कराये। 'बापू, एक लोटा पानी अधिक खर्च हो गया तो क्या हुआ ? ...की इतनी चिन्ता क्यों ? यहाँ तो गगा-जमना दो-दो नदियाँ बहती हैं।'

गाँधीजी बोले– 'गगा-जमना यहाँ बहती हैं, यह ठीक है, लेकिन वे केवल मेरे लिए नहीं ...ती। सैकड़ों मील तक उनके दोनों तटों पर जो लाखो प्राणी, पेड़-पौधे हैं उन सबका हिस्सा ...स पानी में है। मेरा धर्म उतना ही पानी इस्तेमाल करने का है, जितना आवश्यक हो।'

निष्कलंक सादगी

तपोधन लालबहादुर शास्त्री राजनीति में महात्मा गाँधी को आदर्श मानते थे, और सादगी, सदाचार तथा अपरिग्रह मे उनका कोई सानी नहीं था। कहा जाता है कि जब वे काग्रेस-कमेटी के जनरल सेक्रेटरी थे, तब उनके एक सहयोगी ने किसी कार्य के लिए उनसे कुछ रुपयों के ऋण की माँग की। शास्त्रीजी को बड़ा दु ख हुआ कि वे उसकी कोई भी सहायता नहीं कर सके। उन्होंने कहा कि काग्रेस-कमेटी से वेतन के रूप में वे उतनी ही राशि लेते थे, जिसमें उनकी और उनके परिवार की गुज़र-बसर हो सके। उन्हे सहयोगी की सहायता न करने पर दुखी देख कर ललिताजी ने कहा– ''ठहरिये, देखती हूँ यदि मैं कुछ व्यवस्था कर सकूँ''। और घर में जा कर पचास रुपये ला कर उन्होने शास्त्रीजी के हाथ पर धर दिये और कहा– ''देखिये, इस राशि से शायद आपका कुछ काम बन जाए''। सादगी और सस्ती का युग था, सहयोगी जब आभार व्यक्त कर चला गया तब शास्त्रीजी ने ललिताजी से पूछा कि ''वह रुपया कहाँ से आया ?'' ललिताजी का उत्तर था– ''मैं गृहणी हूँ। आप तो देखते नहीं, मुझे भविष्य के दुख-दरद के लिए भी कुछ सोचना चाहिये। इन दिनो मैं घर-खर्च मे-से किसी तरह प्रतिमास पाँच रुपये बचा कर यह राशि जमा कर पायी थी।'' शास्त्रीजी ने सोचा कि काँग्रेस-कमेटी का यह

पैसा जन-साधारण का पैसा है। मुझे इसमे-से इतना ही पैसा लेने का अधिकार है, जिससे मेरा और मुझ पर आश्रित परिवार का भरण-पोषण सभव हो और दूसरे दिन ऑफिस जा कर उन्होने स्वेच्छा से अपने वेतन मे पॉच रुपये मासिक की कटौती कर ली। ऐसा व्यक्ति भ्रष्टाचार को स्थान देना तो दूर, उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था।

'प्याला भीतर से भी धो'

किसी फरीसी ने प्रभु ईसा से प्रार्थना की कि मेरे यहाँ भोजन करें। वे भीतर जा क भोजन करने बैठे । फरीसी को यह देख कर अचम्भा हुआ कि भोजन करने से पहले उन्ह नहाया नहीं। इस पर प्रभु ईसा ने उससे कहा– ''फरीसियो ! तुम प्याले और रकाबियो ऊपर-ऊपर से मॉजते हो, पर तुम्हारे भीतर तो अमावस और दुष्टता भरी बैठी है। अज्ञानि जिसने बाहर का भाग बनाया है, क्या उसी ने भीतर का भाग नहीं बनाया है ?''

तिनका और लट्ठा

उन्होने कहा–

'किसी पर दोष मत लगा कि तुझ पर भी दोष लगाया जाए, क्योकि तू जिस पैमाने दूसरे को नापेगा, उसी से तू भी नापा जाएगा। तू अपने भाई की ऑख का तिनका देखत और अपनी ऑख का लट्ठा तुझे सूझता नहीं है ? जब तेरी ही आँख मे लट्ठा है, तो तू अपने से कैसे कह सकता है कि ला मैं तेरी ऑख का तिनका निकाल दूँ ? ओ कपटी, पहले तू अ ऑख का लट्ठा निकाल तभी तू अपने भाई की ऑख का तिनका भलीभॉति निकाल सकेग

सबसे बड़ा ताकतर !

हजरत मुहम्मद ने आदम की औलाद यानी अपने जमाने के आदमियो को समझाया कि जब खुदा ने जमीन बनायी तो वह हिल रही थी। तब खुदा ने उस पर अचल पहाड़ पैदा दिये और जमीन स्थिर हो गयी। पहाड़ की ताकत से फरिश्ते चकित रह गये और बोले– मालिक ! क्या तूने पहाड़ से भी अधिका ताकत वाली कोई चीज़ पैदा की है?' अल्लाह ने ज दिया– ''हॉ, लोहा, क्योकि वह पहाड़ को तोड़ सकता है'। फरिश्ते ने कहा– ''क्या तूने ल से भी अधिक मजबूत कोई चीज पैदा की है ?' खुदा ने कहा– ''हाँ, आग, क्योकि वह लोहे भी जला देती है।'' उसने फिर पूछा– ''क्या तूने आग से भी अधिक ताकतवर कोई चीज़ प की है ?'' खुदा ने कहा– ''हॉ, पानी, क्योकि वह आग को भी ठण्डा कर देता है।'' फरिश्त फिर पूछा–''क्या पानी से भी ताकतवर कोई चीज़ तूने पैदा की है?'' खुदा ने कहा– ''ा इन्सान, वह उस समय हवा से भी अधिक ताकतवर (शक्तिशाली) हो जाता है, जब वह दाा हाथ से दान करता है, और बाये हाथ को खबर तक नहीं होने देता।''

सलामी की रस्म के बाद बहन की अंत्येष्टि

वह २५ जनवरी १९६० की रात थी। राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्रप्रसादजी की बड़ी बहन
ग्रतीदेवी का देहान्त हो गया। भगवतीदेवी राजेन्द्रबाबू के लिए माँ भी थीं, बहन भी। बहन की
[से राजेन्द्रबाबू को इतना गहरा सदमा पहुँचा कि वे दु ख से बेसुध हो कर मृत्युशैया के पास
रहे। बड़ी रात गये उन्हें सोने के लिए राजी किया जा सका। तभी उन्हें याद आया कि शीघ्र
देन निकलने वाला है, भारतीय गणतत्र की दसवीं सालगिरह का दिन, जिसमें उन्हे राष्ट्रपति
हैसियत से फौजी सलामी लेनी है। सार्वजनिक कर्त्तव्य ने निजी दु ख को ढँक लिया। अगले
वे सलामी की रस्म के दौरान घण्टो तक खड़े रहे। उनके गभीर चेहरे पर दु ख की कोई रेखा
दिखाई देती थी। दोपहर को लौट कर वे बहन की अत्येष्टि के लिए अरथी के साथ जमना
की ओर रवाना हुए। (श्री के एल पजाबी के कथन पर आधारित)।

'अपरिग्रह का बंदा खुदा भी है'

उस दिन फरादुद्दीन अत्तार ने एक लकड़हारे को बोझ से, एक धनिक को अपनी थैलियो
एक सुन्दरी को अपनी सुन्दरता से और एक सम्राट् को अपनी ही तलवार से समाप्त होते
। उनका क्रन्दन सुन जब उनका मन डूब रहा था, तब उन्होंने एक फकीर को देखा,
की एक मुस्कान सूरज उगाती, दूसरी चाँद जगाती और तीसरी फूल खिलाती ! तब उनकी
मा बोली ''देख, अपरिग्रह का बदा खुदा भी है।''

आदमी की पुरानी आदत

ऊँचे पहाड़ो पर एक तीर्थ था। प्राणो को सकट मे डाल कर हजारो कोस से यात्री उस तीर्थ मे
ा थे। मूर्ति ने यह देखा तो गर्व मे अकड़ गयी, अपने आप से ही बोली– ''पत्थर कह कर अपमान
ने वाली इस मनुष्य-जाति का दिमाग मैंने ही ठीक किया है-मेरी पूजा के बिना उसका उद्धार
।'' वाक्य खत्म भी नहीं हो पाया था कि उसने सुना– ''री मूर्ख, तू पत्थर-की पत्थर ही रही।''
ष्य तुझे पूजने नहीं आता यहाँ, वह तो अपने भीतर के सत्य को पूजने आता है। निकट के सत्य को
दूर जा कर पूजने की उसकी पुरानी आदत है। वल्लत्तोळ का यह कथन मननीय है।

ताला तुरन्त खुल गया

हमारे सामाजिक जीवन में रूढि के ताले कैसे खुल सकते है, इसका उदाहरण देते हुए
का कालेलकर ने लिखा है कि एक भाई लम्बे प्रवास के बाद अपने घर लौटे तो देखते हैं कि
र का ताला खुलता ही नहीं। क्या किया जाए ? नाराज़ होने से ताला थोड़े ही समझने (खुलने)
ला था, किन्तु वे नाटकीय स्वर में बोले– 'अरे कमबख्त ताले, मैंने तुझ पूरे दाम देकर खरीदा
ा। मैं तेरा मालिक हूँ। तू मेरा क्रीत दास है। मैं दो महीने बाहर क्या गया, तू मुझे भुला ही बैठा
ठहर, अब मैं तुझ पर स्नेह-प्रयोग करता हूँ। खोल तो जरा अपना मुँह।'

और उन्होंने तेल की दो-तीन बूँदे ताले मे डाल कर फिर चाबी घुमायी। ताला तुरन्त
खुल गया। घर के सब लोग, जो बाहर प्रतीक्षा मे खड़े-खड़े तग आ गये थे, प्रसन्न हो गये। और
उसी शुभ प्रसन्नता के साथ उन्होने गृह-प्रवेश किया।

वह है और ज़बर्दस्त है !

एक दफा पैगम्बर मुहम्मद अपने दो साथियो के साथ कहीं जा रहे थे। पीछे दुश्मन की बड़ी फौज आ रही थी। उनके एक साथी ने कहा– ''वह बड़ी भारी फौज है और हम तीन ही हैं तो क्या करे ?'' इस पर पैगम्बर साहब ने कहा– ''हम तीन नहीं हैं, हम चार हैं और वह चौथा जो है वह दीखता नहीं है, लेकिन वह है और ज़बर्दस्त है।''

कदली और बबूल

कदली और बबूल, फूल और शूल, पूनम और अमावस, करुणा और क्रोध की सघर्ष कथा चिरन्तन है, अनन्त है, कौन जाने कब वह चली और कब तक वह चलेगी ? इनके परस्पर घात-प्रतिघात से कोई जन-जगह खाली नहीं है। सारा इतिहास राम-रावण, करुणा क्रोध, आलोक-अन्धकार के ऊभ-चूभ की घटनाओं से भरा पड़ा है। ये परस्पर विरोधी मन स्थितियाँ मानव-मन मे एक दूसरे से सटी खड़ी हैं।

करुणा की बगल मे खड़ा है क्रोध और कनखियो से बड़ी तीखी नज़र से बदल रहा अपने पैतरे। करुणा अपनी जगह अचल है। क्रोध बनजारा है, करुणा बनजारन नहीं है, उ न कहीं जाना है, न कहीं आना है। उसे उसके मगलघट से प्यास बुझाती है, वह उस तक आ और उस अमृत को जी चाहे उतना पिये। इस मगलघर की रस-धार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है

मन मे जहाँ एक ओर करुणा की अमराई खड़ी है, वहीं दूसरी और बबूल का बियावा जगल धमक रहा हे। कदली की स्निग्ध-वर्ण दर्पण-सी निर्मल काया और सेम्सो शूल उगा बबूल की देह, दोनो आमने-सामने प्रतिक्षण उपस्थित है। आकिचन्य और अहकार मार्द और कर्कशता इस मन मे साथ-साथ करवट ले रहे है। प्राय शूल ने फूल की पाँखुरी को बींध है, पर फूल ने हर बार शूल की नोक को सुगन्धित किया है। क्रोध ने करुणा पर प्रहार किया है किन्तु करूणा ने क्रोध को समता की रस-धारा से हर बार नहलाया है, इसीलिए कदली छि पात है, खिन्न-गात नहीं है। उसके पत्ते फट-फूट कर भी मुस्करा रहे है। सन्त असन्त के भ से सन्तत्व कभी नहीं छोड़ते। करुणा की अपनी शक्ति है, अपराजेय, कभी न हारनेवाल लोकमगला करुणा पानी की धार-सी अकाट्य है। इसीलिए कदली को करुणा के सर्वोत्त प्रतीक के रूप मे चुना गया है। कदली वाले केले का वृक्ष सघर्ष मे भी प्रसन्नता से झूमता थिरकता रहता है।

संवेदना के ये प्रसंग

(जो बने रह सकते हैं, जीवनभर का संग)
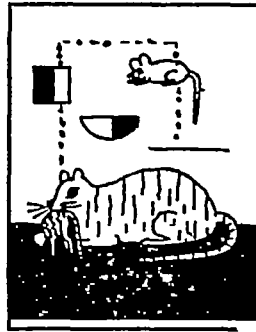
ये जीवन-प्रसंग अपूर्व है, प्रभावक है, बहुआयामी है और जीवन में अभिनव मोड़ लाने वाले हैं । ये सरल, सुबोध और तलस्पर्शी भी हैं।

- डॉ नेमीचन्द जैन

६७, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२ ००१ (म प्र)

अहिंसा को भी चाहिये एक कंदील

एक महान् दार्शनिक हुआ है- बायस। बायस के बारे मे मशहूर है कि वह दिन के उजाले मे कदील थामे नगर-नगर/गॉव-गॉव, एक-एक विद्यालय-महाविद्यालय तक जाता था। एक इतना विख्यात दार्शनिक दिन मे कदील थामे, चिमनी लिये गाँव-गाँव, गली-गली घूमे तो लोगो को लगता कि वह पागल हो गया है। भला कोई दिन की रोशनी में कदील ले कर चलता है ? जब लोग कारण पूछते तब वह कहता- 'मै एक शिष्य की तलाश मे हूँ।' इस पर लोगों का जवाब होता- 'यदि आप शिष्य की तलाश मे हैं तो हम शिष्य बनने को तैयार हैं बर्शते आप अपना ज्ञान, अपनी सबोधि, अपने जीवन का रहस्य हमे प्रदान करे'। बायस झल्ला उठते, कहते-'तुम शिष्य नहीं हो, शैतान हो। तुममे-से कोई भी शिष्यत्व के योग्य नहीं है। तुम औधे घड़े हो। मुझे तो ऐसा व्यक्ति चाहिये जो खुद को मिटा सके। तुम सब अहकार और अक़्ल के पुतले हो।'

लोग बायस का मज़ाक उड़ाते- 'वाह, क्या खूब, स्वय पात्र की तलाश कर रहे हैं हाथ मे कदील टॉगे। क्या दिन के उजाले मे आप कुछ भी देख नहीं पा रहे हैं ? इतना बड़ा सूरज चमक रहा है, कंदील तो उसके सामने कुछ भी नहीं है।' बायस की प्रतिक्रिया होती- 'जिस पात्र को सूरज की रोशनी मे नहीं ढूँढ़ा जा सकता, उसे दीये की रोशनी मे ढूंढा जा सकता है। यह कोई सामान्य कदील नहीं है। यह वह कंदील है, जिसकी रोशनी मे मुझे शिष्य की खोज़ करनी है। जिसने यह पूछ लिया कि दिन के उजाले मे कदील क्यो जलाया, उसने तो इम्तहान के पहले चरण मे ही खुद को अयोग्य घोषित कर दिया।'

क्रम : १ यह मर्मस्पर्शी दृश्य, २ रामी देवी एक स्तन पर मृग-छौना, दूसरे पर मानव-शिशु !, ३ कुतिया ने पिलाया दूध गाय के बछड़े को !, ४ राबिया के चारो ओर पशु-पक्षी, ५ मैं अभी उस बस्ती मे जाऊँगी, ६ 'अण्डे का नहीं, दूध का दिमाग', ७ राष्ट्रपति लिकन और कुत्ता, ८ प नेहरू कुत्ते का पिल्ला, गिलहरी, ९ पशुओ के नाम जायदाद, १० मिलाने का सुख, ११ आदमी ऐसा नहीं करता, १२ दलाई लामा शाकाहारी क्यो, १३ सबकुछ स्वदेशी १००% शाकाहारी, १४ और वे पसीज गये !, १५ 'मेरा पेट कब्रिस्तान नहीं है', १६ 'नहीं लूँगा वह खूनी इजेक्शन' १७ दृढ़ निश्चय से सब सभव, १८ माँसाहार और जार्ज बर्नार्ड शा, १९ 'शाक़ाहार और मैं', २० लिडा का बाहुबल, २१ शाकाहार वह २५५ वर्ष जिया, २२ पशुओ से हमदर्दी/उनका सम्मान, २३ तन्दुरुस्ती का राज, २४ क्रूरता बर्बरता करुणा।

संवेदना के ये प्रेरक प्रसंग (जो बने रह सकते है, जीवनभर का सग) **डॉ. नेमीचन्द जैन** ; सपादन **प्रेमचन्द जैन**; © **हीरा भैया प्रकाशन** ; प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१ (म प्र.)**, टाइप सेटिंग एव मुद्रण **रीगल इण्डस्ट्रीज, राजमोहल्ला, इन्दौर-४५२ ००२**, प्रथम सस्करण **१५ अक्टूबर, १९९७ (पिताजी की २७ वीं पुण्यतिथि)** ; मूल्य चार रुपये।

यह मर्मस्पर्शी दृश्य !

१३ अप्रैल, १९९२ , मगलवार, गुजरात आणद तालुका सारसा ग्राम, मगन भाई चतुर भाई पटेल का गन्नो का खेत।

एक सियारनी ने छह बच्चों को जन्म दिया और वह अकस्मात् मर गयी।

छह बच्चो में-से एक बगैर दूध के तड़प कर मर गया, पाँच बचे।

महाराष्ट्र के धूलिया जिले के सोनगिरी ग्राम की मजदूर महिलाओं ने यह मर्मस्पर्शी दृश्य देखा और वे सिर-से पैर तक दया-ममता मे डूब गयीं।

उन मजदूर-यशोदाओ ने सियार-कृष्णों को अपनी छाती से लगा लिया।

५ बहिनें ५ सियार-बच्चे ५ उनके स्वय के बच्चे, साथ-साथ दूध पीने लगे, एक स्तन पर सियार-शिशु, दूसरे पर नर-शिशु।

कलीबेन, सुन्दरबेन, धुपाबेन, कमलाबेन और लीलाबेन ले मानवता का मस्तक उस समय हिमालय से भी ऊँचा कर दिया।

रामीदेवी एक स्तन पर मृग-छौना; दूसरे पर मानव-शिशु !

यह एक सच्ची घटना है, जो १० मई १९७८ को हिसार जिले के नादारी गाँव में हुई। एक युवा किसान की पत्नी रामीदेवी खेतों में काम कर रही थी, जहाँ उसने एक शिकारी दल को हिरन का पीछा करते देखा। हिरनों-का-दल उनकी बन्दूको की मार से दूर निकल चुका था, पर एक गर्भवती हिरनी लड़खड़ाती हुई-सी पीछे रह गयी थी। शिकारी उसके पीछे हो चला। हिरनी झाड़ियों के पीछे जा कर बैठ गयी और एक शावक को जन्म देने के बाद पीछा करने वाले शिकारियों का ध्यान शावक से हटाने के लिए वह एक दूसरी ही दिशा में भाग गयी।

रामीदेवी ने नवजात मृग-शावक को उठाया और उसे अपने साथ अपने घर ले आयी। उसने गर्म दूध देने का प्रयास किया, जिसे मृग-शावक ने नहीं पिया। गाय और भैंसों के थन उसके छोटे से मुख के लिए बहुत बड़े थे। मृग-शावक कमज़ोर पड़ने लगा तो रामीदेवी ने, जिसकी अपनी गोद में भी छह माह का शिशु था, मृग-छौने को अपने स्तनो से दूध पिलाया। मृग-शावक ने बड़े चाव से उसके स्तनों से दूध पिया और इस तरह वह मरने से बच गया। कई रातों तक रामीदेवी ने मृग-शावक को अपने साथ बिस्तर पर सुलाया, एक तरफ बेटे को और दूसरी तरफ मृग-शावक को लिटाया और दोनो को ही एक-एक स्तन से दूध दिया। वह तब तक ऐसा करती रही, जब तक कि उसके पति इस दत्तक बच्चे का पोषण करने के लिए एक बकरी नहीं ले आये। जब छौना बड़ा हो गया तब उसे हिसार चिड़िया-घर को दे दिया गया।

पशु -प्रेम के ऐसे उदाहरणो से रामीदेवी के इलाके के लोग नावाकिफ नहीं है। रामीदेवी विश्नोई है और विश्नोइयों ने पशुओ और वृक्षों की रक्षा को अपनी आस्था का अनिवार्य अग बना लिया है। हरियाणा, राजस्थान और उत्तरप्रदेश मे कई विश्नोई गाँव हैं, जहाँ श्याम वर्ण के मृगों को गॉवो की गलियाो मे खुलेआम फिरते देखा जा सकता है, क्योकि कोई भी आदमी कभी उन्हे सताता नहीं है।

कुतिया ने पिलाया दूध गाय के बछड़े को !

कभी-कभी प्रकृति अपने ही नियम तोड़ कर लोगो को आश्चर्य में डाल देती है। यह घटना अप्रैल, १६६० की है। जिला ठाणे (महाराष्ट्र) के दिवागॉव के लोगो के आश्चर्य की तब कोई सीमा न रही, जब उन्होने गाय के एक बछड़े को एक नि सतान कुतिया का दूध पीते देखा।

दिवागाँव के निवासी मधुकर म्हात्रे के पास रानी नाम की एक कुतिया है। उसने तीन बार बच्चे जने, लेकिन एक भी जीवित नहीं बचा। हाल ही मे म्हात्रे की गाय ने एक बछड़ा जना। इसी दरम्यान कुतिया को भी बच्चे हुए। लेकिन वे भी जीवित नहीं बचे। कुतिया को इससे दु ख तो हुआ, लेकिन फिर उसने गाय के बछड़े को ही अपना बच्चा मान लिया और उसे ही दूध पिलाने लगी। अब हाल यह है कि यह बछड़ा आठ महीने का हो गया है। क़द-काठी मे वह कुतिया से बहुत बड़ा भी है, लेकिन कुतिया उसे आज भी करवटे बदल-बदल कर दूध पिलाया करती है। बताते है, जब बछड़ा लगभग एक महीने का था, कुतिया उसके साथ ही दौड़ा करती थी और जहॉ वह रुकता, कुतिया वहीं लेट कर उसे दूध पिलाने लगती। अगर नटखट बच्चे पत्थर फेक कर दूध पिलाने मे बाधा डालते, तो वह उन्हे काटने दौड़ पड़ती।

कुतिया को जब रोटियॉ खाने को दी जाती हैं, तब वह उन्हे ले कर पहले बछड़े के पास जाती है। अगर बछड़ा खाता है, तो पहले उसे खिलाती है, उसना खुद खा लेती है। कुतिया के मालिक म्हात्रे का कहना है कि इन दिनों इसे भारी सख्या मे लोग देखने आते है। कई लोगो ने दोनो को खरीदने की इच्छा प्रकट की, लेकिन म्हात्रे ने इकार कर दिया।

राबिया के चारो ओर पशु-पक्षी

सूफी सन्त राविया थी। वह रोती थी और हँसती भी थी। दोनों कार्य साथ-साथ चलते थे। लोग कहते थे,बड़ी अजीव वात है। आदमी हँसता है, तो रोता नहीं। रोता है तो हँसता नहीं। राविया हँसना रोना दोनों साथ-साथ करती थी। किसी ने राबिया से पूछा- दोनो एक साथ क्या ? उसने उत्तर दिया- 'विश्व कितना महान् और'आश्चर्यजनक है, उसे देखती हूँ तो हँसती हूँ। तुम लोगो को देखती हूँ तो रोती हूँ कि विश्व इतना सुन्दर, रहस्यमय स्पष्ट दिखायी दे रहा है, फिर भी तुम नहीं देख रहे हो। जो वात इतनी स्पष्ट है, तुम लोग अन्धे होकर उसे नहीं देख रहे, तो मुझे रोना आ जाता है।

राबिया पूर्ण शाकाहारी थी। वह मनुष्यों की तरह पशु-पक्षियो को भी प्यार करती थी, इसलिए पशु-पक्षी भी उसे प्यार करते थे। वह जगल मे जा कर बैठती थी तो जानवर उसके चारों ओर इकट्ठा हो जाते थे, कुछ तो उसके बदन पर भी बैठ जाते थे।

एक बार राबिया से मिलने एक सन्त आये। उन्होंने देखा कि राबिया के चारो ओर पशु-पक्षी हैं। उन्हे आश्चर्य-मिश्रित आनद हुआ। वे जैसे ही राबिया के नज़दीक पहुँचे, तो सारे पशु-पक्षी उड़ कर भाग गये। उन्होंने दुखी हो कर इसका कारण राबिया से पूछा। सन्त से राबिया ने पूछा कि क्या आप मॉस खाते हैं ? उनके 'हाँ' कहते ही राबिया बोली- 'इसीलिए ऐसा हुआ। जो मॉस खाता है, वह प्यार नहीं कर सकता। जिन पशु-पक्षियो को आप मार कर खाते हैं, वे भला आपको प्यार कैसे कर सकते हैं ! इसीलिए वे डर कर भाग गये।'

'मैं अभी उस बस्ती में जाऊँगी'

मदर टेरेसा का पहला काम था, शिक्षा का प्रसार, इसीलिए शुरू में ही एक स्कूल खोला। मिशनरीज़ आफ चैरिटी की सिस्टरों में सामान्यत कोई अकेली बाहर न निकलतीं। किसी भी काम पर हमेशा दो साथ हो कर निकलतीं। जब माँ के पास न कोई सिस्टर होती, न कोई साथी, उस समय माइकेल गोमेज़ की लड़की या और कोई आत्मीय स्त्री माँ के साथ होती। सवेरे आठ बजे निकलतीं और बारह बजे लौटतीं। किसी-किसी दिन एक बज जाता। एक दिन माँ को लौटने मे ज्यादा देर हो गयी। गोमेज़ की पत्नी बहुत चिन्तित हो गयी। जब माँ लौटीं तो सारा शरीर भींग गया था। अपनी बात न सोच कर बोलीं, ''बेचारी लड़कियाँ भींग गयी हैं''। गोमेज़ की पत्नी द्वारा माँ की बात उठते ही माँ बोलीं, ''बस्ती में जो दृश्य देख कर आयी हूँ उसकी तुलना में यह कुछ नहीं हैं''। बस्ती की एक टूटी कोठरी मे एक महिला कधे पर लड़के को लिये खड़ी थी। लड़के को बुखार हो रहा था। महिला घुटनों तक पानी में खड़ी थी । लड़के को बचाने के लिए सिर पर एनामेल का एक बर्तन हाथ मे लिये खड़ी थी। दो महीनों का किराये का रुपया बाकी हो जाने पर महिला को इस दुर्गति का सामना करना पड़ा था। और दो महीने का किराया आठ रुपये बाकी पड़ जाने के कारण भीषण वर्षा में मकान-मालिक ने अपने आदमियो को ले छ्त तोड़ कर महिला को भगा दिया। लड़के को उस समय १०४ डिग्री ज्वर था। माँ ख़बर पा कर परेशान हो गयीं। वे बोलीं, ''मैं अभी उस बस्ती में जाऊँगी। आठ रुपयों के लिए एक बच्चा पानी में भींग कर मर जाएगा ?'' महिला का मामूली-सा सामान वर्षा के पानी में डूब रहा था।

'अण्डे का नहीं, दूध का दिमाग'

यह महात्मा गाँधी के जीवन-काल की बात है। काग्रेस की एक मीटिंग में, सत्याग्रह आन्दोलन सबन्धी एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पर विचार होनेवाला था, किन्तु जिस रिपोर्ट या पुस्तिका के आधार पर प्रस्ताव लिखा जाने वाला था, वह कागज़ों और फाइलो के ढेर में कहीं खो गयी थी। गाँधीजी ने राजेन्द्रबाबू से पूछा- 'आपने तो रिपोर्ट पढ़ ली थी न, कुछ याद है ?' राजेन्द्रबाबू ने कहा- 'हाँ, मैंने रिपोर्ट पढ़ ली है, उसे लिखवा सकता हूँ'।

सभी नेतागण आश्चर्य-चकित थे । इधर-उधर रिपोर्ट खोजी जाने लगी। राजेन्द्रबाबू उसे बोल कर लिखवाने लगे। जब लगभग डेढ सौ पन्ने राजेन्द्रबाबू लिखवा चुके थे, तब तक रिपोर्ट की मूल प्रति भी मिल गयी। सभी नेतागण उसे मिलाने लगे। मूल प्रति से वह शब्दश मिल रहा था।

नेहरूजी ने व्यग्य मे राजेन्द्रबाबू से कहा— 'राजेन्द्रबाबू, कमाल का दिमाग है आपका। यह आपको कहाँ मिला ?'

राजेन्द्रबाबू ने सभी नेताओ के ठहाको के बीच कहा— 'यह अण्डे का नहीं, दूध का दिमाग है'।

राष्ट्रपति लिंकन और वह कुत्ता

एक गॉव मे महामारी फैल गयी थी। गॉव के सभी पुरुष और बच्चे गॉव को छोड़ कर किसी दूसरी जगह को पलायन कर रहे थे। रास्ते मे एक नदी पड़ती थी। भयकर सर्दी के कारण नदी का पानी जम कर बर्फ की सिल्ली बन गया था। गॉव के लोगो ने किसी तरह नदी को पार कर लिया, परन्तु एक कुत्ता जो उनके साथ जा रहा था नदी पार नहीं कर सका। नदी-किनारे वह अकेला खड़ा रो रहा था।

गॉववालो में-से एक आदमी का दिल दया से भर गया, वह कठिनाई से बर्फ पर-से चल कर कुत्ते के पास पहुँचा और उसने उसे अपने कधे पर उठा लिया और गॉव के काफिले के साथ मिल गया। यह आदमी अब्राहिम लिकन था, जो आगे चल कर अमेरिका का राष्ट्रपति बना और जिसने गुलामो को आज़ाद किया।

पं. नेहरू : कुत्ते का पिल्ला; गिलहरी

जब प जवाहरलाल नेहरू जेल मे थे तब वे एक कुतिया को खाना खिलाया करते थे,उसने बच्चे दे दिये थे। उनमे-से तीन बचे, उन्हे भी पण्डितजी ने आहार देना शुरू कर दिया। उनमे-से एक बीमार पड़ गया। पण्डितजी को उसकी सेवामे बड़ी परेशानी हुई। उन्होने लिखा है– ''मैने सावधानी से उसकी सेवा शुरू की। कभी-कभी तो मुझे रात एक दर्जन बार उठना पड़ता था, अन्त मे वह बच गया और मुझे खुशी हुई कि मेरी सेवा सफल हो गयी।''

जेल मे एक गिलहरी के बच्चे को पण्डितजी ने फाउण्टेन पेन की ट्यूब द्वारा आहार देना शुरू किया। वे लिखते है- ''मैं जेल मे उसका सग मिल जाने के लिए अपने-आपको कृतज्ञ अनुभव करता था।''

पशुओं के नाम जायदाद

श्रीमती ह्वाइट फिलाडेल्फिया (अमेरिका) मे पैदा हुई थीं। उनके पिता ने गुलामी की रस्म के खिलाफ आवाज़ उठायी थी। बचपन मे उनका हृदय पशुओ के प्रति हमदर्दी महसूस

करता था। उन्होंने पूरी ज़िन्दगी उनकी सेवा में गुजार दी। विज्ञान के नाम पर पशु-पक्षियों की चीर-फाड़ के विरुद्ध उन्होंने आजीवन सघर्ष किया। अख़बारों में लेख लिखे, कई किताबें छापीं। मरते समय अपनी जायदाद अपने बेटे को नहीं दी, अपितु ढाई लाख डॉलर पशुओं की सेवा के लिए समर्पित कर दिये।

मिलाने का सुख

तुगलकाबाद (दिल्ली) के किले में, जो प्राय बिल्कुल उजाड़ है, लगभग पाँच सौ बन्दरों का समूह रहता है। राज्यसभा के सदस्य श्री सतपाल मलिक की धर्मपत्नी श्रीमती इक़बाल मलिक बन्दरो के विषय में अनुसधान कर रही थीं। एक दिन बन्दर पकड़ने वाले वहाँ आये और कितने ही बन्दरों को पकड़ कर ले गये। इन बन्दरों में एक बच्चे की माँ भी थी। श्रीमती मलिक ने देखा कि बन्दर का वह छोटा बच्चा अपनी माँ की जुदाई से चीखें मार-मार कर रो रहा है।

श्रीमती मलिक उस बन्दरिया के बच्चे को ले कर कार में चाँदनी चौक आयीं, जहाँ म्युनिसिपल कमेटी का दफ्तर है और जहाँ बन्दरो को पकड़ कर लाया गया था। चौकीदारों की सहायता से उन्होने उस बच्चे की माँ को ढूँढ लिया। माँ और बच्चा दोनो मिल कर खुशी में झूम उठे। श्रीमती मलिक उन्हें तुगलकाबाद किले में छोड़ आयीं। इस सारे सग्राम में उन्हें काफी रात हो गयी। माँ और बच्चे के इस अपूर्व मिलाप से उन्होंने बड़ी प्रसन्नता का अनुभव किया।

आदमी ऐसा नहीं करता

एक आदमी गोरैया के लिए प्रतिदिन डबल रोटी के टुकड़े डालता था। उसने देखा कि एक गोरैया लँगड़ी होने के कारण ठीक से फुदक नहीं पाती थी, लेकिन उसे यह देख कर बड़ा विस्मय हुआ कि दूसरी सब गोरैया उस लँगड़ी गोरैया के टुकड़े के आस-पास के टुकड़ो को नहीं छूती थीं ताकि वह निर्विघ्न रूप से अपना पेट भर सके।

दलाईलामा शकाहारी क्यों/कैसे बने ?

जिनके कारण दलाईलामा के भोजन की आदत मे परिवर्तन आया, उन सहायक तथ्यों मे आश्चर्यजनक या दर्शनीय कुछ भी नहीं था। घटनाएँ अवश्य महत्त्वपूर्ण थीं, जिनका सयोगवश उन्हें दर्शक होना पड़ा था। उन्होंने लिखा है सन् १९६५ के भारत-पाक युद्ध के समय मैंने बसन्त ऋतु का अधिकाश समय भारत के दक्षिण राज्यों मे बिताया। मोटर से शहरी-कस्बाई क्षेत्रों की यात्रा के बीच भागते हुए मुर्गों, बिल्लियो और कुत्तों को देखना सामान्य बात थी। इतनी शक्ति-भर भागते हुए जैसे कि वे मृत्यु के भय से शकित हों। इसे कोई नहीं नकारेगा कि 'मृत्यु एक पीड़ा है'।

इन दृश्यों से उत्पन्न भावना एक प्रकार से दया और मानसिक यातना की होती थी।

और फिर केरल मे अपने पड़ाव के समय सयोग से मुझे किसी के भोजन के शिष्टाचार के लिए मुर्गे की हत्या होते भी देखना पड़ा।

निर्दोष मुर्गे द्वारा अनुभूत भयकर भय, पीड़ा और अत्याचार को महसूस करना भी भयकर रूप मे कठिन था। जीवन सभी को प्रिय होता है। उस गरीब और असहाय पक्षी ने कैसा भय और सताप सहा, जब उसका जीवन नष्ट किया जा रहा था, मैं यह सब सोच कर ही कॉंप जाता हूॅ। उसी क्षण मैने किसी का जीवन-न-लेने की नैतिक महत्ता की सपूर्ण क्षमता को कठोर वास्तविकता और सर्वांगीण गम्भीरता के साथ महसूस किया। मै मार-दिये-गये मुर्गे के प्रति करुणा और दया से व्याकुल था - दूसरी बात जिसके कारण मैं मॉंस-भोजन से दूर हुआ, इस तथ्य की जानकारी से कि जहॉ-जहॉ भी हम जाते हैं, उस स्थान-विशेष के मेजवान विशेष रूप से मेरे दल के सदस्यो के भोजन के लिए ही मुर्गो और भेड़ो का वध करते हैं। नि सन्देह यह मेरे सन्तोष के लिए शुभेच्छा से ही किया जाता था, मगर मैं मुर्गा खाना सहन नहीं कर सका जिसे विशेष रूप से मेरे ही लिए वध किया गया था। इन्हीं सब कारणों ने मुझे सभी प्रकार का मॉस-निषेध कर वनस्पति खाद्य को अपने भोजन का एकमात्र अथवा मुख्य भाग बनाने का निश्चय करने को निर्देशित किया।

सबकुछ स्वदेशी : १००% शाकाहारी

ए जी जे अब्दुल कलाम स्वदेशी पर जान देने वाले प्रक्षेपणास्त्र-शिल्पी हैं। वे प्रक्षेपणाशास्त्र-कार्यक्रम के डिज़ाइनर और कार्यक्रम निदेशक है। 'अग्नि' का नाम आपने अवश्य सुना होगा, स्वदेशी तकनीक पर विकसित इस अस्त्र के कुशल शिल्पी है श्री कलाम। वे कभी निराश नहीं होते, हारते भी नहीं है। वे किसी भी पराजय को भावी सफलता की कुॅजी मानते हैं।

श्री कलाम कॅवारे है। वे वीणा-वादक है। वे तनिक कवि भी है। वे बॅगले मे रह सकते है, किन्तु सिर्फ एक ही कमरे मे गुजारा करते है। वे स्वभाव के विनोदी है। साथियो के प्रति प्रीति-पगे और वफादार। उनमे नेतृत्व की अपूर्व क्षमता है।

पूरा नाम है– अब्दुल जाकिर जलालुद्दीन अब्दुल कलाम। वे विदेश मे नहीं पढ़े। वे ऐड़ी-से-चोटी तक स्वदेशी है और स्वदेशी साधनो तथा प्रतिभा मे विश्वास रखते है। उनकी दृष्टि नख-शिख स्वदेशी है। लिबास, आदते, सब स्वदेशी।

विक्रम साराभाई अन्तरिक्ष केन्द्र मे उनके साथ रहे डॉ वसन्त गवाटीकर उन्हे 'कलाम एक्ट' कहते है। वे शराब नहीं छूते, धूम्रपान नहीं करते। वे शत-प्रतिशत शाकाहारी है।

वे सकोमल है, मानवीय है। अधिक मशक्कत नहीं कर सकते, किन्तु गुणवान और परिपूर्णता मे विश्वास रखते है। उनके साथी कहते है कि उनकी सफलता का राज ही यह है।

और वे पसीज गये !

उर्दू के मशहूर शायर उस्ताद ज़ौक (शेख महम्मद इब्राहिम, ज दिल्ली-१७८६, मृ
ी-१८५४) के जीवन की एक दिल को छू लेने वाली घटना है। ज़ौक एक नेकदिल इन्सान
बड़े दयालु और मानवीय थे। एक दफा उन्होने अपने दोस्तो से मिल कर एक कामोद्दीपक
तैयार करने का निश्चय किया तदनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निर्धारित सामग्री जुटानी
ौक़ के हिस्से मे कुछ चिड़ियो के भेजे लाना था, अत उन्होने एक जाल लगाया और
ाँ फाँसी, किन्तु उनका उड़ना-फुदकना देख वे पसीज गये और जाल खोल दिया। जब
ने चिड़ियो की मॉग की तो उन्होने उनसे माफी माँग ली और कहा कि वे ऐसे क्रूर अनुबन्ध
त होना चाहते हैं।

यह उदाहरण है एक ऐसे व्यक्ति का जो मुसलमान होते हुए भी, मानवीय भावनाओं की
र सका और जिसने जीव-मात्र के प्रति करुणा का परिपालन किया। उनका एक प्रसिद्ध
लाई हयाद आये, क़ज़ा ले चली चले। अपनी खुशी न आये, न अपनी खुशी चले।

'मेरा पेट कब्रिस्तान नहीं है'

महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती उन दिनो लन्दन-प्रवास पर थे। उनके प्रवचनों मे
प्रसिद्ध समाचार-पत्र 'डेली टेलीग्राफ' के सम्पादक भी आते थे। स्वामीजी के स्वस्थ
से आकृष्ट हो कर एक दिन उन्होंने स्वामीजी से पूछा- 'आपकी अवस्था कितनी है,
न् ?'

स्वामीजी ने उलट कर पूछ लिया – 'आपके अनुमान से कितनी होनी चाहिये ?'

सपादक- 'अधिक-से-अधिक पैंसठ वर्ष'।

स्वामीजी ने कहा – 'मेरे बड़े लड़के की उम्र इस समय ६१ वर्ष है और मेरी ८५ वर्ष'।

सपादक- 'आश्चर्य, आप भोजन क्या करते हैं ? कौन-सी ब्रॉंडी, कौन-सा मॉंस खाते हैं'?

स्वमीजी बोले – 'मॉंस-मदिरा तो मेरे दादा-दादी, माँ-बाप भी नहीं खाते-पीते थे। मैं
ससे बहुत दूर हूँ, क्योंकि मेरा पेट कब्रिस्तान नहीं है। हाँ, भोजन में दाल, सब्जी, और
जरूर लेता हूँ'।

'नहीं लूँगा यह खूनी इजेक्शन'

गाँधी-विचार के प्रखर विचारक एव लेखक श्री किशोरीलाल मशरूवाला चालीस वर्षो
मा से पीड़ित होने के बावजूद लेखन और सपादन मे निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहते थे।

७ सितम्बर, १९५२ की रात्रि मे उन्हे दमा का भयकर दौरा पड़ा। उन्हे साँस लेने में बहुत तकलीफ होने लगी। दूसरे दिन अपरान्ह एक बजे दौरे ने भयानक रूप ग्रहण कर लिया। डॉक्टर को बुलाया गया। उन्होने एक इजेक्शन देना चाहा। श्री मशरूवाला ने पूछा कि वह इजेक्शन पशुओ के रक्त से तो नहीं बनाया गया है ? डॉक्टर ने कहा 'यह पशुओं के रक्त से ही बना हुआ है'। श्री मशरूलाल को सॉस लेने मे काफी तकलीफ हो रही थी, वे तो 'बिन पानी मछली' की तरह तड़फ रहे थे, किन्तु उन्होने इंजेक्शन लेने से इकार कर दिया और बोले ''इस नश्वर शरीर को तो आखिर एक दिन जाना ही है''। उसी दिन शाम को उनका देहावसान हो गया।

दृढ निश्चय से सब संभव

एक महात्मा जनसमूह के सम्मुख नशीली वस्तुओं के विरुद्ध बोल रहे थे। जब वे अपना प्रवचन समाप्त कर चुके तब एक व्यक्ति उनके पास आ कर बोला– 'महात्मन्, मैं शराब पीता हूँ, और वास्तव मे अनुभव करता हूँ कि शराब अच्छी चीज नहीं है। इसे छोड़ना भी चाहता हूँ, पर छूटती नहीं। क्या आप मुझे इसे छोड़ने का उपाय बताने का कष्ट करेगे ?'

'अवश्य' - महात्माजी ने कहा और उसे सायकाल अपने आश्रम में बुलाया। वह व्यक्ति नियत समय पर महात्माजी के पास पहुँचा। महात्माजी उसे आता देख एक खम्भे को पकड़ कर खड़े हो गये। आखिर उस व्यक्ति ने निवेदन किया– 'महात्माजी, आपने मुझे बुलाया था कि आप मुझे कोई उपाय बतायेगे, जिससे मैं शराब छोड़ सकूँगा।'

महात्माजी बोले– 'ठीक है, पर मुझे खम्भे ने पकड़ रखा है। यह छोड़े तो मैं तुम्हें को उपाय बताऊँ और खम्भा मुझे छोड़ता नहीं है।'

वह व्यक्ति बोला– 'असभव, स्वामीजी ! यह खम्भा आपको कैसे पकड़ सकता है ?

महात्माजी मुस्करा कर बोले– 'भाई, जिस तरह यह खम्भा मुझे पकड़ नहीं सकता, उस तरह कोई भी नशा व्यक्ति को नहीं पकड़ सकता। असल मे, हम बुराई से चिपके रहते हैं, और शोर मचाते हैं कि बुराई ने हमे पकड़ रखा है। यह सच नहीं है । दृढ सकल्प से सब कुछ हो सकता है।

व्यक्ति महात्माजी के चरणो पर गिर पड़ा और बोला– 'प्रभो, मैं कितने अन्धकार में था। मैं अब शराब कभी भी नहीं छुऊँगा।'

माँसाहार और जॉर्ज बर्नार्ड शा

विश्व-प्रसिद्ध साहित्यकार जॉर्ज बर्नार्ड शा निरामिष भोजी थे। एक दिन उनके मित्र ने उन्हे समझाया- 'शरीर को पुष्ट करने के लिए मॉस खाना अत्यन्त आवश्यक है'। शा ने कहा- 'अभी तक शरीर मे जितनी पुष्टता है उसका क्या सदुपयोग होता है ? मॉस खाने से मनुष्य मे क्रूर मनुष्य आपसी लड़ाई-झगड़ो के सिवा और क्या कर सकता है ?' मित्र ने कहा- 'देश की रक्षा के लिए तो विशेष शक्ति आवश्यक ही है'। शा ने उत्तर दिया- 'शरीर की शक्ति अन्न और फलो से भी बढ़ती है। निज-पर-हित मे जितनी आत्मशक्ति की नहीं। फिर क्रूर सिंह किसके

काम आता है ? जबकि निरामिष-भोजी हाथी, गाय, घोड़ा, बैल आदि कितने उपयोगी प्राणी है। इसी प्रकार क्रूर मानव की शक्ति का उपयोग भी नहीं हो सकता। वह तो दुरुपयोग ही करेगा।' मित्र ने शा की बात मान ली।

'शाकाहार और मैं'

इन वर्षो मे मैंने (किशनसिह चौहान) प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि मैं पूर्ण शाकाहारी रह कर अन्य खिलाडियो की अपेक्षा अधिक फायदे में रहा हूँ, जबकि मेरे पुराने साथी खिलाड़ी, जो माँस-अण्डा आदि का सेवन करते थे, १०-१५ वर्ष पूर्व ही खेल का मैदान छोड़ चुके हैं, मै अखिल भारतीय डाक-तार/दूरसचार विभाग में एकमात्र वरिष्ठ खिलाड़ी हूँ जो कि लगातार गत २६ सालों से खेलों मे भाग ही नहीं ले रहा है वरन् २० किलोमीटर तेज चाल प्रतियोगिता में ६३ वर्ष की उम्र मे युवा खिलाड़ियों को पराजित कर स्वर्ण पदक भी प्राप्त कर रहा है। वर्ष १९८५ से मैंने प्रादेशिक एव राष्ट्रीय स्तर की तमाम वेटरन ऐथलेटिक प्रतियोगिताओ में तेज चाल में सिर्फ स्वर्ण ही नहीं अपितु नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं।

लिंडा का बाहुबल

लिंडा मेककार्टनी के पास सबकुछ है। उनका अपना सुखी निरामिष परिवार है, पाँच करोड़ डॉलर का शाकाहारी भोजन-व्यवसाय है, पाकशास्त्र पर लिखित दो लोकप्रिय पुस्तके, और इतना पैसा है कि वे दस लाख शाकाहारी थालियाँ बोसनिया भेज सकती हैं, किन्तु वे रात को चैन से सो नहीं पातीं। वे कहती हैं कि रात-भर मैं उन सब निरीह पशुओ के बारे मे सोचती रहती हूँ, जो कत्ल का इतजार कर रहे हैं।

शाकाहार वह २५५ वर्ष जिया

'नॉर्थ चाइना हैरल्ड' मे उत्तर चीन के शागचुआन ग्राम के निवासी वानशियसन जिच नामक वृद्ध के बारे मे अनेक विश्वस्त प्रमाणो का सग्रह प्रकाशित हुआ हैं, जिसमें सिद्ध किया गया है कि वह दो सौ पचपन वर्ष जिया। उसका भोजन पूर्ण शाकाहारी था और वह दिन में दो बार ही जो कुछ खाना होता खाता था।

पजाब की नयी राजधानी चण्डीगढ के वार्ड नम्बर ३ के निवासी भी प्रभुदयाल की वय २०० वर्ष के आसपास है। जहाँ मानव-शरीर दुरुपयोग के कारण असमय ही अशक्त और व्यर्थ हो जाता है, वहीं भी प्रभुदयाल दो सौ वर्ष की उम्र में भी बखूबी काम करते हैं। वे अपने उद्योग धन्धे में आज भी भलीभाँति व्यस्त रहते हैं और अवकाश के क्षणों में धार्मिक साहित्य पढ़ते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य अपने विकृत वातावरण अर्थात् रहन-सहन और आचरण पर नियन्त्रण कर ले तो उसकी वय दुगनी-तिगुनी हो सकती है। उनका मानना है कि प्रकृति ने हर आदमी को दीर्घजीवी बनने योग्य सशक्त देह और तन्दुरुस्ती को सुदृढ बनाये रखने वाला उपयुक्त मनोबल दिया है। सही दिशा मे इसका समुचित उपयोग कर आज भी कोई भी शतायु हो सकता है। आहार-विहार का सयम हमेशा मेरी जिन्दगी से छाया की तरह बँधा रहा है और मेरा आहार सदा पूर्ण शाकाहारी रहा है।

पशुओं से हमदर्दी/उनका सम्मान

अबुहरैरा (रजिअल्लाहुतआलान्हा/ईश्वर उनसे प्रसन्न रहे) का कथन है कि रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अलइहीवसल्लम/ईश्वर उनसे प्रसन्न रहे) ने एक वेश्या के विषय मे बताया है कि भीषण गर्मी के दिन उसने एक कुत्ते को देखा जो प्यास के कारण अपनी जीभ बाहर निकाले हुए कुए के पास चक्कर लगा रहा था। उस औरत ने अपना मोजा कुए मे डाल कर भिगोया और उसे निचोड़ कर कुत्ते को पानी पिला दिया। इस पुण्य से ईश्वर ने उसके सारे पाप क्षमा कर दिये। (हदीस-सहीह-मुस्लिम)

तन्दुरुस्ती का राज़

अजम के बादशाह ने एक होशियार हकीम को हजरत मुहम्मद साहब की खिदमत मे अरब भेजा। वह वहाँ कई वर्ष रहा, किन्तु एक भी मरीज उससे दवा लेने नहीं आया। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह मुहम्मद साहब के पास गया और कहने लगा- 'मुझे तो यहाँ आप लोगों के इलाज के लिए भेजा गया था, लेकिन अभी तक किसी ने मेरी तरफ ध्यान नहीं दिया, न अपनी सेवा का अवसर ही दिया'।

मुहम्मद साहब ने फरमाया- 'यहॉ का कायदा है कि लोग जब तक भूख से मजबूर नहीं हो जाते, कुछ खाते ही नहीं और जब खाने बेठते है तब भूख रहते ही खाने से हाथ खींच लेते हैं'।

हकीम बोला- 'तन्दुरुस्ती का राज़ यही है'।

वह उनके सामने जमीन चूम कर आदाब बजा लाया और चला गया।

(शेखसादी के कथन पर आधारित)

क्रूरता बर्बरता · करुणा

क्रूरता

राजकोट (गुजरात) की पॉच जनवरी उन्नीस सौ पिच्यानवे की एक खबर है कि एक क्रूर पिता ने बलि-के-नाम-पर अपने उन्नीस वर्षीय बेटे का सिर तलवार से काट डाला। घटना जामनगर से सत्तर किलोमीटर फासले-पर-बसे धुनाड़ा ग्राम की है।

दूसरी खबर ४ जनवरी १९९५ की वाशिगटन की है, जिसमे पेटा (पीपुल फॉर द ईथिकल ट्रीटमेट ऑफ एनीमल्स) के एक विज्ञापन मे कहा गया है कि हम स्त्रियॉ नग्न रह सकती है, फर (रोऑ) -निर्मित वस्त्र नहीं पहनेगी।

दोनो खबरे जीवन के दो सिरो पर खड़ी एक-दूसरे को अपलक देख रही हैं। क्रूरता और करुणा की यह कुश्ती न सिर्फ भारत या अमेरिका मे है, वरन् पूरी दुनिया मे है।

क्रूरता मनुष्य को हिसा की किसी भी हद तक ले जा सकती है। उसमे खुदगर्ज़ी मुख्य ोती है। आदमी इस कदर अन्धा हो पड़ता है कि वह यह नहीं देख पाता कि अपने क्षणिक नोरजन के लिए किन और कितने निरीह/मूक प्राणियों की जानें ले रहा है।

आज देश में कत्लखाने धड़ाधड़ खुल रहे हैं, जिनमे लाखो-लाख निरपराध पशु सूर्योदय े पहले काट डाले जाते हैं। इन क़त्लखानों मे अब बच्चे और औरते भी काम करने लगे हैं। च्चे और स्त्रियाँ विश्व के ऐसे सुकुमार अस्तित्व हैं, जिनकी बुनियाद पर यह समाज टिका आ है, किन्तु हमारे देश की बदकिस्मती यह है कि क्रूरता और हिसा मे लोग रस लेने लगे हैं और करुणा तथा कोमलता को तिलाजलि दे रहे हैं। यह अमगल है। दूसरो की जान ले कर पने लिए सुख-सुविधाएँ जुटाना सबसे नीच काम है। आज पूरी दुनिया का अर्थतत्र और यापार हिंसा की नींव पर आ खड़ा हुआ है। हम पशुओं की जाने बेझिझक ले रहे हैं अपने शौक लिए, अपने जायके के लिए बगैर यह सोचे कि हमारे इस बर्ताव से प्रकृति कितनी आहत, सतुलित और विकृत होगी।

बुराइयाँ लगातार बढ़ रही हैं। लोग क्रूरता, हिसा, हत्या और रक्तपात-जनित वस्तुएँ रहे हैं और सोचते हैं कि वे एक ऐसे समाज की रचना कर रहे हैं जिसमें सुख, शाति, समृद्धि र निर्विघ्नता होगी। क्या स्वप्न मे भी यह सभव है ? क्या क्रूरताओ के गर्भ से क्रूरताएँ जन्म हीं लेंगी ? क्या हम हिसाजनित उत्पादो से घिर कर स्वय हिसक, आक्रामक और नृशस नहीं पड़ेंगे ? क्या हम झींगे, केचुए, अण्डे, केकड़े, भेड़-बकरियॉ, गाय-बैल, भैंस-भैंसे, ऊँट, रगोश, सुअर इत्यादि अपने पेट मे डाल कर ठीक से इन्सान बने रह सकेगे ?

क्या दुनिया का कोई जीव मरना चाहता है ? क्या हम जिन्हे अपने क्षणिक स्वाद के ए मारते हैं, वे वस्तुत मरना चाहते है ? नहीं। इसीलिए जब हम इन्हे मारते हैं तब उनके रेशे-शे में क्रोध, प्रतिकार, आक्रमण आदि के दुर्भाव उत्पन्न होते हैं, जो उन लोगो के खून मे ज्यो--त्यों घुल जाते हैं, जो उन्हे खाते हैं। अच्छा मसाला डालने से क्रोध, प्रतिशोध, विवशता आदि वादिष्ट तो बन सकते हैं, किन्तु समाज में उनकी हिसक अभिव्यक्ति मे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

तय है खून या गोश्त पी या खा कर कोई करुणावान् अथवा दयालु और रहमदिल नहीं बन सकता। यह भी असदिग्ध है कि इन दिनो भारत मे हिसा, हत्या और क्रूरता की जो घटनाऍ घटित हैं, वे देश की समवेत् सवेदनशीलता को लगातार छिन्न-भिन्न कर रही हैं। हम दूसरों को तकलीफ़ पहुँचाने में आनन्द लेने लगे हैं। क़त्ल/हिसा में हम रस-विभोर होते है। यह समाज का दुर्भाग्य है। असल में जब तक हम क्रूरता-मुक्त और करुणा-सयुक्त समाज-रचना की ओर कदम नहीं उठायेंगे, देश में विकृतियाँ बढ़ती जाएँगी। इनका कोई सिरा नहीं आयेगा।

एक लेख पढ़ा था जिसका शीर्षक था- 'क्रूरता मनुष्यता की पर्याय बनती जा रही है'। हम स्पष्ट देख रहे हैं कि आज गर्भपात सामान्य हो गया है। माँसाहार को भी लगातार सामान्य बनाया जा रहा है। अण्डा-मछली के प्रति जो एक पारम्परिक झिझक थी उसे भी खत्म किया जा रहा है। दूसरे शब्दो में, हिसा/रक्तपात के लिए जो मानवीय सकोच था, वह लगभग मरणासन्न है। इस सबसे स्पष्ट है कि धीरे-धीरे हम आदमी को क्रूर, नृशस, सवेदनशून्य, कठोर, निठुर,

और बेरहम बनाते जा रहे है। लगता है कुछ ही दिनो मे धर्म, साहित्य, सस्कृति, नृत्य, सगीत, कला, शिल्प इत्यादि स्वप्नवत् हो जाएँगे।

बर्बरता

बर्बरता जगलीपन के अर्थ मे प्रयुक्त शब्द है। जब हम अन्य जीवधारियो के प्रति क्रूर/निर्दय होते है, तब बर्बर होते हैं, अथवा जब हम मानवोचित विवेक/बर्ताव को भुला क बिल्कुल असभ्य व्यवहार करते है, तब बर्बर होते हैं।

बर्बर होने के प्रमुख कारणो मे स्वार्थान्धता का नम्बर अव्वल है। जब हम अपनी सुख सुविधाओ को हासिल करने के लिए निपट अन्धे हो पड़ते हैं, किसी के हिताहित या भले-बु का ख्याल नहीं रखते, तब हम बर्बर होते हैं।

जब हम सोचने लगते हैं कि चाहे कोई मरे या जिए हमे तो अपनी वासना तृप्त कर है, हमे तो इन्द्रिय-सुख चाहिये, तब हमारी दुष्ट दृष्टि बर्बरता की श्रेणी मे आ खड़ी होती है बर्बर व्यक्ति वहाँ अपना हक जमाने की कोशिश करता है, जहाँ उसका रेशे-भर भी अधिक नहीं होता। वह दूसरो पर खुद को जबरन थोपता है, वह अपनी जेबो मे अपने तमाम हक ह कर खूब जुल्म ढाता है। उसे अन्यो को उत्पीड़ित/ताड़ित करने मे आनन्द आता है। उस अदृप्त वासना स्वस्थ तृप्ति-का-रास्ता भटक जाती है। वह हर क्षण अबुझ बनी रहती है।

खून-खराबा, अपहरण, रक्त-पात, मार-धाड़, हमले, दूसरो को तड़पाना, उसे तर तरह की यातनाएँ देना एक बर्बर व्यक्ति के सुख-लक्ष्य होते है। वह युद्ध/कलह/एक-दूसरे लड़ाने मे रस लेता है।

आज दुनिया मे छोटे-बड़े पैमाने पर दूसरो की जमीने, दौलते लूटने-हड़पने की हो लगी हुई है। हिसा ने अपना झण्डा प्राय हर जगह लहरा लिया है। आज विश्व हथियारों उत्पादन पर प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति औसतन १५० डालर खर्च कर रहा है। भारत-जैसा अहिस देश भी अब हथियारो की विश्व-मण्डी मे एक कुशल अस्त्र-विक्रेता के रूप मे उतरने की तैया मे है। अमेरिका (समृद्ध/विकसित) विश्व का सबसे बड़ा अस्त्रोत्पादक मुल्क है। हिसा व्याप्ति उत्तरोत्तर बढ रही है। एशियन मास कम्युनिकेशन रिसर्च एड इन्फार्मेशन सेटर अनुसार टीवी कार्यक्रमो मे हिसा/क्रूरता की व्यापकता निरन्तर बढ़त पर है। फिल्मो के हाला भी ऐसे ही है। जहाँ फिलीपीन्स मे हिसा की व्यापकता १०० प्रतिशत है, भारत मे वह ७ प्रतिशत है। इन वर्षों मे अपराध-वृत्ति और साक्षर राज्य केरल मे २७ ३ प्रति लाख व आत्महत्या-औसत है, जब कि राष्ट्रीर्य औसत ९ २ प्रति लाख है। केरल मे ७१५ क़त्लखा हैं। इतने कत्लखाने भारत के किसी प्रदेश मे नहीं है। निष्कर्ष है कि दुनिया मे मानवीय स्प (ह्यूमन टच) लगातार गिरावट पर है। मनुष्य का मनुष्यता से रिक्त होना बर्बरता है। इसे ह डी-ह्यूमेनाइजेशन (अ-मानवीयकरण) भी कह सकते हैं।

चीन की १६ मार्च, १९९५ की एक खबर है कि वहाँ के एक दक्षिणी प्रान्त गुआगडाग मे
स ने कई रेस्त्राँ और गेस्ट हाउसों में छापे के दौरान उल्लू, अजगर और छिपकली समेत
दुर्लभ किस्म के जीवजन्तु बरामद किये हैं। ये तमाम रसोईघरों से मिले हैं। उल्लेखनीय है
ीन में इन जीव-जन्तुओ को लज़ीज खाने में शुमार किया जाता है।

दूसरी खबर गुटूर (आन्धप्रदेश) की है कि वहाँ इन दिनों गधे-के-खून-के- लिए बोतल
टम्बलर लिये लोगो के जत्थे दिखाई देते है। लालापुरम् रोड पर गर्दभ-माँस-खून की एक
मण्डी भी खुल गयी है। होटलों में भ्रूण-मॉस की परोसकारी की खबरें भी दुर्भाग्यपूर्ण हैं।
ी में 'बारबेक्यूम रेस्त्राओ' का खुलना बर्बरता के इतिहास मे एक नये अध्याय का जुड़ना
। प्रश्न है कि क्या हम इस उत्तरोत्तर बढ़ती बर्बरता पर कोई लगाम कभी डाल पायेगे ?

करुणा

'करुणा' - अनुकम्पा, दया, सवेदना, सहनुभूति, रहम, हमदर्दी-जैसे अनुभूति-प्रचुर
का एक समूह-शब्द है। करुणा मात्र एक अनुभव अथवा अहसास नहीं है, वरन् अनेकानेक
त अनुभूतियो का हरा-भरा कुटुम्ब है।

जब हम किसी के दु ख में सिर-से-पैर तक नहा उठते हैं, हमारा रोआँ-रोआँ उसकी
में काँप जाता है, तब कहीं हमें उसकी पीड़ा की असल थाह मिलती है।

करुणावान्/रहमदिल शख्स दुनिया का सर्वोत्तम श्रृगार है। वह मुकुट-मणि है मानवता
पत्थर-दिल तो कोई भी हो सकता है, किन्तु मोम-जैसे दिल का होना सबके वश की बात
है। ख्याल रहे, करुणा एक नहीं, अनेक जन्मो की खरी कमाई होती है। यदि कोई कहे कि
की आँखो में आँसुओ की जो घनघोर घटा घुमड़ी है, वह आकस्मिक है तो उसका यह
न वास्तविक नहीं है। सही है कि आँसू करुणा की पिघली हुई अवस्था है, करुणा को इस
ह द्रवित स्थिति मे भी देखा जा सकता है, किन्तु करुणा सिर्फ आँसू नहीं है- उसकी कई
य आकृतियाँ भी हैं। यदि हम किसी की अश्रुधारा का सहारा ले कर उसके दिल में उतर पाये
पता चलेगा कि वहाँ बिन्दुश रचित उस धार मे एक महासिन्धु लहरा रहा है - ऐसा महासागर
सकी थाह पाना कठिन है।

करुणा और अहिसा सगी बहिने हैं। वे साथ-साथ उठने-बैठने वाली सहोदराएँ हैं। वे
भी बिछुड़ती नहीं हैं। हरहमेश साथ रहती हैं। उनमें परस्पर साँस-फेंफड़े-सा सबन्ध है।

सहवर्ती प्राणियो के प्रति मन मे जो आध्यात्मिक स्फूर्ति जन्मती है, करुणा उसी का
ोधन है।

दूसरों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख मानना, उनके हानि-लाभ/नफे-टोटे मे
ुद को शरीक करना, उनके प्रति सवेदना रखना, उनके कष्टों को बाँटने की आठो पहर

तैयारी रखना कुछ ऐसे उदाहरण है, जिन्हें दिन-दो दिन मे न तो जाना ही जा सकता है और न ही उन्हे अपने दैनदिन जीवन का हिस्सा बनाया जा सकता है। करुणा असल में एक स्वस्फूर्त गुण है। वस्तुत वह प्राणिमात्र का स्वभाव है। वह व्यक्ति की मौलिकता है।

जिस तरह प्यासे को जल, भूखे को रोटी, रोगी को औषधि, सतप्त को सात्वना परतन्त्र को स्वतन्त्रता, बन्धन को मुक्ति, भयभीत को अभय, क्रोध को क्षमा, असहिष्णुता व सहनशीलता, आग को पानी, क्रूरता को कोमलता की ज़रूरत होती है, ठीक वैसे ही ए व्यथित/पीड़ित को करुणा और सहानुभूति की आवश्यकता होती है।

करुणा, यथार्थत , एक ऐसी बेशकीमती दौलत है, जिसे पा कर सभवत फिर कि धन-दौलत की जरूरत नहीं है।

ईसा मसीह सलीब ढो रहे है - वह सलीब, जिस पर उन्हे लटकाया जाना है, कोई अपनी अर्थी खुद ढो कर ले जाता है ? पर इतिहास गवाह है कि यह सब हुआ। क्रूर सदैव करुणा पर हमला किया है, किन्तु सुखद यह है कि अन्तत उसे हारना पड़ा है। ई जैसे महापुरुष को लहुलुहान कर देने के बाद भी क्या मारा जा सका ? करुणा कभी मरती है। उसे मारने की जितना-जितना कोशिश होती है, वह उतना-उतना मृत्युजयी होती ज है। ईसा मे रहमदिली का दरिया लहरा रहा था। उन्होने कहा– 'प्रभो, इन्हे क्षमा क क्योकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे है'।

ठीक इसी तरह जो लोग आज लाखो-लाख पशुओ की हत्या कर रहे हैं, नहीं ज कि वे क्या कर रहे हैं, यदि, कदाचित्, वे जान पाये कि वे जो कुछ कर रहे है, वह सपूर्ण के लिए आत्मघाती है तो तय है कि वे उसमे कभी कोई हिस्सेदारी नहीं करेगे।

कत्लखाने मजबूरियाँ है। यदि कसाइयो से पूछा जाए कि क्या वे वास्तव मे पशुओं क़त्ल करना चाहते हैं तो असदिग्ध है कि उनके मुँह से 'ना' ही निकलेगा, किन्तु धन्धे विवशता, और अब एक सामाजिक लाचारी, के कारण उन्हे वैसा करना पड़ रहा है। और तो ये पक्तियाँ कि–

अब तो यह भी नहीं रहा एहसास
दर्द होता है या नहीं होता

पश्चिमी सभ्यता के आवेश में अब पूरे देश पर लागू होने जा रही है। करुणा के प्रति ह कृतज्ञ होना चाहिये कि उसने इस क्षण तक मनुष्य को मनुष्य बनाये रखा है, उसके रोम-रो को रहमदिल रखा है, तथा विश्व को शान्ति की ओर कदम बढ़ाने मे मदद की है।
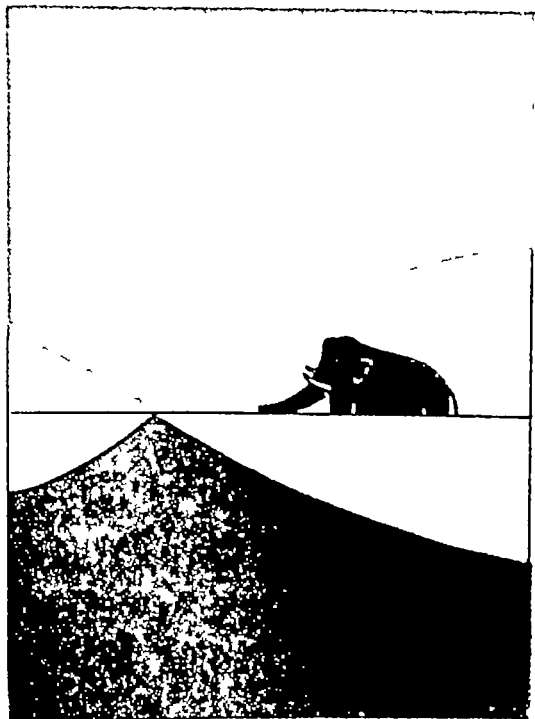
डॉ नेमीचन्द

ऐसे लोगो को क्या कहोगे
जो यह जान कर भी
कि मृत्यु पास आ गयी है
निष्ठा और भक्ति से
अपने हृदय को भर लेते है
कर लेते है जीवन को
बचे-खुचे क्षणो मे
उतना सपन्न
जितना वह पहले
कभी नही था।

— भवानीप्रसाद मिश्र

हाथी ने ली सल्लेखना : डॉ नेमीचन्द जैन, © हीरा भैया प्रकाशन, **प्रकाशन** हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२ ०० मध्यप्रदेश, **प्रथम सस्करण :** अप्रैल १९९०, **द्वितीय सस्करण** मार्च १९९८ **मूल्य** तीन रुपये, **मुद्रण** . नईदुनिया प्रिटरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग इन्दौर-४५२ ००९, मध्यप्रदेश।

दो शब्द

हाथी का यह मर्मस्पर्शी प्रसग काफी रोमाचक है और इशारा कर रहा है कि हम उन ममम्याओ पर भी ध्यान दे जो वास्तविक है, किन्तु जिनकी हम लगातार अनदेखी कर रहे है। जैसे-तैसे जीने के उन्माद मे हम प्राय मृत्यु-के-होने के तथ्य को भूले रहते है। सोचते है यह कभी न आये तो अच्छा। हम उसे टालते है, 'अटल' उस से कभी आँखे चार नही करते। सम्यग्ज्ञानी हाथी, मनुज, या कोई अन्य प्राणी मौत को टालता नही है, गहरे उतर कर उसे समझने और उसका सामना करने का प्रयत्न करता है। जिन्दगी और मौत दोनो को वह चारो-खूट-सावधान सम्यक्त्व की खुर्दवीन-तले देखता है। समाधि-मरण या सल्लेखना कोई अजूबा नही हैं, एक सुलझी हुई साधना का सहज परिणमन है, शरीर का इस तरह सिंहावलोकन कि उसका जर्रा-जर्रा दिखायी दे और दीख पडे कि वह साधन है, साध्य नही है। सल्लेखना या समाधि मे हमे निर्द्वन्द्व दिखायी देता है कि देह माध्यम है, लक्ष्य नही है। वस्तुत जब हम देह को साध्य मान लेते है, तब मृत्यु से खौफ खाते है और उसे टालने की, उससे वचने की हरचद कोशिश करते है। वच नही पाते, यह वात अलग है।

मृत्यु की एक परिभाषा है – 'यहाँ नही, कही और'। वस्तुत इन चार शव्दो ने मृत्यु को जीवन के काफी नजदीक कर दिया है। गौर से देखने पर मृत्यु है ही नही – यदि कही कुछ है तो सातत्य और सम्यक्त्व है, जिन्हे पाने का मतलव है शरीर-मे-हो-कर शरीर-से-पार निकलना।

शरीर मराय है, मुकम्मल मुकाम नही है। वह भगुर है, अमर नही है। हम उसमे है, वह हममे नही है। दोनो दो है। हम हम है, वह वह है। सल्लेखना इस दुर्लभ अनुभूति का टकोत्कीर्ण शिलालेख है। जिसने यह जान लिया कि 'शरीर शरीर है और मै मै हूँ' उसे जानने को और वच ही क्या रहा है। जो धन-धरती की आमक्तियो के वीच 'स्व' मे लिपटे 'पर' को अलगा लेता है, वही ममाधि या मल्लेखना की रमानुभूति कर सकता है। राग मे-से जो भाग निकलता है, भाग उसीके खुलते है और जो राग के छल-माधुर्य मे बँध जाता है, वह अभागा मृत्यु-भय से भागमभाग मे कराहता रहता है। उसका पॉव कहीं टिक नहीं पाता।

यह जान कर भी कि मृत्यु को एक महोत्मव का रूप दिया जा मकता है और परम आनन्द की अलौकिक अनुभूति के माथ एक वडे ध्येय के लिए प्रस्थान किया जा सकता है, हम अनजान वने रहते है। ऐमे मे हमारी स्थिति उस हाथी मे वदतर है जो देह-मे-हो-कर-भी देहातीत हुआ है और जिसके रोम-रोम मे अहिंसा,

अपरिग्रह का जयघोष है। सयम की परिभाषा उस हाथी से पूछो जो शिकारी के सामने है और जिसने अपनी इन्द्रियो पर सपूर्ण नियन्त्रण पा लिया है। क्या गजरथ के किसी गज से कभी आपने कोई अतरग बातचीत की है? कीजिये। रथासीन इन्द्र, जो मन-की-महावती भी टोक से नहीं कर सकता, की अपेक्षा उससे जो रथ खींच रहा है पूछिये, कि मृत्यु क्या होती है और उसे एक महोत्सव मे कैसे बदला जा सकता है?

सच तो यह है कि यदि जन्म-मरण मे-से किसी एक को भी गहरे पैठ कर समझ लिया जाए तो पता लगता है कि ये एकार्थक शब्द है। दोनो आकृतियाँ है उसकी जो आकृत होता है, जिसकी न कोई मृत्यु है और न कोई जन्म, जो अजर-अमर है।

हमे विश्वास है इस सत्यकथा मे-से हम मृत्यु-के-प्रति अभीत बनेगे तथा जीवन को अधिक निर्विघ्न, सुखद, और निरापद बनायेंगे।

इन्दौर, नेमीचन्द जैन
२१ अप्रैल, १९९० सपादक 'तीर्थकर' 'शाकाहार-क्रान्ति'
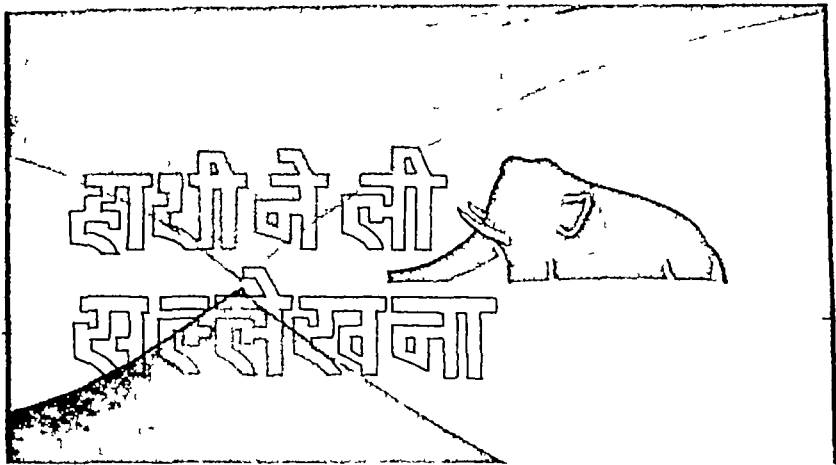
हाथी रा कान नही जानना
जानते सब है, किन्तु शायद यह कोई नही जानता कि वह कितना विवेकी, पराक्रमी, साहसी, और मनुष्य से कई गुना अधिक सवेदनशील और सहिष्णु होता है।

भारतीय साहित्य उसकी गौरव-गाथाओ से भरा पडा है।
पुराणो मे, रण-कथाओ मे, राजसी विभूतियो मे, स्वप्न-शास्त्र मे, धर्म-शास्त्र मे, शकुन-शास्त्र मे कही कोई उसकी महिमा-गरिमा से अपरिचित नही है।
जैनो मे वह द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ की पहिचान है। भगवान् ऋषभनाथ के वृषभ का उत्तराधिकार उसे कब/कैसे मिला, भगवान् जाने, किन्तु जो जनश्रुतियाँ और यथार्थ उसके जीवन मे आ जुडे है, उन पर कोई भी राष्ट्र गर्व कर सकता है।
हाथी ने मनुष्य को शोभाश्री/विजय-विभूति प्रदान की इसमे कोई दो मत नही है, किन्तु फैशन के नाम पर उसके साथ मनुष्य ने जो बदसलूक/जोर-जुल्म किये है उन्हे कभी भुलाया नही जा सकता।

पेरिस के प्राकृतिक इतिहास सग्रहालय (म्युजियम) के प्रोफेसर जीन डॉर्स्ट ने जो आँकडे आकलित किये है उनसे पता चलता है कि १८६० ई से अकेला ग्रेट ब्रिटेन साढे पाँच लाख टन (५,५०,००० टन) हाथी के दाँत आयात करता रहा है। १८८० ई तक पहुँचते-पहुँचते तरुण/प्रौढ हाथी-हथिनियो के वध का आँकडा साठ से सत्तर हजार प्रतिवर्ष तक हो गया था। यह सब हुआ यूरोपीय मडी मे शौक की बर्बर भूख मिटाने को ले कर।

हाथी बहुत सीधा जानवर है। शाकाहारी, सौम्य, शान्त, अपने-काम-से-काम, अहिंसक, और समझदार। यह 'चलता-फिरता पहाड' स्वय मे कई अद्भुत आध्यात्मिक शक्तियो का खजाना भी है।

बाँस की कोमल कोपले और वृक्ष की हरी-भरी शाखाएँ इसका प्रमुख आहार है। आफ्रिका के बियाबाँ जगलो और हिमालय की तराई मे
इसे आसानी से और विपुलता मे पाया जा सकता है। भारत मे इसे
मगल का प्रतीक माना गया है। यहाँ की शिल्प-कला और धार्मिक परम्पराओ
मे इसका हमेशा से, और काफी महत्त्व रहा है। दक्षिण भारत मे
गजलक्ष्मी को बडी पवित्र दृष्टि से देखा जाता है।

आचार्य जिनसेन के 'आदिपुराण' मे गज की कई किस्मो का उल्लेख हुआ है
द्विप, मातग, कुजर, दती, द्विरद, स्तम्बेरम, भीलुकगज, करी, नाग इत्यादि हाथी
के पर्याय शब्द है। होने को साहित्य मे ये एक-दूसरे की जगह काम मे
आते रहे है, किन्तु इनमे सूक्ष्मतर भेद है स्वभाव, व्यक्तित्व, और सस्कार को
ले कर। हम जिस
नर हाथी का जिक्र आगे करने जा रहे है, लगता है वह मातग श्रेणी का हाथी
रहा होगा। मैसूर के इर्दगिर्द के जगलो मे जो हाथी पाये जाते है, उन पर
जैनधर्म का असर न हुआ हो यह असभव ही है? कर्नाटक की हवा
मे जैनधर्म सदियो तक धडकता रहा है। यह हाथी जिसकी सल्लेखना का वर्णन हम कर
जा रहे है मातग जाति का रहा होगा।

हाथी की उम्र अमूमन ७५ से १०० वर्ष की मानी जाती है। गजशिशु का
ओसत वजन दो सौ पौड के लगभग होता है। एक जवान हाथी चार सौ से
पाँच सौ पौड तक का आहार रोज करता है। दिन मे दो बार पानी
पीता है। सिर्फ खाने मे इसे प्रतिदिन सौलह घटे खर्च करने होते है। शेष
आठ घटो मे यह अपनी बाकी की चर्या सपन्न करता है, किन्तु जो हो हाथी
होता गजब है।

हाथी-दाँत, जिन्हे 'सफेद सोना' कहा जाता है, इस सरल-मन प्राणी के लिए
जानलेवा सिद्ध हुए है। इन्ही के लिए इसका बडी बेरहमी से वध किया जाता
रहा है। एक हाथी-दाँत का वजन लगभग दो सौ पौड होता है। इसका
मतलब हुआ हरेक हाथी तकरीबन चार सौ पौड सफेद सोना ले कर चलता है।
परम्परानुसार हाथी पच्चीस की उम्र मे युवा ओर पचहत्तर-सौ की वय के
बीच कभी वृद्ध होने लगता है।

उसके बुढाने के कुछ सकेत है। कर्ण-पल्लव झुक-मुरझा जाते है और दन्तमूल काले पडने
लगते है। मस्तक के गड्हे गहरे होने लगते है, उसकी मासलता घट जाती है।
उसमे सूँघने की शक्ति अद्भुत होती है। वह गुस्सैल होता है ओर आक्रमक भी,
इसीलिए कई बार वह अकुश के काबू मे भी नही रह पाता, जो हो वह होता
ममता और सहानुभूति का धनी है। महावत उसे शिक्षित करता है, और अकुश से
उसे अपने अनुशासन मे रखता है।
कई बातें है हाथी को ले कर, किन्तु जब भी उसका प्रसग आता है तब एक
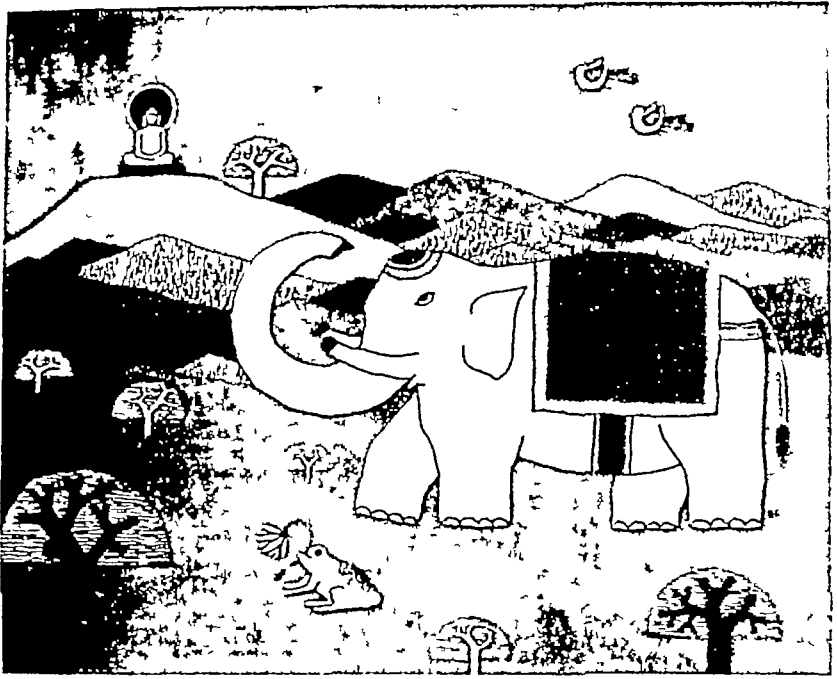
ता महावीर के समवसरण मे जाते राजा श्रेणिक के हाथी की याद बरबस आ जाती है कि वह झूमता-झामता चला जा रहा है और एक भक्त दर्दुर के स्वर्गस्थ होने का निमित्त बन रहा है, दूसरे याद आती है कि वह दलदल मे फँस गया है और विष्णु उसके उद्धार के लिए उस तक दौडे चले आये है। गज को भारतीय लोकजीवन मे मगल/शुभ/स्वस्तिकर माना गया है। गज-नीराजना-विधि/गज -च्छायाव्रत जैसे धार्मिक रवाज उसकी महिमा/महत्ता का परिचय देते है। 'अग्नि-पुराण' मे 'गजायुर्वेद' की विस्तृत चर्चा हुई है। सच पूछिये तो हाथी को ले कर एक सपूर्ण विज्ञान/शास्त्र ही विकसित हो गया है,
किन्तु शिकारियो ने इधर इसका जो अध्ययन किया है, जो तथ्य उसके स्वभाव-सस्कारो को ले कर प्रकट किये है, वे हैरत मे डालने वाले है।

एक सवाल हैरान करता रहा है कि भारी-भरकम देह वाला यह जानवर अपना जीवनान्त कैसे करता है? कहाँ लुप्त हो जाता है इतना बडा यह पशु? यह प्रश्न भी गर्दन उठाता है कि क्या पारिस्थितिकी (ईकॉलॉजी) मे जिस जैविक सतुलन की बात कही गयी है, हाथी की उसमे कोई हिस्सेदारी है, या उसका होना धरती के लिए महज भार है? क्या जैविक सतुलन कायम रखने मे वह प्रकृति की कोई सहायता करता है?

यह सवाल भी उठता है कि जिस तरह मनुष्य जीवन-मरण की धारणाओ को स्पष्ट किये हुए है, क्या हाथी को भी जीवन/मृत्यु-बोध है? डू एलीफेंट्स हैव
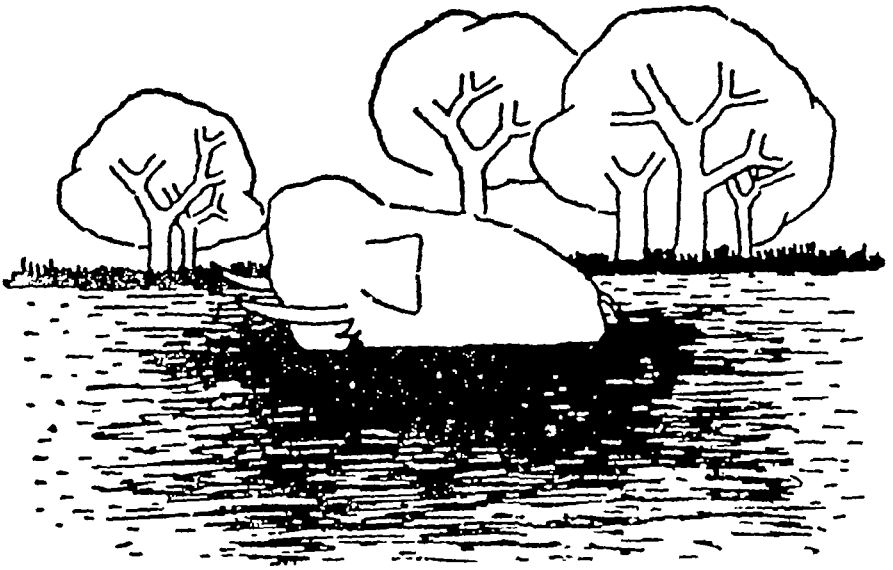
एनी आइडिया ऑफ डेथ? मृत्यु क्या होती है क्या हाथी को इसका कोई भान होता है? जो प्राणी सोलह घटे खाने मे और बाकी सोने मे विताता है क्या मृत्यु के मर्म को वह जानता है?

हाथी सामाजिक होता है – निपट ममतालु, इसीलिए ऐसे अवसर दुर्लभ ही होते है जब वह जूथ/झुड से हट कर अकेला भटकता हो। वह यूथचारी प्राणी है और उसकी सामाजिकताएँ मनुष्य से काफी मिलती-जुलती है।

सल्लेखना/सथारा/समाधिमरण जैनधर्म के पारिभाषिक शब्द है। जैनाचार्यो ने मृत्यु को महोत्सव माना है। जैनदर्शन मे मृत्यु के लिए कोई गुजाइश है ही नही। वहाँ द्रव्य अविनाशी है, मात्र पर्यायान्तर होता है। आत्मा ने एक ठाँव छोडा, दूसरे मे गयी – अब उसकी इस यायावरी को आप मरण कह ले, या एक लम्बी यात्रा का पडाव, जो जी मे आये कहे, किन्तु कृपया ऐसा जरूर करे जैसा इस हाथी ने किया है, जिसका जिक्र हम आगे की पक्तियो मे करने जा रहे है।

जैनाचार्या ने मरण की कई किस्मे बतायी है, जिनमे से तीन मशहूर है बाल-मरण, बालपण्डितमरण, पण्डितमरण। हम जिस नर मातग का प्रसग सामने रख रहे है वह पण्डितमरण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, किन्तु यह सवाल बार-बार चेतना मे टकराता है कि क्या हाथी यह जानता है कि 'मरण' है किस चिडिया का नाम? शब्द उसके पास है नही, दर्शनशास्त्र उसने किसी विश्व-विद्यालय मे पढा नही – फिर भी क्या कोई धुँधली छवि उसके मनोदर्पण पर मृत्यु को ले कर बनती है, या जिस तरह वह मरण का वरण करता है वह उसकी जातीय परम्परा है?

कैनेथ एडरसन (१९१०-१९७४) अपने जमाने के एक विख्यात शिकारी रहे है, जिन्होने सैकडो भारतीय गाँवो को नरभक्षी सिहो से मुक्त किया है, किन्तु अपने जीवन की साँझ मे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि

चाहे जो प्राणी हो मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है कि उसे सताये, चिडाये, या उसके प्राण ले ले। वे मानते थे कि वन्य प्राणियो का प्राकृतिक सतुलन वनाये रखने मे वहुत वडा हाथ है। जिम हाथी मे उनकी मैत्री हुई और उन्होने अपने जीवन के चार दिनो मे जिस तरह उसे अत्यधिक शान्त/विनीत/सौम्य भाव से मौत को चूमते देखा
वह सब कुछ आश्चर्य मे डालने वाला है।
लगता है जैसे कोई विनोवा, या जिनेन्द्र वर्णी या कोई आचार्य शान्तिसागर मरण का पुण्यवरण कर रहा हो – अविकल, अविचल, शान्त।
इस हाथी को देखते मन मे यह वात निरन्तर उठती है कि क्या किसी पशु मे मृत्यु-की-छवि इतनी सतुलित/असदिग्ध/सम्यक्/स्वच्छ हो सकती है?
क्या वह शरीर-आत्मा के मर्म को इतनी स्पष्टता से समझ सकता है?
क्या मरण के विचलित करने वाले क्षण उसके सामने इतने अचचल हो जाते है कि वह उन्हे अत्यन्त समत्व/सौम्य के साथ झेल लेता है,
क्या वह यह जान कर भी कि उसे इस शरीर को, जिसे उसने पाला-पोसा-पुष्ट किया है, छोडना है, किसी विचलन/घवराहट को महसूस नहीं करता?
कैनेथ एडरसन भारत के जगलो मे खूव घूमे है। कई नरभक्षी सिंहो का शिकार उन्होने किया है, किन्तु अन्तत उन्हे लगा कि पशुओ को नही मारा जाना चाहिये चूँकि इस विश्व की सौन्दर्य-रचना मे उनकी भी वहुत वडी भूमिका है।
जिस सत्यकथा को हम दे रहे है उसका सवन्ध एडरसन की एक महत्त्वपूर्ण कृति 'द टायगर रोड्स' के तीसरे अध्याय 'द क्वीअर साइड ऑफ थिंग्ज' मे है। उक्त कृति के पृष्ठ १३१-१४० मे उन्होने इस महान् मातग के सथारे का जीवन्त वर्णन किया है।
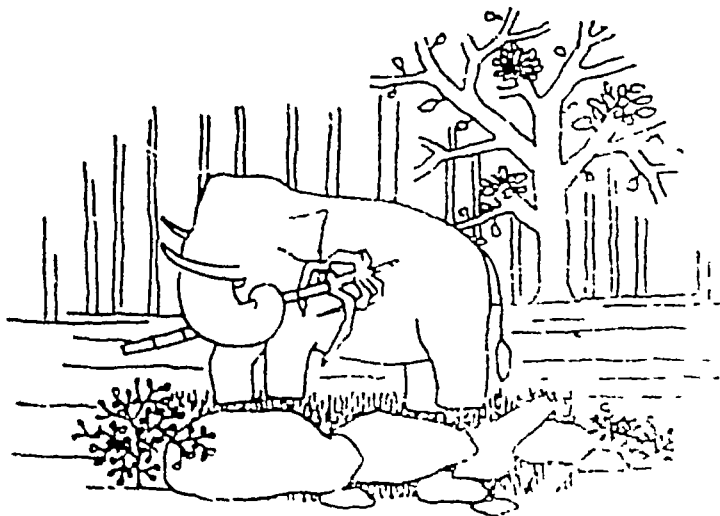
वे लिखते है कि मै जो अगला किस्सा दे रहा हूँ वह किसी जादुई करिश्मे या चुडेल-डायन से सवन्धित नही है वरन् एक ऐसे असाधारण पशु से सवन्धित है जो धीरे-धीरे मेरा अजीज दोस्त वन गया, किन्तु वदकिस्मती से यह मैत्री चार दिन की चाँदनी सावित हुई।

अनाइकुट्टी का वियावाँ जगल है। एक हाथी लगभग पचास गज की दूरी पर वहुत शान्त मन से चर रहा है यानी शाखाएँ तोड-खा रहा है।
जिस कार मे हम लोग है उसमे कई दर्शक और शौकिया फोटोग्राफर्स है।
मै कार के पिछले भाग मे वैठा हुआ हूँ। हाथी को हम सवने देखा है, किन्तु उसने हमारी ओर कतई ध्यान नही दिया है। वह अपना काम सपूर्ण एकाग्रता/अभय से कर रहा है।
कार मे जो दूसरे लोग है वे विदेशी है (एडरसन का जन्म १९०४ मे हैदरावाद मे हुआ। वे स्कॉटलैड के रहने वाले थे। उनका सारा जीवन भारत मे वीता। वे व्रिटेन एक वार गये अन्यथा उन्होने भारत कभी नहीं छोडा।)।
एक विदेशी, कार से कूद पडा है और उसने शान्त भाव से चर रहे हाथी पर पत्थर फेकना शुरू कर दिया है। वह अपनी भुजाएँ झुला रहा है। उसने पहला पत्थर फेका है, किन्तु निशाना चूक गया है। दूसरा पत्थर हाथी के पास वाले एक वृक्ष को लग कर उसकी पीठ पर लगा है, किन्तु हाथी अविचलित है उसने इस विदेशी की हरकत पर कोई ध्यान नही दिया है।
तीसरा पत्थर हाथी के कपाल पर लगा है और उसके वाये दाँत पर से फिसलता हुआ वह जमीन पर आ गिरा है। हाथी शान्त है। उसने इस नादानी पर भी कोई उत्तेजना/नाराजी व्यक्त नही की है, सिर्फ अपनी पीठ फेर ली है और पडोस के झाड के पीछे चला गया है इस तरह कुछ देखता हुआ कि 'तुम लोग चले क्यो नही जाते? मेरे शान्त/एकान्त जीवन को इस तरह सकट मे क्यो डाल रहे हो? मै तुम्हारे किस काम मे विघ्न डाल रहा हूँ?'
हाथी का यह आचरण हैरत मे डालने वाला है। कोई नर हाथी इस तरह का अहिंसक/अनाक्रमक रुख अपनाये यह असभव और असामान्य ही है। मै स्वीकार करता हूँ कि मुझे विश्वास हो गया था कि नर हाथी हमला करेगा और जो विदेशी वडी दिलेरी से उसे सता रहा है इस दुनिया से विदा हो जाएगा। कार का वजूद भी खतरे मे पड जाएगा।
यह शिकार-शास्त्र, या जगल के नियम के खिलाफ है कि यदि कोई जगली हाथी या प्राणी नाराजी जाहिर करे, या इस तरह की उदासीनता व्यक्त करे तो उसे चिढ़ाया जाए, तँगाया/सताया जाए, या उसकी ओर पत्थर फेके जाएँ।
वडी मुश्किल से हम अपने उस सिरफिरे सहयात्री को दूसरे प्राणियो के फोटोग्राफ्स लेने के लिए मना पाये है।

शाम के छह बजे है। हम उसी मार्ग मे लौट रहे है। वही हाथी सामने है।
फासला बमुश्किल एक फर्लांग है। हम उसे देखने के लिए रुके है। वह बेहद
शान्त भाव से जुगाली कर रहा है। कुछ खा/चबा रहा है। उसके मन मे
कोई खिन्नता नही है, कोई प्रतिशोध नही है।
हमने बडे गौर से उसे देखा है। वह 'वीतमोह' खडा है।
मै मन-ही-मन छान-बीन कर रहा हूँ कि वह कही बीमार/अस्वस्थ तो नही
है? तय है कि वह बीमार नही है, किन्तु बुढ़ा गया है। उम्र की यही कोई सत्तरवी
मंजिल पार कर गया है।
(क्या जब कोई आदमी इस तरह वृद्ध होता है
तब वह इतना शान्त/वीतमोह हो जाता है? क्या उसकी लालसाएँ/बुभुक्षाएँ
शान्त हो जाती है?)
हाथी का बुढापा दो सधियो/झरोखो मे झाँक रहा है मुडे हुए कर्ण-फलको मे
और कपाल पर गहराते गड्ढो मे।
इस बार उस अजनबी ने फिर पत्थर चलाने शुरू कर दिये है।
मै मान रहा हूँ कि इस बार की भिडन्त काफी खतरनाक/भीषण होगी और
हाथी आत्मरक्षा मे कोई हिंसक हमला जरूर करेगा। हम सब, इस तरह, एक
बहुत बडे झमेले मे पड जाएँगे।
किन्तु–
किन्तु हाथी ने पीठ फेर ली है और बडे शान्त भाव से अपनी निर्धारित
चर्या मे लगा हुआ है।
उसका व्यवहार चकित कर देने वाला है। ऐसा व्यवहार तो एक पालतू हाथी
से भी अपेक्षित नही है/नही होता, अन्तत उस विदेशी को, जो दुस्साहसी,
पागल, या दोनो एक साथ है, हम सबने जबरन कार मे बिठाया है और
अपने पडाव की ओर विदा हुए है।
आश्चर्य, वह हाथी फिर भी शान्त चित्त/अविचलित/प्रसन्न/सौम्य अपने काम मे
लगा हुआ है – इस तरह कुछ जैसे कहीं/कुछ हुआ ही नही है।
विदेशी बुदबुदाया है 'कैसे है ये भारतीय हाथी? बिलकुल खरगोश की तरह
डरपोक/अहिंसक'।
(इन पक्तियो के लेखक को याद आ रहा है तीर्थंकर अजितनाथ के लाछन वाला
वह हाथी, जो उन लोगो से शायद काफी बेहतर है, जो कर्मकाण्ड में बहुत
चीखते है, या शास्त्र-स्वाध्याय मे व्यर्थ की बहस करते है और भीतर से बौने होते
है – एडरसन के हाथी की तुलना मे वे शायद पासग मे भी नहीं आते।)।
एडरसन लिखते है
शाम का खाना चल रहा है। मुझ से तरह-तरह के बहुत सारे सवाल किये जा
रहे है, जिनके उत्तर मेरे पास नही है। मै सोच रहा हूँ कि इस नर हाथी ने,
जो हमला कर सकता था, इतना शालीन/विनीत आचरण क्यो किया? मै सो गया

हूँ इस इरादे के साथ कि अगले दिन इस समस्या का कोई-न-कोई समाधान अवश्य ढूँढ निकालूँगा।

दूसरे दिन का नाश्ता समाप्त कर चुका हूँ। मैने दो (कारुम्ब) खोजियो को साथ लिया है। रायफल ली है और उस ठाँव के लिए चल पडा हूँ जहाँ उस हाथी को खोजा जा सकता है।

अधिक कठिनाई नही हुई है। वह अनाइकुट्टी नदी के तट-प्रान्त पर एक वृक्ष-के-तले वडे शान्त चित्त से खडा है। चर वह नही रहा है। शायद कुछ सोच रहा है।
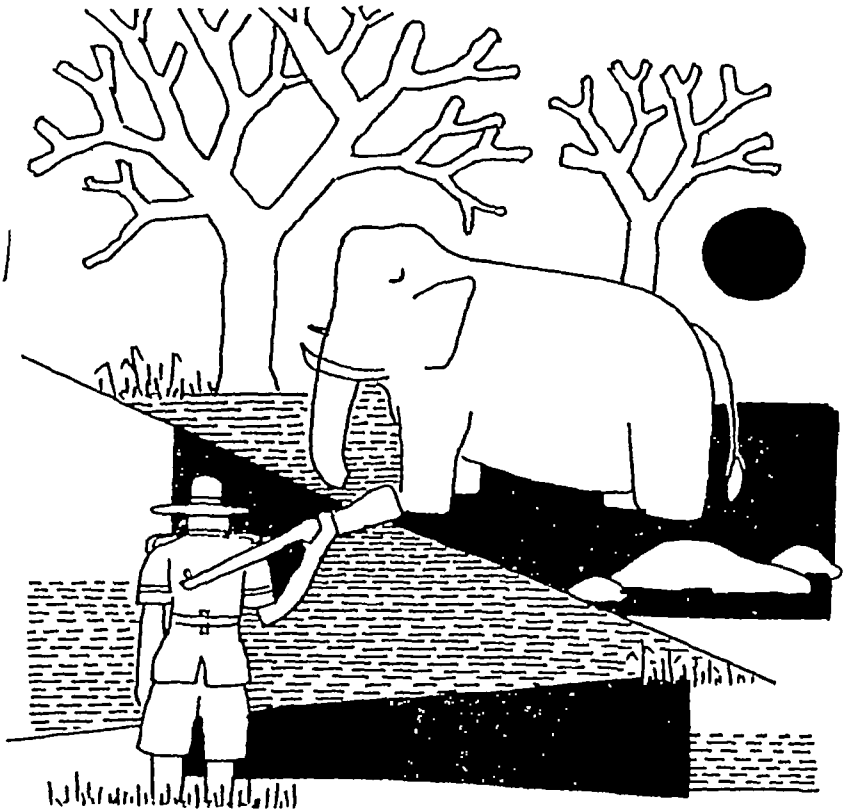
कारुम्ब सावधानी बरत रहे है, किन्तु मै, किंचित् भयभीत, अपनी रायफल के साथ उसके निकटतर हो रहा हूँ।

हाथी कोई ध्यान नही दे रहा है। मै उसके इर्द-गिर्द घूम रहा हूँ। वह चुप है। मुझे भरोसा हुआ है कि या तो वह बुरी तरह घायल हुआ है, या रुग्ण है, या अन्धा है, या काना है,

या वहरा है, या उसकी सूँघने की शक्ति अकस्मात लुप्त हो गयी है। मुझे विश्वास हुआ है कि हो, न हो, कोई गभीर गडवड – कायिक गडवड – इसमे हुई है।

मैने पुन उसकी परिक्रमा दी है।

वह मेरी गतिविधि को अपनी छोटी आँखो मे टुकुर-मुकुर देख रहा है,

किन्तु इन आँखो मे क्रोध की कोई भभक नही है। बदले की कोई भावना नही है। वह मातग है, फिर भी मुझे उसमे कोई उन्माद/उत्तेजना नही दिखायी पड रही है।
मै निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि हाथी अन्धा नही है।
तो फिर आखिर कौन-सी गडबडी है कि वह इतना सब होने पर भी अनुद्विग्न खडा है?
इतने मे यूँ ही उसने अपनी सूँड उठायी है और वृक्ष की एक शाखा अपने मुहँ मे डाल ली है। इससे तय हुआ कि वह रुग्ण नही है और न ही बहुत गभीर रूप मे घायल ही है।
खूब गहन छान-बीन के बाद मै इस निष्कर्ष पर आया हूँ कि हो-न-हो हाथी बुढा गया है। उसके स्याह पड रहे दन्तमूलो मे, कर्णपल्लवो के झुकने/मुरझने मे, तथा मस्तक पर गहरा रहे गड्हो मे इसका पता चल रहा है।
दोनो कारुम्ब, जो अनुभवी है, और कुछ फासले पर खडे है, कह रहे है 'महाशय, इस हाथी के साथ कोई गडबडी नही है। यह वृद्ध हो गया है—बहुत वृद्ध। धरती पर अब इसके दिन गिनती के रह गये है। यह नदी-तट पर अपने प्राण विसर्जित करने आया है।'
हाथी को मैने वही छोड दिया है और मै अपने पडाव पर उन्मन लौट आया हूँ।
दूसरे दिन मुझे गुडलूर मे कुछ काम है। मै देख रहा हूँ कि सौंठो से भरी एक गाडी सामने से गुजर रही है। मुझे उस बूढे हाथी की याद आ रही है। मै एक दर्जन छहफुटे सौंठे खरीद रहा हूँ। मेरे भीतर प्रयोग और मैत्री दोनो हमकदम है।

दूसरी सुबह मै तीन कारुम्बो के साथ सौंठो का भार लिये हाथी की खोज मे निकला हूँ। वह अनाइकुट्टी नदी-तट पर खडा है वृक्ष की छाया मे, सर्वथा शान्त/सौम्य/अविचल वह है। मै बडी सावधानी से उसकी ओर कदम उठा रहा हूँ एक कारुम्ब मेरे साथ है जिसके पास छह सौंठे है। मै हाथी से मुखातिब हूँ। मैने कारुम्ब से दो सौंठे लिये है। राइफल साथ है। आगे बढ रहा हूँ देख रहा हूँ हाथी की आँखो मे हिंसा का कोई भाव नही है, क्षमा और मैत्री तरगे भर रही है। मै इन्तजार कर रहा हूँ उस पराकाष्ठा की जो या तो मित्रता मे बदलती है या शत्रुता मे?
अब मै कुछ फुट दूर ही रह गया हूँ। उसने अपनी सूँड से एक फुफकार छोडी है। उसके कर्ण-पल्लव हिल रहे है। वे आगे-पीछे हो रहे है। ये बुरे सकेत है। मुझे लग रहा है कि मातग हमले की चित्तवृत्ति मे आ रहा है। मै स्तब्ध हूँ। मैने अपना हाथ सौंठो के साथ आगे बढा दिया है।
मै बोल बिलकुल नहीं रहा हूँ चूँकि मै जानता हूँ मनुष्य की आवाज

जानवरो मे चिडन और क्रोध पैदा करती है।

हाथी अपेक्षया कुछ कम चचल हुआ है। मेरे हाथ दुखने लगे है। सौंठो का वोझ दुस्सह हुआ है। मै कुछ इच और आगे वढा हूँ। मैने छहफुटे सौंठे के पत्ते हाथी के आगे किये है। उसे आमन्त्रित किया है

सौंठा हाथी ने ले लिया है और वह उसे वार-वार जमीन पर पटक रहा है। मै सोच रहा हूँ कि सभवत वह अपने अगले कदम की सयोजना कर रहा है। सोच रहा हूँ कि कही ऐसा न हो कि हाथी सौंठे को फेक दे, मुझे मार डाले, मुझ पर भीपण आक्रमण कर वैठे? कई आशकाएँ मन मे आ-जा रही है। मन अशान्त है।

किन्तु, आश्चर्य उसने सौंठे को अपने दोनो मुख-पार्श्वो मे रख लिया है और उसे चवा
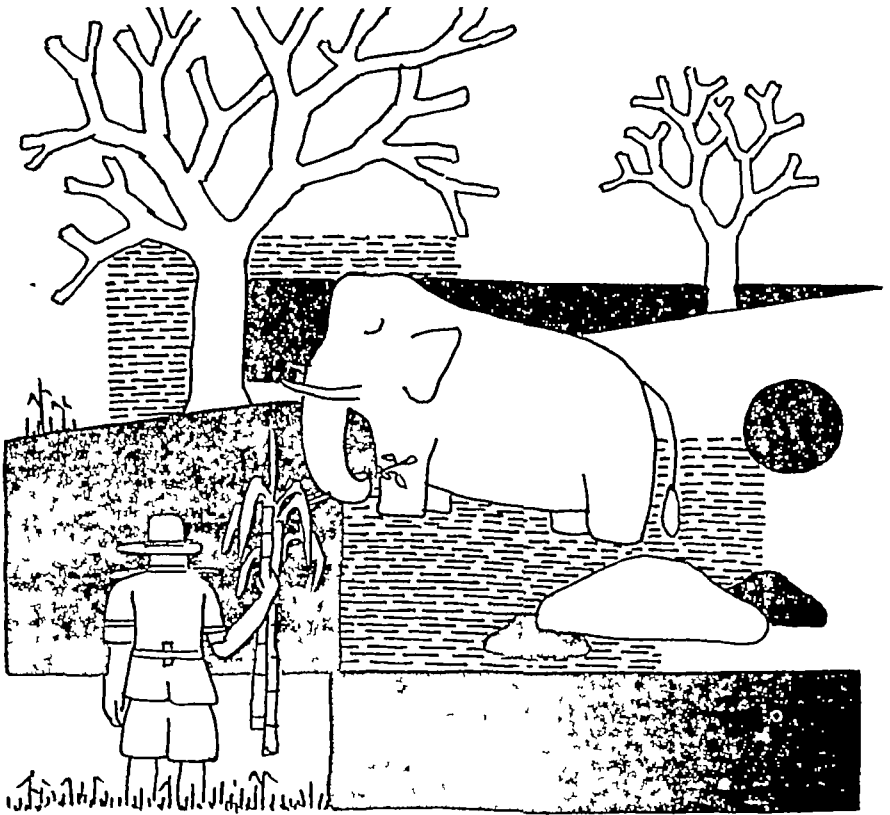
रहा है। इक्षु उसे भा रहा है, भला लग रहा है। वह सौंठा चबा रहा है और अपनी छोटी-छोटी आँखो से मुझे अपलक देख रहा है।

उसकी इन आँखो मे कोई शत्रुता नही है, कोई दुश्मनी नही है, कोई क्रोध नही है – है तो वीतमोहत्व, उदासीनता, और विरक्ति।

मैने दूमरा मौंठा उमकी ओर वढाया है। इसे भी उसने स्वीकार कर लिया है।

वह उसे चवा रहा है। उसका आनन्द ले रहा है।
कारुम्व कुछ फासले पर खडे है और मेरे इस पागलपन को वडे ध्यान से,
देख रहे है। मै कारुम्बो के पास दो वार और गया हूँ। मैने उनसे सॉठे
लिये है और अपने इस नवसखा को दिये है,
अन्तत हम दोनो मे मित्रता का एक अटूट अनुवन्ध हो गया है आश्चर्यजनक!
गुनलूपेट मे मै अपने एक फॉरेस्ट रैंजर दोस्त से इस घटना का जिक्र कर
रहा हूँ। वह आश्चर्यचकित है। उसने कुछ ऐसे अनुभव सुनाये है जो कँपा
देने वाले है। इन सुनायी गयी भयानक घटनाओ के झुरमुट मे-से अनाडकुट्टी
का नर हाथी/उसका क्षमा-विनयपूर्ण व्यवहार झॉक रहा है। इतिहास ने उस
नर हाथी के चरणो मे अपना मस्तक नवा दिया है। उसका विनयपूर्ण
व्यवहार चकित कर देने वाला है।

दूसरे दिन मै फिर गया हूँ।
मेरे हाथी दोस्त ने इस वार सांठे तुरन्त ले लिये है, किन्तु मात्र दो, अधिक
विलकुल नही। शायद इस वार उसे भूख नही है, या कोई और सकल्प उसके
शान्त चित्त पर स्थापित है।
उसे मैने कई वार सॉठे देने का प्रयत्न किया है, किन्तु हर वार उसने इन्हे
अपनी सूँड की नोक से छू लिया है और मना कर दिया है। इस तरह
उसने नवस्थापित मित्रता का सम्मान तो किया है, किन्तु वह अपने भावी
सकल्प के प्रति भी पूरी तरह सावधान/सजग है।

अगले दिन मै फिर गया हूँ। इस वार नर हाथी – मेरे प्रगाढ/अभिन्न मित्र – ने
कुछ भी नही लिया है।
वह मौन खडा है। उसकी ऑखे सजल है। मुखमण्डल पर क्षमा का भाव है।
ऑखो से कृतज्ञता झॉक रही है। कोई भावी सकल्प की रोशनी उन
बुझती-सी ऑखो मे-से दीख पड रही है। मै उससे विदाई ले रहा हूँ।
वह मुड कर इस तरह कुछ देख रहा है जैसे दो वहुत पुराने दोस्त विछुड रहे है।
किन्ही कारणो से मै अगले दिन नही जा सका हूँ,
किन्तु चौथे दिन सवेरे ९ वजे उसे पुन देखने की उत्कण्ठा से चल पडा हूँ।
कारुम्व और सॉठे मेरे साथ है, पर मेरा दोस्त वहॉ नही है।
मै जान सका हूँ कि वह अव वहॉ है।
कारुम्बो ने वताया है कि वह नदी के चढाव पर करीव आधा मील की
दूरी पर उस 'वडे पोखर' पर चला गया है जहा हाथी अक्सर समाधि लिया करते है।
और वह वहॉ मिल गया। मिला वह जरूर, किन्तु उसका पार्थिव शरीर मात्र
वहॉ था, वह इस दुनिया से कूच कर चुका था। पोखर चार फुट गहरा था।
मौसम सूखा था अत उसकी गहराई घट गयी थी।

हाथी उसमे जानबूझ कर उतरा था और उसने अपनी सूँड और मस्तक को पानी के तल-भाग मे रख दिया था।
उसका अगला भाग उभरा हुआ था, जिससे जाना जा सका कि वह अव इस दुनिया को छोड गया है।

यहाँ मुझे अपने उस सवाल का उत्तर मिल गया कि हाथी अन्तत जाते कहाँ है? कैसे छोड देते है अपनी देह, अपने प्राण? वृद्ध होने पर वे नदी मे स्वय को जल-सलीन कर देते है।
रहस्य खुल गया, किन्तु उसी क्षण याद आया वह वीतमोह मित्र, मित्रता के वे वहुमूल्य क्षण जो हाथी के साथ विकसित हुए थे,
कितनी कम उम्र थी मित्रता के इन क्षणो की?
कुल चार दिन के कुछ घटे।
ΔΔΔ

अव हम इस घटना को जैन दृष्टि से ले।
हाथी ने इस तरह की अभूतपूर्व क्षमा कैसे धारण की?
हमले का उत्तर उसने हमले से क्यो नही दिया?
इतने दुस्सह उपसर्ग के वावजूद उसने अपने परिणाम इतने शान्त/सौम्य/भद्र कैसे रखे?
क्या शास्त्राभ्यास के विना चित्त की शान्ति/एकाग्रता/अविचलता और सम्यक्त्व/समत्व/सारल्य के लिए किसी भाषा की जरूरत है?
क्या हाथी के इस आचरण मे हमे 'मूलाचार' की इस गाथा की स्पष्ट प्रतिध्वनि नही सुनायी देती?

जो कोइ मज्झ उवही सब्भतरवाहिरो य होवे।
आहार च सरीर जावज्जीवा य वोसरे।।११४।।

(जो कुछ भी मेरा अभ्यन्तर और वाह्य परिग्रह है उसे तथा आहार और शरीर को मै जीवन-भर के लिए छोडता हूँ।)
क्या हाथी के इस वर्ताव मे से 'वोसरे' का स्पष्ट अर्थ ध्वनित/व्याख्यायित नही है?
क्या हम हाथी जिस पगडडी पर चला उस पर चल सकते है?
क्या हाथी की इस चचल/शान्त/क्रमबद्ध/सुविचारित समाधि को खुदकुशी कहा जा सकता है?
क्या हम रूढ/परम्परित जन हाथी की इस अ-शास्त्रोक्त सल्लेखना को सल्लेखना सज्ञा देने का साहस कर सकते है – ऐसी सल्लेखना जिसके आगे एक शिकारी तक नतशीश आ खडा हुआ।

ΔΔΔ

- मॉ मात्र शब्द नही है वरन् यह तो हमारी सास्कृतिक मन स्थितियों की निर्मल आरसी है।

- मॉ प्राणों की भाषा जानती है और जो प्राणों की भाषा जानता हो, उससे बड़ा भला कौन हो सकता है ?

- मॉ नर-रत्नों की खान है, वह प्राणों का प्राण है, चक्षु का चक्षु है, घ्राण की घ्राण है, जिह्वा की जिह्वा है, श्रोत्र का श्रोत्र है। अभागे है वे जो उसकी इस महान् सत्ता की अनुभूति से वचित है।

- मॉ प्रहरी है। माँ सयोजिका है जीवन की। वह भक्ति है, वह सर्वस्व है। वह क्या नही है ?

- मॉ मॉ है, उसके लिए कोई उपमा नही है, कोई रूपक नहीं है, कोई अलकार नही है, कोई उपाधि नही है। बस, सारी स्थितियों के लिए एक ही शब्द है - ***माँ !***

- डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

माँ : विश्व-मैत्री की जननी/माता

भारतीय सस्कृति मे 'माँ' शब्द एक गौरवशाली शब्द है। जब मेरा ध्यान इसकी ओर गया तो मै चौक गया, कुतूहलवश मैने इसके पर्याय शब्दो को खोज कर देखना चाहा क्योकि हम जिसे शब्दो के जन्म लेने, विकास करने, बूढा होने, मरने इत्यादि विवरणो का शास्त्र कहते है (व्युत्पत्ति-शास्त्र) उसका एक बहुत साधारण-सा सूत्र है कि ''किसी भाषा के समान दीख पडने वाले शब्द पर्यायवाची नहीं होते। उस अर्थ मे आने वाले शब्दो की व्युत्पत्ति के पीछे कोई-न-कोई नये अर्थ की छाया बनी रहती है।'' आखिर जब एक शब्द से काम चल रहा था तब दूसरे की अवतारणा क्यो हुई ? दुनिया मे अकारण कुछ नहीं होता, यह बात अलग है कि हम अज्ञानवश उसका कारण न जान पाये या किन्हीं परिस्थितियो के दबाव से हम उसे दबा जाएँ। इसीलिए जब मेरा ध्यान 'माँ' के पर्याय शब्दो पर गया तो मैने देखा यह मात्र शब्द नहीं है वरन् यह तो हमारी सास्कृतिक मन स्थितियो की निर्मल आरसी है। चूँकि हिन्दुस्तान के गगन पर अग्रेजी अभी भी गुलामी ढाने की हैसियत मे ठहरी हुई है, बाकी सब पाताल को जाने लगा है, तो 'माँ' को लेकर मेरा ध्यान पहिले इसी भाषा के शब्द-भण्डार पर गया। मैने अग्रेजी के शब्द-कोशो की छान-बीन की। अन्त में जहाँ से चला था वहीं आ गया। 'मदर' के अलावा वहाँ कोई और शब्द था ही नहीं। चुप्पी पकड गया। यह सोच कर कि मानवीय सबन्धो के जितने क्षितिज भारतीय भाषाओ मे प्रकट हुए हैं, उतने अग्रेजी आदि मे नहीं है। इससे कोई भाषा छोटी-बड़ी नहीं होती वरन् हमे सोचने का आधार मिल जाता है। मै आगे बढा, मुझे 'माँ' शब्द के भीतर बैठी 'ममता, करुणा, वात्सल्य, माधुरी' इत्यादि की व्याख्या भारतीय भाषाओ मे मिल गयी।

अग्रेजी के बाद मेरा ध्यान स्वभावत सस्कृत पर गया। वहाँ एक सूत्र मिला 'अम्बा, सवित्री, जननी च माता।' इसमे 'माँ' के लिए चार शब्द दिखायी दिये। गहरे उतरा। 'अम्बा' शब्द के मूल पर ध्यान गया। 'अम्बा' का अर्थ है 'गतिशील होना, शब्द करना, गूँजना'। 'अम्बर', 'अम्ब' मे-से ही बना शब्द है। गद्गद् हो उठा। 'माँ' गगन है, जीवन का। वह जीवन भर गूँजती है और जीवन को गतिशील बनाये रखती है। अम्बर की तरह उसकी व्याप्ति है। उसकी करुणा के मेघ गगन मे छाये रहते है।

इससे बने अनेक शब्द हैं 'अम्बक, अम्बिका, अम्बालिका, अम्ब' हिन्दी मे तथा अन्य भारतीय भाषाओ मे। 'अम्भा' शब्द के अस्तित्व का भी रहस्य खुल गया। इस शब्द की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि यह अपने उच्चार के समय भी सारे मुख-विवर तथा मन-प्राण मे गूँज उठता है। इतना ही नहीं 'अम्ब' शब्द का एक अर्थ 'ऑख' भी है। 'अम्बक' पिता को भी कहते है, वह भी ऑख का पर्याय शब्द है। इस तरह माता के माध्यम से हम सारा ससार देखते है। यह तथ्य 'मदर' (मम्मी) या 'वालिदा' शब्द मे नहीं है। भारतीय परिवार की दो आखे है 'अम्बा-अम्बक' - माता-पिता। सारी कल्पना अपने-आप मे एक मधुर काव्य है।

'अम्बा' शब्द उत्तर से दक्षिण गया या दक्षिण से उत्तर मे आया, इस पर बहस करना व्यर्थ है, किन्तु इस सास्कृतिक सचाई को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता कि यह उत्तर से दक्षिण तक छाया हुआ शब्द है और इसकी अनुगूँज भारतीय आर्यभाषाओ तथा द्रविड़ी भाषाओ मे बराबर है। तमिल मे 'अम्मा' और अम्माळ' शब्द मॉ के अर्थ मे आए हे। यहॉ और भी शब्द हैं, जैसे - 'अण्णे, अव्वे, आत्ते, आय, आयि, याय, नाय, ताय, तळ्ळे।' 'अम्बा' की तरह ही कन्नड़ी मे 'अम्म' शब्द आया है। तुलु मे 'अप्पे, अप्पा' शब्द है, ओर भी खोजे तो इसी मूल के शब्द वहॉ मिल जाऍगे। हमारी इस भावनागत सम्पदा का मूल्याकन यदि हम करे तो कहॉ - से - कहॉ निकल सकते है और हमारी जड़ता की नींद टूट सकती हे।

सस्कृत का दूसरा शब्द है 'सवित्री', जिसका, मूल 'सू' धातु है। इसका अर्थ है 'उत्पन्न करना' सस्कृत मे 'सवितृ' सूर्य को भी कहा गया हे। जो उत्पन्न करता है उसमे सूरज-जैसी तेजस्विता होना चाहिये, उतनी अपरिमित शक्ति होना चाहिये, और वह क्षमता/दक्षता मॉ मे है ही।

सक्षेप मे, कुल मिला कर मॉ प्राणो की भाषा जानती है और जो प्राणो की भाषा जानता हो, उससे बड़ा भला कौन हो सकता है ? इस प्रकार मो विश्व-मैत्री की जननी/माता है। तीर्थंकर, वर्ष १, (सितम्बर, १९७१)

माँ : जीवन की पहली धरती

एक यहूदी कहावत है बडी विख्यात कि 'भगवान् हर जगह नहीं जा सकता इसलिए उसने अपने काम को पूरा करने के लिए मॉ को बनाया है।' इस कथन मे कल्पना और कवित्व की बगल मे बैठा एक चिरन्तन सत्य भी झॉक रहा है कि मॉ नर के रूप मे नारायण है।

विश्व की सस्कृतियो मे नारी के तीन रूप वर्णित है - मातृत्व, भगिनीत्व और पत्नीत्व। इन तीनो मे चक्रवर्तीरूप मॉ का है। वह दुनिया के सारे रिश्तो की सिरमौर है। मॉ की व्याप्ति अनन्त है- मातृभूमि, मातृभाषा उसी मनोज्ञा के रूपान्तर है।

ममता और मर्यादा, कला और कल्पना, भव और वैभव सबकी जननी है - मॉ। वह रत्नगर्भा है, रत्नप्रसू है, वह कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। वह मानव-सस्कृति की सर्वस्व है।

यदि सयोग से अर्थ की तराजू पर हमे 'मॉ' शब्द को तोलना पडे तो इसके विरोधी पलडे पर शब्दार्थ-राशियॉ चढती रहेगी किन्तु पलडा उठा का उठा रहेगा। वस्तुत मॉ की गुरुता की कोई सानी नहीं है। मॉ लासानी है, अनुपम है, आइये हम शब्दो को मनाकर विरोधी पलडे पर बैठाये, ये है समर्पण, समत्व, ममत्व, सेवा, साधना, सहिष्णुता, स्नेह, सवेदना, सयम, उत्सर्ग, त्याग, उदारता, क्षमा, मार्दव, आर्जव, समन्वय, तप, उत्सर्ग- इतने वजनी शब्द-बॉट फिर भी मॉ वाला पलडा जहॉ-का-तहॉ, ज्यो-का-त्यो। वास्तव मे 'मॉ' का गौरव शब्दातीत है, भाषातीत है, शब्दो की सकीर्ण पकड उसे छू नहीं सकती, वह अपरिमेय है, अतुल है। तो आइये इस वजन की पूर्ति के लिए हम नदी-पहाड ही दूसरे पलडे पर रख कर देखे-गगा, यमुना, हिमालय, पृथ्वी, समुद्र, गगन-नहीं ये सब भी उस वजन को पूरा नहीं कर पायेगे। वह अलौकिक है, महान् है, उसकी तुल्यता असभव है। ऐसा है 'मॉ' का अप्रतिम रूप, ठीक भी है जो बिना किसी प्रतिदान के तिल-तिल न्योछावर हो जाते है, वे अतुलनीय होते है, 'मॉ' दुनिया की सबसे बडी बलिदानी शक्ति है जो बिना किसी प्रत्यर्पण के अपना सब कुछ होमती आयी हे।

मॉ का व्यक्तित्व बडा निष्कपट, निष्काम और निरीह है, उसे क्या चाहिये - शायद कुछ नहीं। उसे पास देने को अथाह-अतल समुद्र है, और पाने को एक बूँद की भी किचित् चाह नहीं हे, कोई लालसा, कोई लोभ उसे नहीं, त्याग केवल त्याग, मिटाव केवल मिटाव। वास्तव मे 'मॉ' पार्थिवता के परिधान ओढे अपार्थिवता

की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। वसे भी जब कभी उस निराकार भगवान् का कोई आकार घड़ना चाहेगा तो उसे विश्व-भर के मातृत्व की मिट्टी से ही उस प्रतिमा को घड़ना होगा। सचमुच, माँ दुनिया की सबसे बड़ी कथाकार हे, कवि है, शिल्पी है, नाटककार है, शिक्षाविद् है। उसके ऐश्वर्य के आगे सब फीका हे। इतिहास की एक-एक घटना उसकी ऋणी है, वह इतिहास की जननी है, ज्ञान की धात्री है, नारीत्व के ललाट पर मातृत्व का तिलक ही उसकी सबसे मनोज्ञ छवि है।

माँ नर-रत्नो की खान है, वह प्राणो की प्राण है, चक्षु की चक्षु है, घ्राण की घ्राण है, जिह्वा की जिह्वा हे, श्रोत्र की श्रोत्र। अभागे हे वे जो उसकी इस महान् सत्ता की अनुभूति से वचित ह।

एक वार किसी माँ के तीन लड़को ने उससे सवाल किया था - माँ, बता तू हममे से किसे सबसे अधिक प्यार करती है ?' उस समय उसकी आँखो मे सावन-भादो की घनघोर घटाएँ घुमड़ आयी थीं, शायद वह सोच रही थी - 'यह केसा पेचीदा सवाल है, इनमे से सभी तो मुझे प्राणो से अधिक प्यारे हे, मेरे कलेजे के टुकड़े।' वह रो रही थी और सोच रही थी - 'क्या उत्तर दूँ इन्हे ?' क्या अनायास आये इन आँसुओ मे सारा जवाब नहीं हे ? उसके भीगे आँचल पर आँसुओ की लिपि मे सबकुछ लिखा हुआ था, किन्तु लोग अभी इतने सुशिक्षित कहाँ हे कि माँ की भाषा को ठीक-ठीक समझ पाये। बेटे घबराये, क्या उनसे कोई गलती हुई हे ? वे थाली पर बेठे थे, माँ उन्हे परोस रही थी। प्रश्न वेसे ही उनके ओठो पर आ गया था। उनके हाथ का कोर हाथ ही मे रह गया। अन्त मे माँ ने सँभलते हुए कहा- 'देखते हो मेरा हाथ, इसम पाँच अगुँलियाँ हे। पाँचो पाँच किसिम की है, मध्यमा सबसे बड़ी हे, कनिष्ठा सबसे छोटी, अगुष्ठ छोटा, मोटा और नाटा हे। इन सबमे मेरी आत्मा का प्रवेश एक-जेसा है। आत्मा कहाँ कम, कहाँ ज्यादा नहीं जानती, मेरे लेखे शायद सबमे एक-जैसी है। लो यह सूई और इनमे-से जि.. चाहो चुभाओ, मुझे एक-जसी व्यथा का अनुभव हागा। जसी अँगुलियो मे बिना किसी भेदभाव के मेरी आत्मा का प्रवेश हे, वेसे ही तुममे भी समझो। मेरे भीतर तुम सब एक समान हो। वहा कद, उम्र, रग-रूप का काई भेद नहीं है। सबका एक कद हे - ममता, सबका एक वर्ण है - वात्सल्य। तुनमे-से किसी एक से एक किस्म का और दूसरे से दूसरे किस्म का प्यार कसे कर सकती हू, मेरी ममता तो एक ही किस्म है आर वह सबके लिए समान हे। जेसे जन्मभूमि का उस पर रहने वाले एक जैसे प्यारे होते हें, वसे ही मेरी मनोभूमि पर तुम सब एक हा, एक-जसे हो।' इतना कहकर मा चुप हो गयी और उसकी आँखो मे मेघावलियाँ फिर लौट आयीं।

सचमुच माँ जैसी राजा और कोई नहीं है, उसकी प्रजा पर उसकी ममता धर्मनिरपेक्ष, उसकी करुणा वर्णनिरपेक्ष, उसके स्नेह की रसधारा गुणनिरपेक्ष अनवरत प्रवाहित है। कहावत है 'माता कुमाता नहीं होती, पूत कपूत भले ही हो।' माँ युद्ध के स्तर पर अपने परिवार की परबरिश करती और उसकी सतानें कलह के स्तर पर उसकी अवमानना कर जाती है, तो क्या इससे उसके मन मे कहीं कोई प्रतिबोध करवट लेता है ? स्वप्न मे भी नहीं। प्राय यही हुआ है कि वह आजीवन एक भरे-पूरे कुटुम्ब को पोसती रही है और जीवन की सॉझ मे जल्दी उठने वाली और देर से सोने वाली उस माँ की उपेक्षा हुई है। उस दिन यही हुआ। सात जवान बेटो की माँ मृत्यु-शैया पर लेटी अपनी पड़ोसिन से कह रही थी 'कोई नहीं आया बहिन, तुमने सन्देश तो भिजवा दिया था न ? सब बडे भले हैं, कोई काम लग गया होगा। बहना, देखती रहियो उन्हे, बच्चे है; कभी उन्हें कुछ हो न जाए।' और वह इस लोक से चली गयी। कोई नहीं आया। पड़ोसियों ने उसकी अन्त्येष्टि की। ऐसी होती है माँ; प्रेम की सजीव प्रतिमा, त्याग और बलिदान की जीती-जागती मूरत, सेवा और कर्त्तव्यनिष्ठा की जीवन्त विग्रह !

सूरदास ने माँ के मन को गाया है, और-और महाकवियो ने उसका गुणानुवाद किया है पर उसके मन की अन्तिम गहराई तक कोई नहीं पहुँच पाया। माँ प्रहरी है, माँ सयोजिका है जीवन की। वह गगाजल है, वह समुद्र है, वह भक्ति है, वह मुक्ति है, वह सर्वस्व है, वह क्या नहीं है ?

वह शक्ति है, शील है, सौन्दर्य है। वह महान् है। वह देह से देह की अलौकिक शिल्पी है। मनुष्यो में अनेकानेक सदर्भो की अधिष्ठात्री वह प्रतिपल पूज्य है। उपन्यासकार प्रेमचन्द के शब्दो मे मातृत्व का एक पक्ष इस प्रकार व्यक्त हुआ है · 'ऐसी माताओ से देश का मुख उज्ज्वल होता है, जो देशहित के सामने मातृस्नेह की धूल बराबर भी परवाह नहीं करतीं। उनके पुत्र देश के लिए होते है, देश पुत्र के लिए नहीं होता।' माँ की निर्मल-विमल सत्ता की कोई तुलना नहीं है, चाहे जितनी महान् सपदा हो माँ के बलिदानो का प्रतिदान नहीं कर सकती। माँ माँ है, उसके लिए कोई उपमा नहीं है, कोई रूपक नहीं है, कोई अलकार नहीं है, कोई उपाधि नहीं है। बस, सारी स्थितियो के लिए एक ही शब्द है - 'माँ' ! **(तीर्थंकर, वर्ष १, जनवरी, '७२)**

माँ माँ थीं

मॉ सघन दुलार और वैभव मे लालन-पालन और विषमतम परिस्थितियो मे सघर्ष, दूरदर्शी, कुशल, मितभाषी, धर्मभीरु, सहयोगी, कर्त्तव्य-परायण, निष्कपट, ममतालु और समर्पणशीला थीं। ('जिन खोजा तिन पाइयाँ' से)

माँ की व्याप्ति

माँ की व्याप्ति की कोई सीमा नहीं है। माँ का निधन हम निधनो का धन ही है। मै नहीं सोच पाता कि इस 'ऋण' को हम 'धन' कहे या क्या कहे ? गणितज्ञ तो इसे ऋण ही कहेगा, पर हम इस धन ही मानते है, क्योकि मॉ ने अपने जीवन-काल मे हमे जो कुछ दिया है, उसका व्यावहारिक क्षेत्र अब उष काल लेकर आ रहा ह या ले रहा है। (२६ अप्रैल, '५८)

मॉ का नेतृत्व

मॉ के लिए मै सदैव अपादान ही रहा। दूर रहा और सेवा नहीं कर सका, उल्टे उनसे सेवा लेता ही रहा। ज्येष्ठ हो कर भी कभी श्रेष्ठ नहीं रह सका। कभी - कभी तो मेरे द्वारा उनके साथ कटुतम और हीनतम व्यवहार भी हुआ है, पर उनसे मिली जब भी तब सजलता / परिष्कार-सस्कार, जीवन को नयन-देखने के, झुकने के। वे बहुत बड़ी नेता थीं। उन्होने जीवन भर अभिनयन किया। नेता क्षमता का नाम है, दिखावे का नहीं। जिसके पूरे खुले नयन होते है वह है नेता।

मॉ की क्षीणयष्टि और दिलेरी, साफगोई, परिस्थितियो को समझने और तत्काल सही फैसला देने की ताकत, उलझी हुई विषम और दुर्गम परिस्थितियो मे-से बेदाग निकल आने की योग्यता, किफायतसारी, मुसीबत से आगाही, अभिभावन, वात्सल्य, परिवार - सवहन, हमदर्दी, रहम प- इन सबसे मिल कर बनी है 'हीरा की कनी', (नाम था हीराबाई) जो अकाट्य है, शोभनीय है, अलङ्घार्य है।

मॉ की व्याप्ति ही सभव है। रोम-रोम मे, कृति-कृति मे, आचरण मे-क्षेत्र-काल की सीमा को चीर कर। माँ हमारी हथेलियो पर इतना कुछ छोड़ गई है कि वह कभी उऋण नहीं हो सकेगा। कहीं दरिया भी उलीचा जा सका है।

माँ का विस्मरण / स्मरण कैसा ।

माँ को याद किया जाए - यह वाक्य ही अयोग्य लगता है। उनके स्मरण या उनकी याद का सवाल ही नहीं उठता। उनका तो हममे अपार्थक्य है और अभेद है। उनका विस्मरण-स्मरण कैसा ? वहाँ भेद कहाँ है ? 'वन्दे तद्गुण लब्धये' - जैसी वन्दना उनकी मै मानता हूँ। वस्तुत माँ के निधन ने निराकार को समझने की बडी भारी भूमिका हमे दी है। पहले निराकार अस्तित्व के अभाव मे झूठ लगता था, किन्तु अब माँ निराकार होते हुए भी साकार है। ठीक वैसे ही 'वह' परब्रह्म जिसे लोग उपनिषद् से अब तक समझ रहे हैं और जो अनुभूतिगम्य है। (४ मई, '५८)

माँ का मतलब . विवेक, प्रेरणा, आचरण

माँ का मतलब मेरे लिए तो 'विवेक, प्रेरणा और आचरण' ही हो गया है। वे आचरण मे उतरी हुई आदर्श थी। आदर्श अक्सर, सैद्धान्तिक होता है, पर माँ ने जब भी जिन आदर्शो की चर्चा की है, उन्हे पहले अपने पर देख लिया है। इसीलिए माँ के निधन पर उनका मुखमण्डल इतना तेजोमय और प्रशान्त था। मुझे वह भूलता नहीं है। उसे कैसा भूला जा सकता है ! आज भी मुझे वे बोलतीं और देशना देतीं दिखाई देती है। मै उनसे सदैव दूर रहा और चन्द सिक्के भेज कर अपने को बडा समझा। यह अहन्ता है, माँ इससे बहुत आगे पारगत थीं। उनमे पिछले दिनो एक महान् निरहकार भाव का विकास हुआ था। जिसके परिदर्शन तो मुझे हुए थे, पर लाभ मै नही ले सका। (१४ मई, '५८)

माँ का मूल्याकन असभव

माँ का मूल्याकन असभव है। समर्पण, त्याग, बलिदान, उत्सर्ग, कुर्बानी- ये सब और इनके पर्यायवाची अनुभूतिगम्य है, विश्लेषण मे उनकी कोई सुषुमा नहीं है। फिर भी समझने के लिए बाँट कर खोजना बहुत आवश्यक है। माँ के व्यक्तित्व की सुन्दरता सश्लिष्ट है, विश्लिष्ट नहीं। उसे उसकी समग्रता और अखण्डता में देखना चाहिये। (२१ मई, '५८)

माँ : सर्वोत्तम उदाहरण

माँ मन की नीलिमा पर खूब सघन है। उनका व्यक्तित्व चिरन्तन है। मैने उन्हे शैशव मे खूब निकट से और यौवन मे दूरगामी हो कर देखा है। उनका सा समर्पण बेजोड है। सकल्प की दृढता और मजबूती अन्ततोगत्वा संकटो के तूफानो मे भी कोई कैसे निभा सकता है, माँ इसकी सर्वोत्तम उदाहरण रही हैं। (३१ मई, '५८)

माँ अद्वितीय शक्ति

मानो न मानो माँ के नाम मे इतनी अद्वितीय शक्ति है कि स्मरण के वाद निश्चय ही परिस्थितियो मे एक तात्कालिक ओर अनुकूल परिवर्तन हो उठता ह। मुझे तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव पिछले दिनो हुआ है। (२१ दिसम्बर, '६०)

माँ स्वय महाकाव्य

माँ स्वय महाकाव्य थीं। उनसे हम सब इतने प्रस्फूर्त ह कि उनके प्रणीत महाकाव्य के सार्थक सर्ग वने हुए है। (१३ मई, '६१)

माँ की दृष्टि

घटनाओ से सीखना माँ ने मुझे सिखाया था। उन्होने मुझे याद है, एक वार कहा था कि यह जो कुछ होता है यो ही नहीं होता, इसके पीछे हमारी भूले होती है। अत इन सवसे हमे सीखना चाहिये। तब लड़कपन था अव उसका व्यवहार-वोध हो रहा है। माँ की दृष्टि क्रमश इतनी वस्तुपरक हो उठी थी कि वे वस्तु या परिस्थिति का राग-द्वेष से विलग हो कर विश्लेषण कर सकती थीं। (१८ मई, '६१)

माँ का नाम शक्य के लिए

माँ का नाम अशक्य के लिए नहीं, शक्य के लिए ह। (२१ जून, '६१)

माँ हमारी अन्त प्रेरणा

मो व्यथा मे सजल हो उठती थीं। वस्तुत आज भी ओखे हमारी आर सजलता उनकी है। काया हमारी और आत्मा उनकी ह। दिया हमारा आर उजास उनका है। व हमारे सारे कार्यो की अन्त प्रेरणा है ओर रहेगी। (४ सितम्बर, '६१)

माँ का सान्निध्य

मो आज सदेह हमारे मध्य नहीं ह, किन्तु हमार उनक परस्पर सबन्धो की इतनी दयनीय अवस्था कभी नहीं हो सकती कि उनक विदेह क वाद उनसे सम्बन्धित सूक्ष्मताएँ अवरुद्ध हो उठ। अव ता हम उन्हे ओर सान्निध्य न पा रह ह।

(२१ नवम्बर, '६१)

मॉ अद्वितीय शक्ति

मानो न मानो मॉ के नाम मे इतनी अद्वितीय शक्ति है कि स्मरण के बाद निश्चय ही परिस्थितियो मे एक तात्कालिक और अनुकूल परिवर्तन हो उठता है। मुझे तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव पिछले दिनो हुआ है। (२१ दिसम्बर, '६०)

मॉ स्वय महाकाव्य

मॉ स्वय महाकाव्य थीं। उनसे हम सब इतने प्रस्फूर्त है कि उनके प्रणीत महाकाव्य के सार्थक सर्ग बने हुए है। (१३ मई, '६१)

मॉ की दृष्टि

घटनाओ से सीखना मॉ ने मुझे सिखाया था। उन्होने मुझे याद है, एक बार कहा था कि यह जो कुछ होता है यो ही नहीं होता, इसके पीछे हमारी भूले होती है। अत इन सबसे हमे सीखना चाहिये। तब लडकपन था अब उसका व्यवहार-बोध हो रहा है। मॉ की दृष्टि क्रमश इतनी वस्तुपरक हो उठी थी कि वे वस्तु या परिस्थिति का राग-द्वेष से विलग हो कर विश्लेषण कर सकती थीं। (१८ मई, '६१)

मॉ का नाम शक्य के लिए

मॉ का नाम अशक्य के लिए नहीं, शक्य के लिए है। (२१ जून, '६१)

मॉ हमारी अन्त प्रेरणा

मॉ व्यथा मे सजल हो उठती थीं। वस्तुत आज भी ऑखे हमारी और सजलता उनकी है। काया हमारी और आत्मा उनकी है। दिया हमारा और उजास उनका है। वे हमारे सारे कार्यों की अन्त प्रेरणा है और रहेगी। (४ सितम्बर, '६१)

मॉ का सान्निध्य

मॉ आज सदेह हमारे मध्य नहीं है, किन्तु हमारे उनके परस्पर सबन्धो की इतनी दयनीय अवस्था कभी नहीं हो सकती कि उनके विदेह के बाद उनसे सबन्धित सूक्ष्मताऍ अवरुद्ध हो उठे। अब तो हम उन्हे और सान्निध्य मे पा रहे हैं।

(२१ नवम्बर, '६१)

मॉ का विस्मरण / स्मरण कैसा !

मॉ को याद किया जाए - यह वाक्य ही अयोग्य लगता है। उनके स्मरण या उनकी याद का सवाल ही नहीं उठता। उनका तो हममे अपार्थक्य है और अभेद है। उनका विस्मरण-स्मरण कैसा ? वहॉ भेद कहॉ है ? 'वन्दे तद्गुण लब्धये' - जैसी वन्दना उनकी मै मानता हूँ। वस्तुत मॉ के निधन ने निराकार को समझने की बडी भारी भूमिका हमे दी है। पहले निराकार अस्तित्व के अभाव मे झूठ लगता था, किन्तु अब मॉ निराकार होते हुए भी साकार है। ठीक वैसे ही 'वह' परब्रह्म जिसे लोग उपनिषद् से अब तक समझ रहे है और जो अनुभूतिगम्य है। (४ मई, '५८)

मॉ का मतलब : विवेक, प्रेरणा, आचरण

मॉ का मतलब मेरे लिए तो 'विवेक, प्रेरणा और आचरण' ही हो गया है। वे आचरण में उतरी हुई आदर्श थी। आदर्श अक्सर, सैद्धान्तिक होता है, पर मॉ ने जब भी जिन आदर्शो की चर्चा की है, उन्हे पहले अपने पर देख लिया है। इसीलिए मॉ के निधन पर उनका मुखमण्डल इतना तेजोमय और प्रशान्त था। मुझे वह भूलता नहीं है। उसे कैसा भूला जा सकता है ! आज भी मुझे वे बोलतीं और देशना देतीं दिखाई देती है। मै उनसे सदैव दूर रहा और चन्द सिक्के भेज कर अपने को बडा समझा। यह अहन्ता है, मॉ इससे बहुत आगे पारगत थीं। उनमे पिछले दिनो एक महान् निरहकार भाव का विकास हुआ था। जिसके परिदर्शन तो मुझे हुए थे, पर लाभ मै नहीं ले सका। (१४ मई, '५८)

मॉ का मूल्याकन असभव

मॉ का मूल्याकन असभव है। समर्पण, त्याग, बलिदान, उत्सर्ग, कुर्बानी- ये सब और इनके पर्यायवाची अनुभूतिगम्य है, विश्लेषण मे उनकी कोई सुषुमा नहीं है। फिर भी समझने के लिए बॉट कर खोजना बहुत आवश्यक है। मॉ के व्यक्तित्व की सुन्दरता सश्लिष्ट है, विश्लिष्ट नहीं। उसे उसकी समग्रता और अखण्डता मे देखना चाहिये। (२१ मई, '५८)

मॉ : सर्वोत्तम उदाहरण

मॉ मन की नीलिमा पर खूब सघन है। उनका व्यक्तित्व चिरन्तन है। मैने उन्हे शैशव मे खूब निकट से और यौवन मे दूरगामी हो कर देखा है। उनका सा समर्पण बेजोड है। सकल्प की दृढता और मजबूती अन्ततोगत्वा सकटो के तूफानो मे भी कोई कैसे निभा सकता है, मॉ इसकी सर्वोत्तम उदाहरण रही हैं। (३१ मई, '५८)

मॉ का विस्मरण / स्मरण कैसा !

मॉ को याद किया जाए - यह वाक्य ही अयोग्य लगता है। उनके स्मरण या उनकी याद का सवाल ही नहीं उठता। उनका तो हममे अपार्थक्य है और अभेद है। उनका विस्मरण-स्मरण कैसा ? वहॉ भेद कहॉ है ? 'वन्दे तद्‌गुण लब्धये' - जैसी वन्दना उनकी मै मानता हूँ। वस्तुत मॉ के निधन ने निराकार को समझने की बड़ी भारी भूमिका हमे दी है। पहले निराकार अस्तित्व के अभाव मे झूठ लगता था, किन्तु अब मॉ निराकार होते हुए भी साकार है। ठीक वैसे ही 'वह' परब्रह्म जिसे लोग उपनिषद् से अब तक समझ रहे है और जो अनुभूतिगम्य है। (४ मई, '५८)

मॉ का मतलब : विवेक, प्रेरणा, आचरण

मॉ का मतलब मेरे लिए तो 'विवेक, प्रेरणा और आचरण' ही हो गया है। वे आचरण मे उतरी हुई आदर्श थी। आदर्श अक्सर, सैद्धान्तिक होता है, पर मॉ ने जब भी जिन आदर्शो की चर्चा की है, उन्हे पहले अपने पर देख लिया है। इसीलिए मॉ के निधन पर उनका मुखमण्डल इतना तेजोमय और प्रशान्त था। मुझे वह भूलता नहीं है। उसे कैसा भूला जा सकता है ! आज भी मुझे वे बोलतीं और देशना देतीं दिखाई देती है। मै उनसे सदैव दूर रहा और चन्द सिक्के भेज कर अपने को बडा समझा। यह अहन्ता है, मॉ इससे बहुत आगे पारगत थीं। उनमे पिछले दिनो एक महान् निरहकार भाव का विकास हुआ था। जिसके परिदर्शन तो मुझे हुए थे, पर लाभ मै नहीं ले सका। (१४ मई, '५८)

मॉ का मूल्याकन असभव

मॉ का मूल्याकन असभव है। समर्पण, त्याग, बलिदान, उत्सर्ग, कुर्बानी- ये सब और इनके पर्यायवाची अनुभूतिगम्य है, विश्लेषण मे उनकी कोई सुषुमा नहीं हे। फिर भी समझने के लिए बॉट कर खोजना बहुत आवश्यक है। मॉ के व्यक्तित्व की सुन्दरता सश्लिष्ट है, विश्लिष्ट नहीं। उसे उसकी समग्रता और अखण्डता मे देखना चाहिये। (२१ मई, '५८)

मॉ सर्वोत्तम उदाहरण

मॉ मन की नीलिमा पर खूब सघन है। उनका व्यक्तित्व चिरन्तन है। मैने उन्हे शैशव मे खूब निकट से और योवन मे दूरगामी हो कर देखा है। उनका सा समर्पण बेजोड है। सकल्प की दृढता और मजबूती अन्ततोगत्वा सकटो के तूफानो मे भी कोई कैसे निभा सकता हे, मॉ इसकी सर्वोत्तम उदाहरण रही हें। (३१ मई, '५८)

मॉ अद्वितीय शक्ति

मानो न मानो मॉ के नाम मे इतनी अद्वितीय शक्ति है कि स्मरण के बाद निश्चय ही परिस्थितियो मे एक तात्कालिक और अनुकूल परिवर्तन हो उठता है। मुझे तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव पिछले दिनो हुआ है। (२१ दिसम्बर, '६०)

मॉ स्वय महाकाव्य

मॉ स्वय महाकाव्य थीं। उनसे हम सब इतने प्रस्फूर्त है कि उनके प्रणीत महाकाव्य के सार्थक सर्ग बने हुए है। (१३ मई, '६१)

मॉ की दृष्टि

घटनाओ से सीखना मॉ ने मुझे सिखाया था। उन्होने मुझे याद है, एक बार कहा था कि यह जो कुछ होता है यो ही नहीं होता, इसके पीछे हमारी भूले होती है। अत इन सबसे हमे सीखना चाहिये। तब लड़कपन था अब उसका व्यवहार-बोध हो रहा है। मॉ की दृष्टि क्रमश इतनी वस्तुपरक हो उठी थी कि वे वस्तु या परिस्थिति का राग-द्वेष से विलग हो कर विश्लेषण कर सकती थीं। (१८ मई, '६१)

मॉ का नाम शक्य के लिए

मॉ का नाम अशक्य के लिए नहीं, शक्य के लिए है। (२१ जून, '६१)

मॉ . हमारी अन्त प्रेरणा

मॉ व्यथा मे सजल हो उठती थीं। वस्तुत आज भी ऑखे हमारी और सजलता उनकी है। काया हमारी और आत्मा उनकी है। दिया हमारा और उजास उनका है। वे हमारे सारे कार्यों की अन्त प्रेरणा है और रहेगी। (४ सितम्बर, '६१)

मॉ का सान्निध्य

मॉ आज सदेह हमारे मध्य नहीं है, किन्तु हमारे उनके परम्पर सबन्धो की इतनी दयनीय अवस्था कभी नहीं हो सकती कि उनके विदेह के बाद उनसे सबन्धित सूक्ष्मताऍ अवरुद्ध हो उठे। अब तो हम उन्हे और सान्निध्य मे पा रहे हैं।

(२१ नवम्बर, '६१)

मॉ : नि: स्वार्थ सेवा का अवतार

मॉ का जीवन एक इतना बडा आदर्श था जिसे पूरा करने के लिए आज मेरे पॉव गहरी थकान का अनुभव करते है, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वे इस वार्द्धक्य मे भी उसे पूरा क्षमता के साथ निभाती रहीं। यह काम कितना बडा था ? निश्चय ही मॉ नि स्वार्थ सेवा की अवतार थीं। आज हम उन्हीं के कारण कुछ है। **(२१ दिसम्बर, '६१)**

(पारिवारिक पत्रो मे-से)

मॉ को सश्रद्ध समर्पित : हिन्दी-भीली-कोश

मेरी अकिचन कृति - 'भीली-हिन्दी-कोश' ममता-मूर्ति पूजनीया मॉ को सश्रद्ध समर्पित है, उन मॉ को जिन्होने विषम आर्थिक परिस्थितियों में भी मुझे उच्चतम शिक्षण के लिए सदैव प्रेरित किया है। **(२ अक्टूबर, '६२)**

(हीरा भैया प्रकाशन की सर्वप्रथम पुस्तक अक्टूबर १९६२ में प्रकाशित)

मॉ का चौका जैनाहार के अनुरूप

परिवार का चौका शुद्ध हो, उसमे वही आये जो जैनाहार के अनुरूप हो और जो स्वास्थ्य पर अच्छा सतुलित असर डालता हो। मॉ इस बात का निरन्तर ध्यान रखती थीं कि जो भी सुधा-बिना, साफ-सुथरा और सेहत के अनुकूल हो। उन्हे चरपरा, बहुत खट्टा-मिट्ठा पसन्द नहीं था, किन्तु जहॉ तक मेरा खयाल है उन्होने परिजनो पर अपनी पसन्द का होने, न होने को कभी थोपा नहीं।

मॉं स्वाभिमानिनी थीं

वे पढी-लिखी नहीं थी, किन्तु अक्षर-ज्ञान उन्हे अच्छा था। वे अपनी व्यस्त चर्या में 'भक्तामर' गुनगुनाया करती थीं और कभी-कभार शाम-सबेरे पद्मपुराण का एकाध पृष्ठ बॉच लिया करती थीं। शास्त्र सुनने मे उनकी रुचि थी, । किन्तु अधिकाश वक्त वे बच्चो मे अच्छे सस्कार बने इसकी चिन्ता रखती थीं; वे स्वाभिमानिनी थीं, इसीलिए याचना की जगह किफायत से काम करना पसन्द करती थीं।

कोई खाली हाथ नहीं लौटा।

मुझे याद है हमारे द्वार से सोलह दिसम्बर १९५७ तक (उनके निधन तक) कोई खाली हाथ या भूखा पेट नहीं लौटा। वे कम खा सकती थीं, भूखी या अधपेट रह

सक्ती थीं, किन्तु घर के सामने से कोई जरूरतमद खाली हाथ निराश लौट जाए यह उन्हे बर्दाश्त नहीं था। (तीर्थंकर, वर्ष १७, अक १२, अप्रैल, '८८)

मॉ की दिवगति का वह समय

सबन्ध-मुक्ति की एक झलक मुझे मॉ के निधन के क्षणो मे मिली थी। १६ दिसम्बर, १९५७ को दोपहर-पूर्व यही कोई ११-१२ बजे का समय था। उनकी सॉस उखड़ गयी थी, किन्तु लग रहा था कि अध्यात्म-के-किसी मर्म ने उन्हे भीतर-भीतर काफी सुस्थित कर दिया था। उनकी ऑखो मे-से स्थितप्रज्ञता झॉकने लगी थी। वे बोल नहीं सकती थीं, सिर्फ देख सकती थीं, किन्तु उनके इस देखने मे-से भाषा की अपेक्षा अधिक जाना जा सकता था। पता चलने लगा था कि अब उनके प्रस्थान के क्षण आ पहुँचे है। मै कह रहा था - 'मॉ, सब कुछ भूल जाओ। यहॉ कोई किसी का नहीं है। सब खुदगर्ज है। तुम अपने बारे मे सोचो। दुनिया को अपने बारे मे सोचने दो। मॉ, सच सिर्फ इतना है कि तुम हो और इस तरह कुछ हो कि उसकी तुलना मे ससार मे कुछ भी नहीं है। अपनी शक्ति को पहचानो और सासारिक सबन्धो से शून्य हो जाओ।'

और मैने देखा कि उनकी पलको-की-प्राची से सबन्ध-शून्यता का एक सूर्योदय हुआ है और वे एक अप्रतिम/अविस्मरणीय मुस्कराहट के साथ हमसे बिदा हो गयी है (निधन/देहान्त अपरान्ह १ बजे)

मृत्युपर्यन्त का आश्वासन

अपनी मॉ को मैने समान्य और असामान्य दोनो स्थितियो मे देखा। ममत्व की तीव्रतर स्थिति मे भी उनकी समीक्षा की और मोह-के-क्षीण-होते-क्षणो मे भी उन्हे देखा, किन्तु यह जो अन्तिम दर्शन हुए उस दृश्य का तो कोई मुकाबला ही नहीं है। वह मृत्युपर्यन्त का आश्वासन है। वे अद्‌भुत थीं उस क्षण ! उस वक्त उनका चर्म-शरीर मेरे सामने नहीं था - मै तो उनके रोम-रोम से यही सुन रहा था कि मैने तो यह सफर कर लिया है, तुम भी वक्त-रहते इस/ ऐसे सफर के लिए तैयारी कर लेना-सबन्धो मे कोई सार नहीं है। जो कुछ है निर्लिप्त / असबद्ध होने मे है। जानो, किन्तु जाने हुए मे स्वय को फॅसाओ मत। दर्पण की तरह रहो। यह जो आरसी (दर्पण) है, यही कैवल्य का खुलासा है। समझो सबद्ध न हो कर जानने का सुख निराला है। इस निरालगी की कोई उपमा नहीं है।

(तीर्थंकर, वर्ष १८, अक २, जून, '८८)

ॐ माँ मंगलमय यह जीवन हो !

मन में मगलमय विचार हो,

वाणी मे उसका ही स्वर हो,

कार्यो मे साकार रूप हो,

मधुर त्रिवेणी का सगम हो।

ॐ माँ मगलमय यह जीवन हो।

आँखो से हम मगल देखे,

कानो से हम मगल सुन ले,

मुँह से मगल वाणी बोले,

यह जीवन समता-सेवामय हो।

ॐ माँ मगलमय यह जीवन हो।

(पारिवारिक प्रार्थना)

माँ · डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र) मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर -४५२००९ (म प्र), टाइप सैटिग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म प्र), प्रथम संस्करण १६ दिसम्बर, १९९७; (माँ की ४० वी पुण्यतिथि) मूल्य दो रुपये।

पिताजी और उनका स्वाध्याय

- पिताजी के मन मे समाज-सेवा की आकाक्षा सोते-जागते बनी रहती थी। उनके मन में नया कुछ करने की आकांक्षा का समुद्र आठो याम लहरें भरा करता था। उनकी सेवाओ का जैसा चाहिये वैसा मूल्याकन उनके जीवन-काल मे नहीं हो सका।

- उनका मानना था कि दुनिया का कोई काम छोटा या बडा नहीं है - हम ही उसे अपनी नीयत और निष्ठा से छोटा या बडा बनाते है।

- वे हीरा भैया प्रकाशन के सस्थापक थे। उन्होने जो निर्देशक सिद्धान्त घोषित किये थे हम उनका अक्षरश पालन कर रहे है।

- डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

ऐसे थे पिताजी

स्वाध्याय/धर्मध्यान मे प्रवृत्त

मूलत· पिताजी शिक्षक रहे है और साहित्य के पठन/पाठन मे उनका विशेष अनुराग रहा है। माँ के आग्रह के कारण भी उन्हे सद्ग्रन्थो के वाचन का मणिकाचन योग प्राप्त होता रहा है। प्रतिपादन की सरस-सुवोध शेली इसी का मधुर फल है उन्होने पक्षाघात-जेसे असाध्य रोग पर स्वात्मवल से विजय प्राप्त की थी और स्वाध्याय तथा धर्मध्यान मे प्रवृत्त रहे। जीवन की क्षण-भगुरता ने उनको अधि प्रशान्त और द्रव्य-दृष्टि-युक्त बनाया है।

जीवन की मूल प्रेरणा

उत्साही, कर्मठ, ममतालु स्वभाव, पुरुषार्थी, सेवाभावी, सादगी और संवेद के धनी, मृदुभाषी, स्वाभिमानी, दृढनिश्चयी, श्रमी, स्वावलम्बी, सघर्षो मे अ विकल (निराकुलता) उनके विशेष गुण, जीवन की मूल प्रेरणा थी

जहाँ सुमति तहँ सपति नाना ।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदान ॥

- तुलसी

('बिन खोजा तिन पाइयाँ' से)

चरितार्थ के योग्य

पिताजी-माँ को कला और उसके आधार की तरह अलग-अलग मै देख ना पाता। रेखाओ को घटा कर तस्वीर नहीं बन सकती। माँ को हटा कर पिता नहीं बनते और पिताजी से दूर माँ नहीं दीखतीं। दोनो मे जीव-देह सा तादात्म है। इतना गहरा कि मुझे तो भेद-विज्ञान से भी नहीं सूझता। पिता की भावभूमिका गहन-गम्भीर है। माँ की तरह वे भी समझ कर आचार उद्धृत करने के लिए है। (३१ मई, '५८

घनीभूत ममता

पिताजी के पत्र उनके अक्षय्य चिन्तन के द्योतक है। उनकी हम सब पर जो घनीभूत ममता है, वह उनके सुविशाल हृदय का प्रतीक है औ हम उसे पा कर अहोभाग्य मानते है। (५ जून, '५८)

प्रत्यक्ष सिखावन

पिताजी का साहस, धीरज, सतोष, स्वावलम्बन-निश्चय ही हमे कई प्रत्यक्ष सिखावन देते रहे है। (२८ मार्च, '६१)

परिवार के विशाल वट वृक्ष

ईश्वर हमे पिताजी से निर्विचिकित्सा, किफायतसारी, विवेक, सतुलन, ममता और मदद की आदत सीखने की सद्‌बुद्धि दे। मै यह कहूँ कि पिताजी हमारे परिवार के विशाल वट है और हम सब उसकी जटाजूट तथा शीतल / ठडी छॉव तो इस औपम्य मे कहीं कोई अतिशयोक्ति नहीं है। (२० मई, '६१)

मूलत शिक्षक

पिताजी मूलत शिक्षक थे, उनका वह उत्तराधिकार ज्येष्ठ होने के नाते मै चला रहा हूँ। (२८ मई, '६१)

गुणानुवर्ती स्वरूप

पिताजी को मैने खूब परख लिया है, वे अडिग है। उनका गुणानुवर्ती स्वरूप अडिग है, अब तो उनकी सहनशीलता स्मित रेखाओ मे रूपान्तरित हो गई है। (२५ नव, '६१)

पूज्य पिताजी को

भील : भाषा, साहित्य और संस्कृति

(प्रथम सस्करण, मई, १९६४)

पूज्य पिता

स्वर्गीय श्री भैयालालजी जैन की

पुनीत स्मृति में

भीली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

(शोध-प्रबन्ध का भाग-१ भाषा- खण्ड, प्रथम सस्कारण, फरवरी, १९७१)

उनका जीवन-काल मे मूल्याकन नहीं हो सका

पूज्य पिताजी दिगम्बर जैन मालवा प्रान्तिक सभा, बड़नगर (उज्जैन) के महाप्रबन्धक थे। वे सभा की दो प्रमुख प्रवृत्तियो (औषधालय/अनाथालय) के सस्थापको मे-से एक थे। उनके मन मे समाज-सेवा की आकाक्षा सोते-जागते बनी रहती थी। वे वेतन तो लेते थे, किन्तु सभा के दफ्तर मे उन्होने एक नौकर की तरह काम नहीं किया, किन्तु उनका दुर्भाग्य रहा कि उनकी सेवाओ का जैसा चाहिये वैसा मूल्याकन उनके जीवन-काल मे नहीं हो सका। वे कवि और चित्रकार भी थे। उनके मन को नया कुछ करने की आकाक्षा का समुद्र आठो याम लहरें भरा करता था।

हीरा भैया प्रकाशन के संस्थापक

पूजनीया माँ का १६ दिसम्बर, १९५७ को देहान्त हो गया। 'हीरा भैया प्रकाशन' उनकी पावन स्मृति मे निरन्तर पल्लवित-पुष्पित होता गया। वर्ष १९६९ मे पूज्य पिताजी को पक्षाघात हुआ। उन्होने काफी संघर्ष झेला, १५ अक्टूबर १९७२ मे उनका निधन हो गया। वर्ष १९६६ मे हम ने निवेदन किया था कि पिताजी 'हीरा भैर प्रकाशन' की रीति-नीति के बारे मे कुछ निर्देशक सिद्धान्त निश्चित करे, फलस्वरू उन्होंने जो कुछ घोषित किया हम उसका अक्षरश: पालन कर रहे है।

(प्रतिवेदन, १६ दिसम्बर, १९७९)

उनके प्रिय भजन की गूँज

पिताजी, जिन्हे मै 'काकाजी' कहता था, द्वारा अक्सर गुनगुनायी जाने वा महाकवि दौलतराम की यह पक्ति याद आ गयी – लगा उस क्षण जैसे वे खुद आ व उसे मेरे कान मे बोल रहे है। शब्द है –

'हम तो कबहूँ न निज घर आये।
पर-घर फिरत बहुत दिन बीते,
नाम अनेक धराये।'

(तीर्थंकर, वर्ष १६, अक ८, सित , '८६ . यात्रा-वृत्तान्त)

कोई काम छोटा या बड़ा नहीं

पिताजी बडनगर (उज्जैन) मे थे मालवा प्रान्तिक सभा के प्रबन्धक। उनकी ब साख थी। वे सस्था को अपने से कभी जुदा नहीं मानते थे, अत रात-दिन उस सेवा मे लगे रहते थे। उनका इस तरह मधुमक्खी-सी निष्ठा से अहर्निश काम पर ल रहना लोगो को अच्छा नहीं लगता था- पर वे क्या करते ? यह तो उनका स्वभ था। मुझे खयाल है वे थे मैनेजर, किन्तु छोटे-बड़े सारे काम बड़े गर्व-गौरव से कर थे। उनका मानना था कि दुनिया का कोई काम छोटा या बडा नहीं है – हम ही उ अपनी नीयत और निष्ठा से छोटा या बडा बनाते है।

(तीर्थंकर, वर्ष १७, अक ८, सित , '८७ यात्रा-कथा)

कोई-न-कोई काम

पिताजी का एक स्वभाव था। वे कोई-न-कोई काम अवश्य करते थे। रीते बैठना उनके स्वभाव मे नहीं था। ये दोनों संस्कार पता नहीं कैसे मुझ मे भी आये। मै अपनी आत्मीयता को विस्तृत करना चाहता रहा हूँ, दूसरे, कभी निष्क्रिय रहूँ या बैठूँ यह मुझे गवारा नहीं है। (तीर्थंकर, वर्ष १७, अंक १२, अप्रैल, '८८)

सम्यक्त्व की अनुभूति

स्व पिताश्री भैयालालजी जैन ने गहरे पानी मे उतर कर सम्यक्त्व के विचार के मणि-मुक्ता सुलभ किये थे। उन्होने विचार-मन्थन कर सम्यक्त्व को अधिक-से-अधिक सरल उदाहरणो मे समझने/समझाने का प्रयास किया था। उनके परम्परिक विचारो के नवनीत को आधुनिक शैली मे यहॉ प्रस्तुत किया जा रहा है।

को मै, कहा रूप है मेरो, पर है कौन प्रकारा हो ?
आस्रव कहा, बन्ध काहे का, आस्रव रोकनहारा को ?
करत कर्म-बन्धन काहे से, थानक कौन हमारा हो ?
आकुल-रहित होय इमि निसिदिन, कीजे तत्त्व विचारो हो ॥

-पं भागचन्द

अपनी सुध भूलि आप, आप दुख उपायौ।
ज्यौं सुक नभ-चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ ॥
चेतन अविरुद्ध सुद्ध दरस बोधमय विसुद्ध।
तजि जड़ रस फरस रूप, पुद्‌गल अपनायो ॥
इन्द्रिय सुख-दुख में नित्त, पाग राग में चित्त।
दायक भय विपत्ति वृन्द, बंध को बढ़ायो ॥
चाह-दाह दहै, त्यागौ न ताह चाहे।
समता-सुधा न गाहे, जिन निकट जो बतायो ॥
मानुष-भव सुकुल पाय, जिनवर शासन लहाय।
'दौल' निज स्वभाव तज, अनादि जो न ध्यायो ।।

-प दौलतराम

(प भागचन्दजी ने अपने पद मे निराकुल होकर प्रतिदिन आत्मतत्त्व पर विचार करने की सीख देते हुए कहा है कि हमे अपने आत्मस्वरूप का चिन्तवन करते हुए कर्म के आने-बन्धने-छूटने की प्रक्रिया समझनी चाहिये, जिससे स्पष्ट हो सके कि हमारा सच्चा निवास-स्थान कौन-सा है।

इसी प्रकार प दौलतरामजी ने अपने पद मे सविस्तार समझाया है कि यह प्राणी जीव अपने आत्म-स्वभाव को भुला कर स्वय ही दु ख उठाता है। उदाहरणार्थ जिस प्रकार बहेलिये के द्वारा डाले गये कमल-जाल मे तोता स्वयं फँस जाता है; किन्तु छोड़ कर निकल नहीं पाता।

हकीकत यह है कि चैतन्य/आत्मा आबाधित है, शुद्ध है, दर्शन-ज्ञान से युक्त है, लेकिन इस आत्म-स्वभाव को छोड कर/भूल कर यह प्राणी जड, रस, स्पर्श, रूप पुद्गल-रूपी शरीर को अपनाता है। आत्मा को अपनाने के बजाय अनात्म यानी शरीर को अपना मानता है, समझता है। इन्द्रियजन्य/इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सुख-दु ख मे, रागद्वेष में हमेशा अपने चित्त को लगाये रखता है। ये सव तो जन्म-मरण/भव मे भय देने वाले विपत्ति-रूप है, कर्म-बन्धन को बढाने वाले है। यह जानते हुए भी कि ये इच्छारूपी अग्निको प्रज्ज्वलित करने वाले है, फिर भी इन्हे छोडना नहीं चाहता, यह कितनी बड़ी विडम्बना है! जिनेन्द्र देव/पंचपरमेष्ठी ने समतारूपी अमृत को अपने समीप/पास बताया, लेकिन यह प्राणी/जीव उसे ग्रहण नहीं कर सका/सकता। इससे मनुष्य-जीवन/भव, जिसे दुर्लभ माना गया है, उसके साथ अच्छे कुल मे जन्म भी लिया, जिसमे जिनेन्द्र भगवान् का आत्मानुशासन का लाभ मिला है।

पं दौलतरामजी सहधर्मी मानव को सिखावन देते हुए कहते है कि अनादि काल मे जिसका ध्यान नहीं किया, ऐसे आत्म-स्वभाव (सच्चिदानन्द) का भजन करना चाहिये।)

आत्म-तत्त्व की खोज-स्वाध्याय की दिशा मे अग्रसर होने के लिए ये दोनो पद बडे सार्थक दिखाई देते हैं। किसी भी कार्य की सिद्धि या सन्धान के लिए सचा श्रद्धान, सचा ज्ञान और सचा चारित्र्य अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र्य की सचाई और खरेपन को ही सम्यक्त्व कहा गया है। सम्यक्त्व के बिना सारा सूत कपास है। इसके अभाव मे ज्ञान और चारित्र्य भी नहीं खिल पाते। सार यही है कि हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है। जिसने भी इसे प्राप्त कर लिया, उसमे सम्यक्त्व और चारित्र्य विकसित हो उठते है। यह रत्नत्रय धर्म ही आत्मा का स्वभाव है। इस महान् सम्पदा के आगे सारे ऐश्वर्य फीके है।

प दौलतरामजी ने अपनी लोकप्रिय कृति 'छहढाला' मे निश्चय सम्यक्त्व को बडे ही सरल शब्दो में समझाया है

निश्चय सम्यग्दर्शन : 'पर द्रव्यन से भिन्न आप मे रुचि सम्यक्त्व भला है।'

निश्चय सम्यग्ज्ञान : 'आप रूप को ज्ञानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है।'

निश्चय सम्यक् चारित्र्य : 'आप रूप मे लीन रहे चिर सम्यक् चारित्र सोई।'

इसी प्रकार निर्दोष सम्यक्त्व की विवेचना करते हुए प दौलतरामजी का यह पद उल्लेखनीय है

'दोष-रहित गुण सहित सुधीजे सम्यग्दर्श सजे हैं।
चरित्र मोहवश लेश न संयम पै सुरनाथ जजै हैं ॥
गेही जै गृह में न रचे ज्यों जलते भिन्न कमल है।'

(गृहस्थी मे उलझा हुआ व्यक्ति भी निर्लिप्त और अनासक्त रह कर सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है, ठीक वैसे ही जैसे कमल पानी मे रह कर भी उससे अलिप्त रहता है।)

उन्होने सम्यक्त्वी जीव की महत्ता का बड़ा व्यापक वर्णन किया है कि सम्यक्त्वी जीवन के मामूली धरातल के ऊपर उठ जाता है और स्वभावत निम्न योनियो मे नहीं जनमता। सक्षेप मे, सब धर्मो का मूल यही है, इसके अभाव मे सारे क्रिया-कलाप दु खद है, निस्सार है, व्यर्थ है।

श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' मे सम्यग्दर्शन की महिमा का बड़ा अच्छा वर्णन आया है 'सम्यग्दर्शनशुद्ध ' वही व्यक्ति हो सकता है जो सम्यग्ज्ञानी है। वह तात्त्विक, स्वस्थ और सही दृष्टिकोण रखता है और निरतर यत्नपूर्वक अपनी दृष्टि को सम्यक्त्वी बनाता रहता है।

श्री समयसार मे भी बतलाया गया है कि निश्चय नय से जीव का स्वभाव अपनी शुद्ध ज्ञानमय स्थिति का अनुभव करता है। इस तरह वह अपने ही आनन्दमय स्वभाव का भोक्ता है, परभाव का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

सोलहकारण भावनाओ मे भी सबमे पहिली भावना 'दर्शनविशुद्धि' है, कविवर बनारसीदासजी ने सम्यग्दर्शन की महिमा का इस प्रकार उल्लेख किया है

'भेद-विज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करै सिव मारग में जग मे जनमे जिनेश्वर के लघुनन्दन ॥
सत्य स्वरूप सदा जिनके प्रकट्यो, अवदात मिथ्यात्व-निकन्दन।
शान्त दशा तिनकी अवलोकि, करे कर जोर 'बनारसी' वन्दन ॥'

(जिनके अन्तर मे 'स्व-भिन्न, पर-भिन्न' का भेद-विज्ञान जागृत हो गया है, उनका चित्त चन्दन के समान शीतल हो जाता है। वे तो शिव मार्ग-मोक्षमार्ग मे अग्रसर होते हुए जगत मे क्रीडा करते है-आनन्दित रहते हे, वे तो जिनेश्वर के लघु नन्दन ही है। जिनके अन्तर मे सदैव/निरतर सम्यक्त्व का उदय हो कर मिथ्यात्व नष्ट हो गया है, उन सम्यक्त्वी/सम्यग्दृष्टि की शान्त/निराकुल अवस्था को देख कर बनारसीदास हाथ जोड़कर उन्हे प्रणाम करता है।)

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अनुभव करता है : 'मै चैतन्यमयी हूँ, मेरा मरण नहीं, मैं निर्भय हूँ, मे रोगी नहीं हूँ और न ही मै बालक, युवक, वृद्ध हूँ। ये सब शरीर के विकार है । मै तो नित्य ही परमानन्दमय परम वीतरागी हूँ अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव इस भव, परभव, मरण आदि सात भयो से मुक्त होता है। अत: यह स्पष्ट हुआ कि सम्यक्त्वी जीव भेद-विज्ञान से शुद्ध आत्मा को ही अपना लोक-परलोक अर्थात् उत्कृष्ट लोक मानता है । समयसार मे कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी है, अत. उसको वह आस्रव नहीं है, जो ससार बढाने वाला है । वह आत्मतत्त्व को परिपूर्णता से जानने वाला होता है, अत. वह स्वात्मा मे आनन्द-निमग्न रहता है और भोगो को भोगते हुए भी कर्म की निर्जरा करने मे समर्थ होता है। उसके चारित्रमोह का उदय है अवश्य किन्तु क्षय की ओर सतत् अग्रसर । कर्मबन्ध की दृष्टि से वह उस वृक्ष की भाँति है जिसका मूलोच्छेद हो गया है, अत· कितनी भी सिंचाई के बाद उसकी वह हरीतिमा लौट नहीं सकती। इसी तरह सम्यक्त्वी भोगों को भोगते हुए भी कर्मों की निरन्तर निर्जरा करता रहता है । यह सब सम्यग्दर्शन की ही अपार महिमा है।

सम्यग्दृष्टि कुगति मे नहीं जाता और यदि जाता भी है तो दोष नहीं है, क्योंकि वह वहाँ भी अपने पूर्वोपार्जित कर्मो की निर्जरा करता है। वैराग्य और स्वात्मज्ञान की ऐसी ही महिमा है । सम्यग्दृष्टि सदैव शुद्धात्मा का अनुभव करता है, ऐसा करते हुए उसे परमात्मा का दर्शन होता है, यहाँ तक कि वह परमात्मपद प्राप्त कर लेता है।

सम्यक्त्व ही संसार-समुद्र से पार उतारने के लिए नाव के समान है, यद्यपि सम्यग्दर्शन दो प्रकार से होता है, तद्यपि निश्चय सम्यग्दर्शन को ही मोक्ष का कारण जान कर धारण करना चाहिये। यह बात निर्विवाद है कि यह जीव मिथ्यात्व के प्रभाव से अन्धा हो रहा है। मिथ्यात्व अतत्त्व श्रद्धान का ही नाम है।

इस जीव को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से अनादि काल मे भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है । इसी कारण यह चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है और नाना प्रकार के सासारिक दु.खो को भोग रहा है। इसलिए इस जीव को चाहिये कि यह मिथ्यात्व का परित्याग करे और सम्यक्त्व-रूपी निर्मल जल से स्नान कर पवित्र और निष्कलक बने।

इस जीव ने मोह के कारण मिथ्या बुद्धि से पर द्रव्यो को अपना कर रागद्वेष-पूर्वक कर्म का बन्ध कर ससार मे बारम्बार जन्म-मरण द्वारा घोर संकट उठाया है। जैसे चने का लोभी बन्दर घडे मे मुट्ठी बाँध कर हाथ निकालना चाहता है, किन्तु उसका (घड़े का) मुँह ही इतना सँकडा है कि वह ऐसा कर पाने मे असमर्थ है। इस घटना को वह उलटी मान कर चल रहा है और समझ रहा है कि घडे मे कोई है जिसने

उसे पकड़ रखा है और इसलिए वह उस विषम परिस्थिति से उबर नहीं सकता। सासारिक जीव की भी लगभग यही स्थिति है। वह भी बन्दर की भाँति मिथ्यात्व की प्रतीति से मुक्ति की ओर अपने चरण उठा सकता है। एक क्षण भी यदि वह अनुभव कर सके कि 'मै शुद्ध हूँ, सुख-शान्ति से पूर्ण हूँ, ज्ञान-दर्शन से युक्त हूँ। रागादि भाव कर्म-जनित है। ये मेरे स्वरूप नहीं है। मै इनसे सर्वथा भिन्न हूँ।' तो वह अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है।

मिथ्यात्वभाव होने से पर के कर्तापने की बुद्धि होती है, ऐसे मिथ्या-प्रेरित जीव को शुद्ध परिणामो की महिमा का भान नहीं होता, वह तो सदैव रागादि भावो का कर्ता अपने को मानता है और इन्हीं मे लिप्त रहता है। इसी मिथ्यात्व के आच्छादन के कारण वह अपनी आत्मा की तेजस्विता को नहीं जान पाता और पाप-पुण्य की लोह-स्वर्ण बेड़ियाँ अपने पैरो मे डालता रहता है। सम्यक्त्वी सदैव इस प्रकार का चिन्तवन करता है 'मै अनन्त ज्ञान-शक्ति का धारी हूँ, मुझे अपने अनन्त ज्ञान का बल और विश्वास है, यह जो कुछ भी घटित है कर्मो का नाटक है, समस्त पुद्‌गल है, मेरा निश्चय से इनसे कोई सबन्ध नहीं है। मै भेद-विज्ञानी हूँ और आत्मा के शुद्ध रूप का ज्ञाता हूँ।'

जिस समय यह जीव रागादि भावोसे भिन्न होकर आत्म-स्वरूप को पहिचान लेता है, उसी समय उसे अपने सच्चे रूप का निर्मल बोध हो जाता है। जैसे अन्धकार के अभाव मे प्रकाश के सद्‌भाव का एक समय है, ठीक वैसे ही अज्ञान अथवा मिथ्यात्व के अभाव मे सम्यक्त्व का अकुरोद्‌भव है। भेद-विज्ञान की आँख खुली कि सारा सशय मिटा, भ्रम का कोहरा पलक मारते हिरण हो जाता है और उसके स्थान पर निर्धूम अग्नि धधक उठती है। कहा भी है कि 'राख उठते ही अँगारे की साख जम जाती है।' पुद्‌गल की राख के हटते ही आत्मा का जाज्वल्यमान स्वरूप निखर आता है और हम उसकी ज्योति से जगमगा उठते है। यह स्वानुभव कि 'मैं शुद्ध स्वरूप अविनाशी हूँ, न मुझे कोई रोग होता है और न ही मेरा जन्म-मरण है, यह देह विनश्वर हे, इसलिए इसके कैसे भी होने मे कोई दु ख नहीं होता।' जिन आत्मयोगियो की ऐसी निर्मल मनोभूमिका बन जाती है उन्हे ही सम्यक्त्व का लाभ होता है।

'कहै सम्यक्ती पुरुष सदा हूँ एक ही अपने रस मर्यो आपनी टेव हों।
मोह कर्म मम नाहि भ्रम-कूप है शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है ॥'

अर्थात् सम्यक्त्वी पुरुष सदैव अपने आत्मरस मे निमग्न रहता है। मोहनीय कर्म नहीं होने से वह भ्रम-रूपी कुँए से बाहर रहता है, क्योकि अब उसका शुद्ध चेतना-रूपी सिन्धु ही स्वरूप है।

भेद-विज्ञानी जीव के केवल आत्मा ही अनुभव गोचर होता है। उसके स्वानुभव मे निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र तीनों ही गर्भित हैं और यही स्वानुभव मोक्ष-मार्ग है। स्वानुभव की इस प्रक्रिया में जीव स्वयमेव समस्त विभावो अथवा परद्रव्यो से छूट कर परमात्मा हो जाता है। स्वानुभव अग्नि है जिस पर तप कर आत्मा निष्कलुष स्वर्ण बन जाता है। इस तरह सम्यक्त्वी के तत्त्वज्ञान और वैराग्य की अपूर्व महिमा है। ऐसी महिमापूर्ण विशुद्ध दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेता मनसावाचाकर्मणा विविध क्रियाऐं करता है, किन्तु अलिप्त भाव से और इस तरह वह अविराम मोक्ष-महल की सीढ़ियाँ एक-के-बाद एक चढता चला जाता है, क्योकि जो सम्यग्दृष्टि है वह हर्ष-विषाद मे सुखी-दुखी नहीं होता।

इस तरह सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उदय बन्द हो जाने से उसमे-से सांसारिक अशक्तता निकल जाती है और उसके भीतर एक अभूतपूर्व ज्ञान-जोत झलक उठती है, जिसके प्रकाश मे वह साफ-साफ देख लेता है कि 'परमाणुमात्र परद्रव्य भी मेरा नहीं है। मेरा निजी धन ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्रादि गुण है। वे सदा से ही मेरे पास है और सदैव ही रहेगे।' उसमे वैराग्य और तितिक्षा का ऐसा प्रकाश व्याप जाता है कि वह कह उठता है कि 'यह सारा त्याज्य है, निज स्वानुभव मुक्त दशा ही ग्रहण करने योग्य है।' इस सहज ज्ञान और वैराग्य के कारण वह सदैव अपने विशुद्ध रूप के अनुभव मे रुचि रखता और तन्मय रहता है। इसी के कारण पूर्व-बद्ध कर्मो का प्रवाह रुक जाता है और उनकी निर्जरा हो जाती है।

संक्षेप मे, सम्यक्त्व के स्वाध्याय का सार मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ उपाय रत्नत्रय सहित आत्मा का अनुभव सम्यक्त्व की अनुभूति है। यही पवित्र तीर्थ है और कोई तन्त्र-मन्त्र नहीं है जो आत्मोदय की निर्मल दशा तक जीव को ले जाने मे समर्थ हो।

पिताजी का प्रिय पद

हम तो कबहुँ न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ॥

परपद निजपद मान मगन है, पर परनति लपटाये।
शुद्ध-बुद्ध सुखकंद मनोहर, चेतन भाव न भाये ॥

नर पशु देव नरक निज जान्यो, परजय बुद्धि लहाये।
अमल अखंड अतुल अविनाशी, आतम गुण नहिं गाये ॥

यह बहु भूल भई, हमरी फिर, कहा काज पछताये।
'दौल' तजो अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाये ॥

– दौलतराम

(कविवर दौलतरामजी ने अध्यात्म की जो दौलत हमे विरासत मे दी है, हम उसे लगातार बिसारते आ रहे है। कवि कह रहा है - हम निरन्तर भटकते रहे हैं अज्ञान के बियाबान जगल मे। हमने कभी अपने घर लौटने की कोशिश नहीं की।

अपना घर अपना घर है, किराये-का-किराये-का है, किन्तु हमने इस मर्म को कभी जाना ही नहीं। हम पराये घर मे डेरा डाले रहे। मुसाफिरी करते रहे। कई सराये और धर्मशालाएँ बदलीं, ऐसा कभी नहीं हुआ कि अपने घर लौटने का कोई भाग्यशाली सकल्प हमने किया हो।

दूसरो की भूमिका को अपनी भूमिका मान उसमे ही हम डूबे रहे। अपनी निज की भूमिका क्या है ? इसे जानने की कोई कोशिश ही नहीं की। दूसरो की परिणति को अपनी परिणति माना। अपनी परिणति को कभी पहिचाना ही नहीं। उस पर पड़े आवरणो को हटाने का कभी कोई पुरुषार्थ ही नहीं किया।

शुद्ध, ख़ालिस, सुखधन, मनोज्ञ चैतन्य के लिए मन मे कोई रुचि-रुझान, प्यास-पिपासा नहीं बनी। वह सब रुचा ही नहीं। सदैव पर्याय-बुद्धि मे अटका रहा। आकृतियो मे फँसा रहा। आकृत की ओर ध्यान ही नहीं गया। नर, पशु, देव, नारक इन चार गतियो को अपनी निजता मान कर भटकता रहा। इनमे ही घूमता रहा। जो शक्ल लेता है, उसकी ओर ध्यान ही नहीं गया। आकृतियो (फॉर्मो) मे मैंने अपने मूल रूप को भुला दिया।

इस अन्तहीन भटकाव मे मै उस अविनाशी तत्त्व को भूल बैठा जो निर्मल है, अखण्ड है, अद्वितीय है, अविनश्वर, अमर है। मैंने उस आत्मतत्त्व का गुण-सकीर्तन कभी नहीं किया।

जब यह भारी/अक्षम्य भूल हुई है, तब फिर पछताने से क्या होगा ? कवि कहता है अभी भी कुछ नहीं गया है। सब कुछ तेरे हाथ मे है। आज भी यदि तू विषय-भोग, मोह-ममता छोडे और सद्गुरु-की-बानी के लिए मन की झोली खोल दे तो अपने घर लौट सकता है।

अपना घर अपना घर, पराया पराया है। स्वाधीनता का आनन्द अप्रतिम है। वह आनन्द अपने घर मे ही सभव है। पराया घर तो पराधीनताओ का अड्डा है, वहाँ अपने लिए पूरी स्वतत्रता से कुछ किया ही नहीं जा सकता, अत स्वय मे लौट और स्वय को पा।)

स्वाध्याय-सार

मानव-जीवन का यथेष्ट लाभ लें

जैनधर्म सद्भावनाओ से ओतप्रोत है। पूजन, स्वाध्याय, सामायिक, ध्यान, सयम, तप को सद्भावनाऍ कहे या आत्मचिन्तन कहे। तीर्थकर-जैसी पूज्य आत्माऍ सोलहकारण भावनाओ से स्व-पर कल्याण मे अग्रसर हुई है। हमे भी इस सन्मार्ग पर चल कर स्व-पर कल्याणरत रहना है, होना है। हम क्यो नहीं अपनी भावनाऍ शुद्ध बनायें, मानव-जीवन का यथेष्ट लाभ ले, हम भी तो आखिर मनुष्य है। यदि इस पर्याय मे उद्धार न कर सके, तो यह हमारा दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। (१६ मई, '६१)

हमारा मुख्य ध्येय

इस क्षणभगुर तन-मन पर संयम-रूपी अकुश रख कर, सावधान हो कर तप, त्याग, आकिचन्य, ब्रह्मचर्य, धर्म-साधना द्वारा कर्म-बधन-मुक्त होना है। यही हमारा मुख्य ध्येय है। (२१ सित, '६१)

ममता से समता की ओर अग्रसर हो

ममता भाव से समता भाव की ओर बढे तभी मनुष्य-जन्म सफल हो सकता है।
(१४ अक्टू,'६१)

मानव-जीवन का सार

हम अपनी आत्मोन्नति के लिए स्वाध्याय द्वारा आत्मचिन्तन करे। ममता से समता की ओर बढने मे मानव-जीवन का सार समाया है। (२७ अक्टू, '६१)

(पिताजी के पत्रो मे-से)

[पिताश्री भैयालालजी जैन **जन्म :** २५ अप्रैल, १८९२
दिवंगति : १५ अक्टूबर, १९७०]

पिताजी और उनका स्वाध्याय : डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन **प्रेमचन्द जैन** © **हीरा भैया प्रकाशन;** प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१,** (म प्र) मुद्रण · **नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर -४५२००९** (म प्र), टाइप सैटिग **प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५)** (म प्र), प्रथम सस्करण · **१५ फरवरी, १९९८** (पिताजी की २७ वे वर्ष की ४ थी मासिक पुण्यतिथि) मूल्य **दो रुपये।**

जैनधर्म में

स्वाधीनता, वैज्ञानिकता, व्यावहारिकता

□ तीर्थंकर-प्रणीत जैनधर्म स्वाधीनता की ओर व्यक्तित्व को इस सहिष्णु शैली से ले जाता है कि समाजपरकता उसमे स्वयमेव जन्मने लगती है। जैनो की स्वाधीनता आत्मपरक नहीं है, वह इस तरह की आत्मचर्या है कि उसकी कोख से समाजपरक आत्मस्वातन्त्र्य का पुत्र जनमता ही है।

□ जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। यहाँ धर्म और विज्ञान दो विरोधी तथ्य नहीं है। एक जीवन के शिवत्व का और दूसरा सत्य का प्रतीक है। जैनधर्म के लिए कोई उपयुक्त शब्द हो सकता है तो वह आत्मविज्ञान ही है।

□ जैनधर्म और विज्ञान के बीच समानता का सुदृढ सूत्र है कि जैनधर्म यह कभी नहीं मानता कि जो भी है वह निरपेक्ष है, उसका सारा ढाँचा ही सापेक्षिकी पर खडा है। विज्ञान का ढॉचा भी सापेक्षतावाद के सिद्धान्त पर सुस्थित है।

□ जैनधर्म की व्यावहारिकता है उसका यह उपदेश कि यदि हम आचार मे अहिसक और विचार मे अनेकान्तिक है, तो फिर कहीं- कोई टकराहट / कहीं कोई घाटा नहीं है। सब ओर शान्ति, सुख और समृद्धि का साम्राज्य होगा।

- डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

जैनधर्म में आत्मस्वातन्त्र्य

आत्मस्वातन्त्र्य का अर्थ है स्वाधीनता, हुकूमत खुद की, खुद पर, खुद के द्वारा। दूसरे शब्दो मे 'भेद-विज्ञान' के माध्यम से 'स्व' का ऐसा अलगाव कि 'पर' भी स्वाधीनता का रसास्वाद कर सके। जैनधर्म की दृष्टि से स्वाधीनता की स्थिति नयी नहीं है, उसका सम्यक् बोध नया दीख सकता है। यह जानना कि आत्मा का निजी व्यक्तित्व क्या है, उसकी गुणवत्ता क्या है, स्वाधीनता है। इसके लिए एक शब्द और है - 'स्वरूपाचरण', सचरण स्वय मे, यात्रा, स्वय-की-स्वय-मे।

जैनधर्म धर्म, किन्तु उसके चिन्तन की संपूर्ण प्रक्रिया वैज्ञानिक · जैनधर्म को लेकर कई भ्रम है, उनमे पहला यह है कि 'वह धर्म है इसलिए उसके किसी वैज्ञानिक अनुशासन से सबन्ध का कोई प्रश्न नहीं है'।

पता नहीं क्यो, धर्म और विज्ञान को दो अलग-अलग तम्बुओ मे रख कर देखा जाता है, खासतौर से जैनधर्म को, जिसकी शुरूआत ही विज्ञान से है। वस्तुत यह भ्रान्ति पश्चिम की फैलाई हुई है। वहाँ धर्म को एक दकियानूसी 'डिसीप्लीन' और विज्ञान को नामी अनुशासन माना जाता है।

विज्ञान जानने की तर्कसम्मत पद्धति है, उसका मूलाधार तर्क है, दूसरी ओर धर्म की बुनियाद स्वानुभूति है। यह क्षेत्र किचित् अमूर्त है। इसी अमूर्तता के कारण आज का मानव-मन उसे एकदम स्वीकार करने की स्थिति मे नहीं है। इस दृष्टि से जैनधर्म धर्म तो है, किन्तु उसके चिन्तन की सम्पूर्ण प्रक्रिया वैज्ञानिक है। वह ईश्वर मे आस्था रखता है, किन्तु उसके मानने का अपना निराला ढग है। वह आत्मा मे परमात्मा की सभावना हर क्षण मानता है। यह सभावना जडता का आवरण हटते ही यथार्थ बन जाती है, जो स्वाधीनता की ओर कदम उठाये हुए है, आपरूप को चीन्ह रहा है, जिसने सम्यक्त्व की राह पकड ली है, मिथ्यात्व को छिन्न-भिन्न किया है, उसकी दिशा स्वाधीनता ही है।

जैन दृष्टि से स्वाधीनता का सर्वप्रथम संदर्भ सम्यक्त्व की तलाश : सम्यक्त्व की अनुपस्थिति मे स्वाधीनता प्रकट ही नहीं होगी। इस सम्यक्त्व को आप चाहे सत्य कहे, या स्वाधीनता, है यह एक महत्त्व की अनुभूति। जैनधर्म आत्मा को यानी जीव को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। शेष पॉच द्रव्य है, किन्तु उनमे चेतनता नहीं है। पुद्गल आत्मा को प्रच्छन्न करता हे। वह प्रच्छद की तरह उसे ढॅक लेता हे। 'पुदगल' जिसकी सज्ञा है, वह 'पर' हे। आत्मा का स्वत्व क्या हे, इसकी पहिचान भेद-विज्ञान से होती हे और भेद-विज्ञान की ऑख तपश्चर्या से उघडती हे। समूचा

जैनधर्म इसी पृथक्करण पर आधारित है। पराधीनता की समाप्ति मोक्ष है, अन्य शब्दो मे, स्वाधीनता की उपलब्धि मुक्ति है।

संसार का हर द्रव्य स्वाधीन वह न यह है, न यह वह है, सब स्वतन्त्र है, स्वाधीन हैं। जीव पुद्गल नहीं हो सकता, पुद्गल जीव नहीं हो सकता। दोनो स्वाधीन है। जीव मान रहा है कि पुद्गल उसका नियमन कर रहा है, या वही उसका रूप है, किन्तु यह भ्रान्ति है ठीक वैसी ही जैसा कि अग्रेज सोचते थे कि हिन्दुस्तान उनका है, अपना है, उनका सूर्य कभी अस्त नहीं होता। उस तोते की बात सोचिये, जो नली पर भ्रान्ति मे कष्ट भोग रहा है, न नली ने उसे पकडा है,और न ही वह परतन्त्र है। असल मे उसे स्वत्व का बोध नहीं है। स्वाधीनता का बोध होते ही वह उन्मुक्त है। प्रश्न सिर्फ बोध का है। हिन्दुस्तानियो को अग्रेजो की पराधीनता मे स्वाधीनता का स्वाद आने लगा था, गलत था, गाधी ने कहा 'यह झूठ है,' तुम्हारा स्व-राज्य है, और वही असली राज्य है। स्वाधीनता किसी के अधीन कैसे रह सकती है ? उसकी अनुभूति स्वस्फूर्ति है, वह आत्मबोध मे ओत-प्रोत है। असल मे निज की गुणात्मकता का बोध ही स्वाधीनता है। 'मै क्या हूँ', 'क्या कर सकता हूँ' इसका बोध स्वाधीनता है।

जैनधर्म का आरम्भ चिन्तन की स्वाधीनता मे उसका अनेकान्तवाद स्वाधीन चिन्तन को उत्प्रेरित करता है। आग्रह पराधीनता हे, आप आग्रह रखते है, तो आग्रह की दासता मे हुए। स्वस्थ चिन्तन मे अनाग्रह और सहिष्णुता का बहुत बड़ा स्थान है। जो यह मान कर चलते है कि 'जैसा मैं मानूँ, वैसा ही दूसरा माने, वे अभागे पराधीन इसलिए हैं कि दूसरो पर स्वय को निर्भर कर रहे हैं। दूसरो के इनकार करते ही उनका अस्तित्व सकट मे पड जाएगा। जैनधर्मगत स्वाधीनता का पहला मन्त्रपाठ है - 'अन्यो की स्वाधीनता को स्वीकार करना'। जो दूसरो के आत्मस्वातन्त्र्यको स्वीकार नहीं करता, वह पराधीन है। आत्मवत् है, सब, जैसा मै, वैसे वे। चेतन मै, चेतन वे, जड़ अलग, चेतन अलग। एक एक है दो की सत्ता का अतिक्रम उससे कैसे होगा ? 'क' 'क' है, वह 'ख' कैसे हो सकेगा ? जो जो हे, वह वही है, और रहेगा। जैनधर्म इस तरह की चिरन्तन स्वाधीनता को स्वीकार करने वाला धर्म है। वह मानता है कि बदलाव की प्रक्रिया मे भी आत्मतन्त्र बना रहेगा। आत्मा नहीं बदलेगी, रूप बदलेगा। अन्यथा दिखायी देने का मतलब, मूल का विनाश नहीं है, रूपान्तर-मात्र है। मूल कभी नष्ट नहीं होता, नष्ट होता है रूप, इस तरह जो रूप ओढ रहा है वह ध्रुव है। जो ध्रुव है, वह शक्ल का मुखापेक्षी नहीं है। पैसा एक शक्ल है, नोट दूसरी, चेक तीसरी, यह मनुष्य द्वारा स्वीकृत विनिमय की भिन्न-भिन्न शक्ले ह। मूल एक हे, प्रयोजन एक है, आकार भिन्न है। मूल स्वाधीन है, और इस कदर स्वाधीन है कि ये दूसरो को

पराधीन कर नहीं सकता, और दूसरे इसके अधीन हो नहीं सकते। कोई यह कहे कि 'मै ऐसा कर सकता हूँ, कर डालूँगा', तो जैनधर्म मुस्कुरा कर अलग हट जाएगा, क्योकि वह जानता है, जीव मे स्वाधीन कर्तृत्व और भोक्तृत्व है, 'पर' के कहने से कुछ होने का नहीं। इस तरह जैनो की स्वाधीनता-व्याख्या विलक्षण है, यह स्वाधीनता कुछ ऐसी किस्म की है, जो किसी को पराधीन मानती ही नहीं, इसे अन्यो को स्वाधीन देखने मे आनन्द आता है। स्वाधीनता की उपलब्धि ही जैनधर्म का अन्तिम प्रतिप्राद्य है।

जैनों के 'तीर्थकर' स्वाधीनता के संदेशवाहक; स्वाधीनता के प्रवर्त्तक, स्वाधीनता के अन्वेषक वे तपश्चर्या के माध्यम से चेतन तत्त्व को जड से पृथक् करने वाले विज्ञानी है। जैनो की तपश्चर्या विज्ञान के प्रयोगो से कम नहीं है। ये 'तीर्थकर' स्वाधीनता के अनावरणकर्ता है, 'स्व-पर' के व्याख्याकार है। उन्होने स्वाधीनता का अलौकिक रस चक्खा और फिर स्वाधीन होने का उपदेश दिया। वे ससार के किसी प्राणी को पराधीन नही देखना चाहते। यह है एक आत्मपरक व्यक्ति का समाजपरक आत्मस्वातन्त्र्य। किसी को अस्वीकार मत करो, सबकी सत्ता मानो, किसी का विरोध मत करो, सबकी सुनो, किसी से छीनो मत, तुम अपने पास उतना रखो, जितना अन्यो के लिए जरूरी न हो। जैनो की समाजपरक दृष्टि उनके पॉच महाव्रतो मे सन्निहित है। अपरिग्रहवाद दूसरो को स्वाधीन देखने की सबसे बडी कला है। परिग्रह पराधीनता है, जो परिग्रह मे डूबेगा वह शोषण की ओर जाएगा। अपरिग्रही शोषण-मुक्ति की ओर जाएगा, यह उसका स्वाभाविक सचार होगा। इस तरह जैनो का आत्मस्वातन्त्र्य आरम्भ से अन्त तक समाजपरक है।

'तीर्थकरो' के जीवन से यह तथ्य प्रतिध्वनित है कि आत्मपरकता को इस तरह और इतना विकसित करो कि एक निर्मल समाजपरकता उसमे स्वयमेव प्रतिभासित हो उठे। व्यापक आत्मपरकता कभी दूसरो को दास नहीं बनाती। आत्मरति और आत्मस्वातन्त्र्य में अन्तर है। दोनो दो अलग-अलग चीजे है। आत्मस्वातन्त्र्य मे अहकार से निवृत्ति है और आत्मरति मे अहकार की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जैनधर्म, अनुक्षण, आत्मस्वातन्त्र्य को महत्त्व देता है, आत्मकेन्द्रित व्यक्ति स्वार्थी हो सकता है, किन्तु आत्मस्वातन्त्र्य की दिशा मे डग भर रहा व्यक्ति स्वार्थी होगा, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। स्वार्थ और आत्मस्वातन्त्र्य दो भिन्न स्थितियॉ है। तीर्थकर का सबसे बडा स्वार्थ यदि हो सकता है, तो स्वाधीनता। तीर्थकर स्वाधीन हुए इसलिए कि दूसरो को यह सुबोध हो कि स्वाधीनता का रसास्वाद कैसा है ? जिसने इस निराले स्वाद को एक बार भी चखा है, वह फिर पराधीनता की ओर

गया ही नहीं। हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, कुशील- ये सब दूसरो के अधिकारो का हनन है। जो स्वाधिकरण चाहता है, वह दूसरो की सत्ता पर कभी आक्रमण नहीं करेगा, यानी हिसा आदि से दूर रहेगा।

अहिसा स्वाधीनता का पहला चरण इसके उच्चारण के साथ ही दूसरो के स्वाधिकार की स्वीकृति है। जिसमे जान है, जो जीना चाहता है, उसे जीने का अधिकार है, हिसा द्वारा उसके इस अधिकार का हनन होता है। यह उसकी स्वाधीनता का अपहरण है। इस तरह अहिसा स्वाधीनता का सर्वप्रथम अक्षरपाठ है। हाथी जीना चाहता है, खरगोश मे जिजीविषा है, पौधा अपनी चेतना मे सर ताने बढ रहा है, गाय का बछडा मातृत्व की ललक मे रम्भा रहा है, आप उसकी इस स्वाभाविकता को छीनना चाहते है, आपकी भी छिनेगी, अत छीनने के पूर्व छीने जाने की तैयारी रखनी होगी। अहिसा की शर्त ही यह है कि 'स्वय स्वाधीन बनो, और दूसरो को स्वाधीन देखने की समाई स्वय मे उत्पन्न करो'। परस्पर उपग्रह जीवो का स्वभाव है।

समाजपरक आत्मस्वातन्त्र्य इसी तरह अन्य-अन्य महाव्रत भी हैं। आप चोरी करेगे, तो यह दूसरो की उस वस्तु के अधिकरण की स्वाधीनता का अपहरण होगा। जिस को आप रखना चाहते हो, और उसे कोई आपसे अनजाने ले ले तो यह आपकी स्वाधीनता की परिमिति होगी और आप तत्काल झल्ला पड़ेगे। अस्तेय भी स्वाधीनता पाने और देने का मन्त्रपाठ है। परिग्रह चोरी का ही रूपान्तर है। तृष्णा की चाकरी मे आप जोड़े जाते है, बिना यह सोचे कि कोई और भी आत्मवत् है, जिसे इन चीजो की आवश्यकता हो सकती है। इस तरह परिग्रह भी दूसरो की स्वाधीनता को परिमित करता है, और स्वरूपाचरण की स्थिति को बाधित करता है, इससे जीव 'परत्व' की ओर भागता है, किन्तु 'स्व-पर-विज्ञान' मे अवगाहन करते ही उस पर स्वाधीनता का यथार्थ प्रकट होने लगता है। कुशील आदि भी स्वाधीनता की परिमितियो है। तीर्थकर-प्रणीत जेनधर्म स्वाधीनता की ओर व्यक्तित्व को इस सहिष्णु शैली से ले जाता है कि 'समाजपरकता' उसमे स्वयमेव जन्मने लगती है। जैनो की स्वाधीनता आत्मपरक नहीं है, वह इस तरह की आत्मचर्या है कि उसकी कोख से समाजपरक आत्मस्वातन्त्र्य का पुत्र जनमता ही है।

तीर्थकर हो या अन्य साधक सबका चरण स्वाधीनता की ओर उठता है, जैनधर्म मे चिन्तन से लेकर आचरण तक स्वाधीनता का उदार स्वीकार इस कदर है कि उसका कोई हिसाब नहीं है। (तीर्थंकर, वर्ष २, अक ४, '७२)

तीर्थंकर सिर्फ इतिहास या भूगोल नहीं हैं : आज हमारा जीवन-सगीत टूट गया है । सास्कृतिक श्वासोच्छ्वास छिन्न-खण्डित हो गया है। धार्मिक निरक्षरता ने पाताल तक गहरी नींव जमा ली है। न हम अपने धर्म को ठीक से जानते है और न ही अन्य धर्मो के लिए किसी सोच-समझ का विकास करने मे कोई रुचि ही लेते है। **हम अपने तीर्थंकरों को प्राय: इतिहास, या भूगोल मानते आये है, किन्तु वे इससे काफी आगे हैं। अतिक्रान्त हैं, दिक्कालातीत हैं।** 'जैन' होने की व्याप्ति असीमित है। जन्मत जैन होना आसान है, कर्मत जैन होना, वैश्विक और सार्वभौम होना है। रगो, अस्पृश्यताओ, घृणाओ और अप्रीतियो-विषमताओ से ऊपर उठना है। यह कठिन हो सकता है, असभव कतई नहीं, क्योकि हमारे तीर्थकरो ने इस धर्म को जिया है/जाना है।

धर्म-विज्ञान परस्पर पूरक : जैनधर्म का अभी वैसा अध्ययन नहीं हुआ है, जैसा अपेक्षित है । उसे अभी वैज्ञानिक उपलब्धियो और विधियो के साथ ठीक से जोडा नहीं गया है। माना जाता रहा है कि धर्म अन्धविश्वासो, आडम्बरो और रूढियो, पूर्वाग्रहो और पक्षपातो को जन्म देता है, जबकि विज्ञान इसकी तुलना मे तर्कसगत और हर बात/तथ्य को सिद्ध/साबित देखना चाहता है, किन्तु गौर से देखने पर धर्म और विज्ञान मे कोई असगति नहीं लगती, लगता है इसके विपरीत कि दोनो परस्पर पूरक है - अन्य शब्दो मे कहा जाना चाहिये, कि **आज धर्म को वैज्ञानिक और विज्ञान को धार्मिक होने की आवश्यकता है ।**

रूल ऑफ द रोड · महान् वैज्ञानिक आइन्सटाइन के शब्दो मे धर्म के बिना विज्ञान पगु है और विज्ञान के बिना धर्म अन्धा। यह तथ्य सर्वथा समीचीन है और जैनधर्म पर अक्षरश लागू होता हे। **वस्तु-स्वातन्त्र्य के माध्यम से जैनधर्म में अन्धविश्वास को पहले ही चुनौती दी गयी है।** उसका सारा कर्मसिद्धान्त गणितीय है, अनन्ताओ के गणित पर आधारित है। आत्मा स्वतन्त्र है। वही कर्ता है, वही भोक्ता है। किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं है, जैसा बोया जा रहा है, वैसा काटा जा रहा है। जैसा वीज, वैसा फल, काफी तर्कसगत हे। जीव-तत्त्व की तरह ही अन्य द्रव्य भी स्वतन्त्र है। सवकी अवाधित सत्ताएँ और स्वतन्त्रताएँ हे। सबके रथ वेरोकटोक घूम रहे हे । हम भले ही 'रूल ऑफ द रोड' न मानते हो, किन्तु वहाँ इसका पूरी अप्रमत्तता, सावधानी ओर स्वाभाविकता से पालन हो रहा हे। धर्म के लिए एक वैज्ञानिक समझ का शिलान्यास यथाशीघ्र किया जाना चाहिये।

भेद-विज्ञान कांट्रास्टिव्ह भेद-विज्ञान के साथ विज्ञान शब्द जुड़ा हुआ है। 'भेद-विज्ञान' जैनधर्म-दर्शन का मेरूदण्ड है। पर्यायो (फॉर्म्स) के बीच खड़े हम द्रव्य की सत्ता और उसके बहुआयामी व्यक्तित्व को भेदविज्ञान के माध्यम से ही समझ सकते है। जैनधर्म 'डायनेमिक' है, वह रूढ नहीं है। विज्ञान के बारे मे भी यही है । विज्ञान जुदा-जुदा/पृथक्-पृथक् करके जानता है । उसका चरित्र विश्लेषणपरक है। वह गड्डमड्ड नहीं करता वरन् साफ-साफ जानना चाहता है। भेद-विज्ञान भी स्पष्ट कथन करता है। वह कहता है आत्मा आत्मा है , शरीर शरीर, शरीर आत्मा नहीं है, आत्मा शरीर नहीं है, जो दृश्य है वह वास्तविक नहीं है, दृश्य कई हो सकते है दृष्ट एक हो सकता है।' कठिनाई दृष्टि और दर्शन की, कथन और कथन-माध्यम की है। भेद-विज्ञान व्यतिरेकी/काट्रास्टिव्ह है। यह सब, जहॉ एक और रोचक है, वहीं तर्कसगत भी है।

काया नहीं, उसके ट्रस्टी भेद-विज्ञान इतना ऊर्जस्वी है, कि इसमे-से 'ट्रस्टीशिप'-सिद्धान्त को भी निचोड़ा जा सकता है। ट्रस्टीशिप मे स्वामित्व-विसर्जन होता है। **आत्मा का स्वामित्व आत्मा पर है। वह ज्ञानमय है; पुद्‌गल वह नहीं है। पुद्‌गलमय भी वह नहीं है।** इस कथन के साथ ही अज्ञान-अन्धविश्वास पर से स्वयमेव उसका स्वामित्व विसर्जित हो जाता है। धन-सम्पद् पर से तो उठ ही जाता है, **'पर' पर से स्वामित्व का विसर्जन एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्य भी है**। भेद-विज्ञान की सीढी पर पॉव रखते ही भ्रान्तियो/भ्रमो पर से स्वामित्व हट जाता है (था ही नहीं)। हम काया नहीं है, काया के ट्रस्टी है, यह अमानत है, इसमे खयानत कैसी ? कबीर की झीनी-झीनी चदरिया ज्यो-की -त्यो रख दीनी चदरिया' वाला निष्कर्ष यहॉ भी अनुगुंजित है। इस तरह भेद-विज्ञान से कई जटिल सामाजिक गुत्थियो का भी हल किया जा सकता है।

खोले . नयी खिड़कियॉं · जैनधर्म का सारा जोर चिन्तन पर है। राजनीति बुद्धि और विवेक दोनो को कुण्ठित करती है, सीमित करती है, नियन्त्रित करती है, धर्म इसके विपरीत व्यक्ति को मुक्त करता है, उसे एक स्वतन्त्र आकाश प्रदान करता है। वह उसे अनन्तताओ की गोद मे ले जाता है और अनेक बहुआयामी रहस्यो पर से पर्दा उठाने लगता है। जैनधर्म मे इन अनन्तताओ को जानने/समझने के लिए अनेकान्त और स्याद्वाद है। इनसे लैस/इक्विप हो कर साधक/ज्ञायक जानने/खोजने की प्रक्रिया मे आ जाता है। अनेकान्त जैनधर्म का एक ऐसा प्रखर और धारदार आजार है जो सपूर्ण कोणात्मकताओ को स्निग्धताओ मे परिवर्तित करता है और अंधेरा तथा

अज्ञानो को चीर कर प्रकाश की एक रचनात्मक जागीर सौपता है। अनेकान्त बहुधर्मिता (उत्पादव्ययध्रौव्य) का बोध कराता है और स्याद्वाद 'अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य' के माध्यम से उनका कथन करता है। भाषा की असमर्थताओ और विवशताओ के बीच सापेक्षावाद कई नयी खिडकियॉ खोलता है और मनुष्य का ज्ञान-क्षितिजो को विस्तृत करता है।

अत्यन्त वैज्ञानिक : चिन्तन-पद्धति के अतिरिक्त क्रम, वर्गीकरण, तथ्यो के व्यवस्थापन, सम्यक्त्व/मिथ्यात्व-विवेचन इत्यादि की दृष्टि से भी जैनधर्म अत्यन्त वैज्ञानिक है। छह द्रव्यो की विवेचना, सप्त तत्त्वो का क्रम, परमाणु-विवेचन इत्यादि भी महत्त्वपूर्ण है। इन सब पर काफी काम हुआ है और कई तथ्य सामने आये है।

जैनधर्म = आत्म-विज्ञान . वस्तुत जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। यहॉ धर्म और विज्ञान दो विरोधी तथ्य नहीं है। एक जीवन के शिवत्व का और दूसरा सत्य का प्रतीक है। जैनधर्म के लिए यदि कोई उपयुक्त शब्द हो सकता है तो वह आत्मविज्ञान ही है। वह आत्मा के शुद्धत्व की खोज का मार्ग है। जहॉ हमारी इन्द्रियो की हद समाप्त होती हैं, ठीक उसी बिन्दु से आत्मदर्शन का आरम्भ होता है। सर आइजक न्यूटन ने जिस गुरुत्वाकर्षण की बात १७ वी - १८ वी शताब्दी मे कही 'तत्त्वार्थसार' मे आचार्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि ने उसे विक्रम की १० वी सदी मे ही कह दिया था। फर्क केवल यह था कि न्यूटन ने 'सेव' के माध्यम से उसे कहा और आ अ च ने उसे 'आम' के जरिये प्रतिपादित किया। इसी प्रकार अ च की 'परमाणु' की परिभाषा भी है।

व्यावहारिक पक्ष · इस वैज्ञानिकता के अलावा जैनधर्म का एक व्यावहारिक पक्ष भी है। भगवान् महावीर के सघ 'चतु सघ' कहलाता है। उसमे स्त्री-मुक्ति की अद्भुत कथा है। अभी ठीक से इसकी व्याख्या ही नही हुई। चन्दनबाला आन्दोलन की इस कडी का सबमे ज्वलन्त प्रतीक है। **पार्श्व से वर्द्धमान तक की व्रत-यात्रा को ध्यान से समझने की आवश्यकता है।**

विशेषणो का संदेश · सबमे बडी व्यावहारिक सतर्कता जो जैनधर्म ने बरती है वह है 'विशेषणो' को ले कर। तीन विशेषणो की ओर मे आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूॅगा, ये है - सम्यक्, उत्तम, अप्रमत। इनके भीतर जीने की सर्वोत्तम कला समायी हुई है। **सम्यक्त्व की उपलब्धि कठिन है; किन्तु इसके जीवन से जुड़ते ही जीवन का जो वैमव प्रकट होता है उसकी कहीं कोई तुलना नही है।** आज जीवन मे जो विसगतियॉ और कुरूपताऍ आ गयी है, उनके समाधान इन विशेपणो मे उपलब्ध है। **जैनो ने तो 'मृत्यु' को मी 'मृत्यु' के लिए न्यौता है।**

अप्रतिबद्धता 'उत्तराध्ययन' मे 'सम्यक्त्व-पराक्रम' के अन्तर्गत 'अप्रतिबद्धता' का उल्लेख कहीं आया है। यह विलक्षण है। कहा गया है - 'अप्पडिबद्धाए ण निस्सगत जणयइ' - अप्रतिबद्धता से वह असग हो जाता है, बाह्य सगो से मुक्त हो जाता है। हम आज हर जगह प्रतिबद्ध है, क्या जैनधर्म का सम्यक्त्व-पराक्रम हमारी आज की सामाजिक कायरताओ के प्रति स्पष्ट चुनोती नहीं हे ?

कॉमनमैन का सम्मान · जैनधर्म ने हमेशा 'कॉमनमेन' का सम्मान किया है। महावीर-कालीन इतिहास इस तथ्य को भली-भॉति उद्घाटित करता है। 'जैनधर्म' की 'भाषानीति' इस तथ्य पर ज्वलन्त हस्ताक्षर करती है, जेसे आज की 'कॉमनमैन' के लिए दम भरने/मारने वाली आज की राजनीति भी नहीं कर सकती। 'प्राकृतो' और अपभ्रशो पर ध्यान देगे तो यह सब सरलता से समझ मे आ जाएगा। **जैनधर्म की यह व्यावहारिकता निराली है, संसार के इतिहास में अकेली है - क्योकि 'जैनधर्म' संस्कृत, अरबी, हिब्रू मे नहीं, 'प्राकृत'/'अर्द्धमागधी' मे है। 'गणतन्त्र' परम्परा के विश्लेषण तथा 'तीर्थंकर-लाञ्छनो' के अध्ययन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।**

आचार-विचार जैनधर्म की एक ओर व्यावहारिकता है उसका यह उपदेश कि यदि हम आचार मे अहिसक और विचार मे अनेकान्तिक है, तो फिर कहीं-कोई टकराहट/कहीं-कोई घाटा नहीं है। सब ओर शान्ति, सुख ओर समृद्धि का साम्राज्य होगा।

श्रमण अर्थात् समत्व अन्तिम तथ्य समत्व का है जो 'श्रमण-सस्कृति' का सार हे। 'श्रमण' शब्द का अर्थ ही समत्व हे। इसे हासिल करने पर और क्या शेष रह जाता हे। मे समझता हू कि जैनधर्म का यदि हम सप्रदायातीत, वस्तुनिष्ठ ओर पूर्वाग्रह-मुक्त अध्ययन करे तो देखेगे, कि इसमे इसके मानवतावादी चरित्र/रोल के कारण वे सारे तत्त्व हे जो इसे 'विश्वधर्म' का दर्जा देते हे, किन्तु समस्या धर्म की नहीं है, उसके अनुयायियो की हे। (लेखन दोपहर, १८ अगस्त १९७९)

(तीर्थंकर, वर्ष २७, अक ७-८ नव -दिस '९७)

जैनो और बौद्धो के रूप मे धर्म का जो बोद्धिक पुनरुद्धार हुआ उसने कइयो की ऑखे उघाड दी, किन्तु जो लोग धर्म का अंधविश्वासगत/भ्रममूलक रूप चला रहे थे - चला ले जाना चाहते थे, उनकी ताकत बडी थी, अत वही धर्म टिक पाया, जिसने उनसे समझौता कर लिया, साठगॉठ कर ली।

जैनधर्म की अपनी प्राचीनता . उसकी पृष्ठभूमि काफी सदृढ थी। वह एक ऐसा धर्म था, जिसकी पीठ पर न्याय और दर्शन थे, किन्तु उसे भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए कई गलत अनुबन्ध कर लेने पडे।

आज जो भी अधविश्वास जैनो के बीच है, वे सब मध्ययुग के अधविश्वास के अवशेष हैं। जैनधर्म का जो निर्मल रूप था, दुर्भाग्य से, वह क्रमश लुप्त हो गया और एक भ्रम-सकुलित/विकृत रूप सामने आ खडा हुआ।

महावीर और गौतम बुद्ध का युग भारतीय धर्मों के संस्कार का युग : उन्हे एक सशक्त दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान करने का जमाना वह था।

वह वास्तव मे एक ऐसा युग था जिसमे धर्म ने सामाजिकता को जड से बदल डालने का बीडा उठाया था। इसमे वे सफल भी हुए, किन्तु धीरे-धीरे विज्ञान की तेजोमयता लुप्त हो गयी और साम्प्रदायिकता/मतान्धता का जहरीला धुऑ धार्मिक चेतना को लीलने-निगलने लगा।

धर्म में विज्ञान के प्रवेश से संकट में पड़े थे धर्मगुरु और धर्मस्थल : उन्हे छोड दीजिये जिन्होने धर्म की वैज्ञानिकता को स्वीकार कर लिया था, किन्तु जो धर्म के तर्कसगत रूप को स्वीकार नहीं कर सके थे उन्होने दण्ड-पुरस्कार, पाप-पुण्य के घिनौने औजारो से भय और तृष्णा को सूक्ष्म और खतरनाक रूपो मे बो कर धर्म/दर्शन के स्वस्थ/रचनात्मक ढॉचे की धज्जियॉ बिखेर दीं।

आज जब हम कहते है कि यतियो और भट्टारको ने धर्म को सुरक्षित रखने के लिए जतर-मतर/टोने-टोटको/अधविश्वासो से समझौते किये तब हमे ध्यान रखना चाहिये कि इस तरह के हमारे कथन-सड़ॉध को बनाये रखने के लिए है। हमे जानना चाहिये कि धर्म चाहे जो हो

उसका कार्य-कारण-की-बुनियाद पर खडा वैज्ञानिक रूप ही उपयोगी/ग्राह्य हो सकता है, वही मनुष्य-मात्र का कल्याण कर सकता है। ऐसा रूप जो भावावेश की कमजोर लाठी थाम कर चलता हो और मनुष्य की स्वस्थ/रचनात्मक मानसिकता का शोषण करता हो, उसकी विशुद्ध आध्यात्मिकता को क्षति पहुँचाता हो उसे तुरन्त खत्म कर देना चाहिये।

जो लोग ईमानदार वैज्ञानिक वे ही वस्तुत. ईमानदार/सच्चे धार्मिक इसी तरह जो लोग पूरे ईमान/सपूर्ण निष्ठा के साथ धार्मिक है, वे ही पूरी ईमानदारी के साथ सच्चे वैज्ञानिक है। धर्म और विज्ञान दो विरोधी ध्रुव नहीं है, एक है, हॉ, दोना मे एक मूलभूत अन्तर है।

विज्ञान 'है' है और धर्म 'चाहिये' है 'चाहिये' का द्वार 'है' की कुडी खटकाने से नहीं खुलेगा और 'हे' का द्वारा ' चाहिये' की दस्तक से नहीं खुल पायेगा, किन्तु हम आश्चर्यचकित्त रह जाऍगे यह जान कर कि वस्तुनिष्ठ ज्ञान की कुन्जी से हम धर्म-का द्वार सिर्फ खोल ही नहीं लेगे बल्कि उस खुले हुए द्वार से हो कर रोशनी को भीतर आने की इजाजत भी दे सकेगे।

धर्म और विज्ञान में कोई शत्रुता नहीं · सवाद नहीं है, सवाद यदि बनता है तो दुनिया मे वह घटित हो सकता है जो न कभी हुआ था और न जिसकी कल्पना हम कर सकते है। मानव-मगल की सच्ची नींव हम इस मैत्री मे ही डाल सकते है।

धर्म के क्षेत्र मे सबसे बड़ी भूल मध्ययुग में · वह यो/इस तरह कि हमने साधन को साध्य मान लिया। सिद्धि/साध्य को विस्मृत कर दिया।
हमने शास्त्र को ज्ञान मान लिया।
धर्मस्थल ओर कर्मकाण्ड को मुक्ति मान लिया। पूजा-पाठ को मजिल मान लिया। किन्तु धर्म ये सब नहीं हैं। ये माध्यम है। साधन ह। यदि हम चाबी को अन्तिम मान लेगे तो चावी को ही लिये वेठे रहेगे। ताला कभी खोलेगे ही नहीं।
दुर्भाग्य से लोहे के ताले की चाबी सोने की है, इसलिए हम चाबी से अधिक प्रीति कर बैठे है। स्थिति यह है कि यदि चाबी हमारी जेब मे है तो हम ताले के बारे मे या जहॉ ताला लगा है उसके बारे मे चिन्तित नहीं है। हम शास्त्र का नमन करते हे/कर रह हे ह, किन्तु स्वाध्याय कहॉ कर रहे ह ? शास्त्र, ग्रन्थ, मन्दिर मूर्ति की
अपनी सीमाऐ ओर लाचारियो ह, इसलिए हमें साधन-साध्य के बीच स्पष्ट भेद-रेखा डालनी होगी और सपूर्ण स्थिति को समझना होगा। हम तो बखुशी मान कर चल रहे है कि जो साधन हमारे पास है, वे ही साध्य है, अन्तिम है, उनके आगे हमे कुछ करना ही नहीं।
इसी तरह जब हम देह को आत्मा मानने लगते है तब भी यही भूल करते ह। देह न तो आत्मा है और न कभी बन सकती है। देह तो जड साधन है, परम साध्य तो विदेह की उज्ज्वलता ह। जब तक हम साधन-साध्य के वस्तु-स्वरूप [illegible] समझ नहीं लेगे यह मुश्किल ही होगा कि हम धर्म और विज्ञान के अलग [illegible] ।
हम जानते है

धर्म और विज्ञान दोनों तर्क की अनुपस्थिति में एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकते दोनो के लिए तर्क की एक सुसगत भूमिका चाहिये।

समझना चाहिये हमे कि विज्ञान-के-माध्यम से हम जीवन और जगत् के बुनियादी सिद्धान्तो को समझते है (समझ सकते है) और धर्म की भावनाशीलता के कारण इन्हे अपने जीवन मे सुदृढ कर संक्ते है। विज्ञान और धर्म की अलग-अलग जिम्मेदारियो को जब तक हम ठीक से समझ नहीं लेगे-हम इन्हे अपने जीवन मे/जन-जीवन मे उपयुक्त अभिव्यक्ति नहीं दे पायेगे।

धर्म की जिम्मेदारी है कि यह स्वाधीन और उत्तरदायी व्यक्ति को विकसित करने मे स्वस्थ/रचनात्मक भूमिका निभाये - किन्तु हम देख रहे है कि ऐसा हो नहीं पा रहा है - होने नहीं दिया जा रहा है। पूछा जा सकता है कौन आडे आ रहा है ? इस प्रश्न के उत्तर मे - जिसे प्राय प्रत्येक जाग्रत/प्रबुद्ध धार्मिक जानता है - सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

आज भी यदि हम धर्म के समकालीन रूप की पूर्वग्रह-मुक्त/वस्तुनष्ठि समीक्षा के लिए तैयार हो तो सब कुछ स्पष्ट हो सकता है।

हम जानते है विज्ञान यथार्थता की ओर जाता है। उसकी ऑख रूप की ओर नहीं रूपायित की ओर रहती है।

जैनधर्म और जैनतत्त्वदर्शन रूप की अपेक्षा रूपायित की ओर

देह मे जो है ध्यान उसका उसी पर है - पर्याय पर नहीं पर्यायित पर, आकृति नहीं आकृत पर उनकी नजर है। वह उसी की खोज मे समर्पित है, किन्तु जैनधर्म जो है, या उसकी जो अपेक्षा है - उसकी ओर हमारा ध्यान ही कहॉ है ? यदि हमे सत्य की खोज करनी है - धर्म या विज्ञान किसी भी माध्यम से- तो हमे ज्ञेयाकार की अपेक्षा ज्ञान की ओर, उसके इलाके मे प्रवेश करना होगा। ज्ञेय की नाना आकृतियॉ हो सकती है, किन्तु ज्ञान की शक्ल एक ही होगी। जिस तरह विज्ञान वस्तु-स्वरूप की खोज मे तिल-तिल निसार है, जैनधर्म भी वस्तुस्वरूप की खोज ओर उसकी व्याख्या मे अपना सर्वस्व निछावर किये हुए है। वस्तु-स्वरूप की खोज का बिन्दु ही वह बिन्दु है जहॉ पहुॅच कर विज्ञान और धर्म दोनो एकाकार हो जाते है। वास्तव मे विज्ञान और धर्म ने हमे वह सब उपलब्ध करा दिया है, जो जरूरी था अव हमारी जिम्मेदारी हे कि हम इन उपलब्धियो को चरित्र की भाषा मे अनुवादित करे ओर दुनिया-भर मे उसे प्रकट करे। कमी यह है हमारे जमाने की कि हम कहते वहुत हें, किन्तु उसका एक छोटा-सा हिस्सा भी आचरण मे प्रकट नहीं करते। वहुत साफ हे कि जव तक 'शव्द' के साथ 'चरित्र' नहीं जुडेगा तब तक यह सभव ही नहीं होगा कि धर्म ओर विज्ञान हाथ मिला पाय।

ये दोनो हाथ तभी मिला सक्ते ह जव मनुष्य दोनो की मशा को विना किसी पूर्वग्रह के

जाने और उसे जीने का प्रयत्न करें।

सवाल उठता है धार्मिक कोन है, या हो सकता है ? वैज्ञानिक कौन है, या हो सकता है ?
धार्मिक वह है जिसने स्वय को स्वार्थ और अधविश्वास से मुक्त किया है और
अज्ञान की बेडियॉ काट फेकी है, क्योकि बहुत स्पष्ट है कि अज्ञान के साथ हिंसा और
असत्य का रिश्ता हे और ज्ञान के साथ अहिसा और सत्य का।

धर्म और विज्ञान का उत्तरदायित्व वे मिलजुल कर भ्रान्तियो और अधविश्वासो
को दूर करे और कार्य-कारण-सबन्ध के औचित्य की स्थापना करे।
प्रश्न चाहे वह धर्म के सामने हो या विज्ञान के एक ही है -सत्य की खोज कैसे करे ?
इस सदर्भ मे अल्बर्ट आइस्टाइन (सापेक्षिकी के जनक) का यह कथन कि विज्ञान धर्म के
विना पगु हे और धर्म विज्ञान के बिना अधा स्वय मे बहुत बड़ी सार्थकता रखता है।
क्या यही सबमे बडा आधार नहीं है कि इन दोना को बिना टकराहट के
नजदीक लाया जाए ?

समाज मे तीन तरह के लोग है। होते रहेगे। होते आये हे।
विकसित, अर्द्धविकसित, अविकसित।
इनमे-से विकसितो क बारे मे हमे कुछ नहीं कहना है। वे अपनी गाडी खुद हॉके।
जहॉ तक अर्द्धविकसित लोगो का प्रश्न है - यह वर्ग बहुत खतरनाक हे। नीम
हकीम हे। शोषक ह।
जो अविकसित हे, वह शोषित हे, निरर्थक है। विकसित प्राय तटस्थ रह जाते ह,
अर्द्धविकसित अपना स्वार्थ पूरा करते है, और अविकसितो का शोषण होता है। यह
पाकृतिक नियम हे। इसे लॉघना कठिन है।

विज्ञान और धर्म मे सबसे बड़ा अन्तर यह हे कि विज्ञान उस सबकी खोज करता हे,
जो धर्म की परिधि ओर गम्यता से परे हे ओर धर्म उस सबकी छानबीन
करता है जो विज्ञान की परिधि से परे हे। जानना यह ह कि क्या विज्ञान
की भुजा जहो तक पहुंचती हे उसके आगे भी कुछ है ? इसी सिलसिले मे यह पता
लगाना भी जरूरी हे कि क्या धर्म की ओंजुरी जितना जल समेट पाती ह,
वही अन्तिम है या वेसा करने के बाद भी बहुत सारा जल छूट जाता हे ?
यह मानना बिलकुल ही मूर्खतापूर्ण है कि जो कुछ है वह सब धर्म के पास हे, उसी
तरह जिस तरह यह मानना कि जो विज्ञान के पास है वही सबकुछ हे, अन्तिम हे।
दोनो अन्तिमताओ की खोज कर सकते हैं, किन्तु दोनो म-से एक भी यह
दावा नहीं कर सकता कि उसे कई अन्तिमता प्राप्त हो गयी ह।
सत्य का कोई भी खोजी यह नहीं कहता कि उसने निरपेक्ष कुछ अपनी मुट्ठी न भर
लिया है, जब भी वह कहता हे तब यही कि जो भी उसे प्राप्त हुआ ह, सापेक्ष ह।

जैनधर्म और विज्ञान के बीच समानता का सुदृढ़ सूत्र : जैनधर्म यह कभी नहीं मानता कि जो भी है वह निरपेक्ष है, उसका तो सारा ढॉचा ही सापेक्षिकी पर खडा है। विज्ञान का ढॉचा भी सापेक्षतावाद के सिद्धान्त पर सुस्थित है। विज्ञान जिस सफाई और संतुलन से अपना पक्ष रखता है, ठीक उतनी ही सफाई और निश्चय से जैनधर्म भी अपनी बात कहता है। दोनो के क्षेत्र जुदा हैं एक का भौतिक है, दूसरे का आध्यात्मिक। क्षेत्रो के अन्तर के कारण जो अन्तर दिखायी देता है वह औपचारिक है। दोनो की खोज-प्रक्रिया एक -जैसी है।

असल मे दोनो परस्पर-पूरक है, अलग-थलग नहीं हैं। जो काम विज्ञान नहीं करता, धर्म करता है, और जो धर्म नहीं करता, या कर पाता, उसे विज्ञान करता है (करता आ रहा है)

वास्तव मे सम्यक् धर्म के परिपालन मे हमे पराधीनताओ को छोडना होता है और स्वाधीनता के सुराज्य मे प्रवेश करना होता है।

जैनदर्शन मे द्रव्यों (विश्व के रचक घटक) की जिन स्वाधीनताओ का निरूपण हुआ है, वह

अत्यन्त वैज्ञानिक है। यह बात अलग है कि एक वैज्ञानिक/कार्य-संबन्ध की नींव पर खडे धर्म के मानने वाले लोग अपनी नींव से उखड गये हों, किन्तु इससे धर्म के स्वरूप में कोई फर्क नहीं पडता, वह जहाँ था, वहीं है, जहाँ है, वहीं रहेगा। सच तो यह है कि धर्म का जो अधापन है, उसे दूर करने का उपाय हमें करना चाहिये। और उसकी जगह कार्य-कारण-सबन्ध से निरूपित आध्यात्मिकता को ग्रहण करना चाहिये।

जब तक धर्म के पुरोहित-उनकी शक्ल चाहे जो हो- एक ईमानदार अध्यापक की भूमिका मे नहीं आते

धर्म की वैज्ञानिक समझ असभव है।

यहाँ हम इस बात को अपने दिमाग से बिलकुल निकाल दे कि धर्म और विज्ञान के बीच कोई टकराहट है,

टकराहट बिलकुल नहीं है सिर्फ दोनो के लिए एक सही समझ के व्यापक प्रचार-प्रसार और विकास की आवश्यकता है।

आत्मज्ञान (अध्यात्म) और विज्ञान दो अलग इलाके नहीं

दोनो ऐसी समानान्तर पटरियाँ है जो विचार-रथ को गतिमान रखने के लिए जरूरी है। विनोबा ने कभी एक समीकरण दिया था विज्ञान + आत्मज्ञान = सर्वोदय। विलक्षण है यह समीकरण।

उक्त समीकरण की व्याख्या करते हुए उन्होने कहा था कि यदि विज्ञान मोटर गाड़ी का इजिन है तो आत्मज्ञान स्टीयरिंग व्हील है।

यानी आत्मज्ञान तेज दौड़ती गाडी का नियामक तत्त्व है।
विज्ञान और प्रौद्योगिकी (टेक्नॉलॉजी) को भ्रमवश लोग पर्याय मान कर चलते है,
किन्तु
ऐसा है नहीं। टेक्नॉलॉजी विज्ञान का उपजन है।
वास्तव मे सत्य की खोज निरन्तर है, वह अपरिसमाप्य है
विज्ञान और सत्य सदियो से सत्य की खोज मे लगे हुए है
दोनों दो अजीज दोस्त है . दो खोजधर्मियो के दुश्मन होने का कोई सवाल ही नहीं है।
एक युग था जब भारत मे 'पुरोहित' और पश्चिम मे 'पोप' की सत्ता अन्तिम थी।
उनका हुक्म चलता था। अब सर्वथा ऐसा नहीं है। शास्त्र को शस्त्र की तरह
इस्तेमाल करने का जमाना अब लद गया है।
चारो ओर नेत्रदान की धूम है किन्तु किसी का ध्यान इस तथ्य पर नहीं है कि
मनुष्य को अपने भीतर फैले/विस्तृत जगत् के लिए जो नेत्र चाहिये वे अब
अन्तर्गत् मे बहुत दूर तक देख जाने, उसका कोना-कोना छान डालने के लिए
ऑखे दी थीं। आज हम उस विज्ञान को विस्मृत कर चुके है। क्या युग है ?
अँधे अपनी आँखे उदारपूर्वक दान कर रहे हैं। प्रश्न है जिन ऑखो ने जीवन-भर
अनैतिक देखा और जिया है, उन ऑखो से मरणोपरान्त जब देखा जाएगा तो क्या
वह सब नैतिक और मानवीय होगा ? जॉच होनी चाहिये इस कथन की,
इस सकल्पना की।
सत्य ने भी करवट ली है, धर्म का पाया डगमगाया है – धर्म यानी तथाकथित धर्म।
महावीर, गेलीलियो, न्यूटन, केपलर, जोरदानो ब्रूनो आदि के साथ क्या हुआ ?
इन सारे वैज्ञानिको ने धर्म के परम्परित/जर्जरित/अधविश्वासो-पर-खड़े ढॉचे पर
प्रहार
किया, अत या तो उन्हे जाने से हाथ धोना पड़ा, या उनके पीछे कुत्त दौडाये गये,
गोबर के लौदे फेके गये, या उन्हे क़ैद मे डाल दिया गया, या फॉसी क
तख्ते पर झुला दिया गया। मध्य युग मे भी यही हुआ। टोडरमलजी के साथ क्या
हुआ ?
वही न जो एक सत्य-के-खोजी के साथ होना था ?
जब-जब भी पुराने/जर्जर/जड़ मूल्यो पर प्रहार होगा, दुस्सह होगा।
आज वह क्षण उपस्थित है जब कि
हमें जैनधर्म की वैज्ञानिकता को सुमेरु-के-शिखर-पर चढकर घोषित करना चाहिये
और खासतोर पर उन लोगो को इस मध्यी सूचना देनी चाहिये जो अंधेर मे है
और समाज मे अपना पाखण्ड-ध्वज फहरा रहे है।
जैनधर्म/दर्शन स्वाभाविकताओ को खोजने और उन्हे उघाडने वाला न्यायशास्त्र

को नींव पर खडा धर्म है, तो क्या मात्र इस प्रामाणिक सूचना के आधार पर हम पूरी हिम्मत के साथ उन लोगो के खिलाफ उठ खडे नहीं होगे जो अपने स्वार्थ को टिकाये रखने के लिए
अन्धविश्वासो को वैज्ञानिक बता रहे है और टोने-टोटको/जतर-मतर को फैला-पनपा रहे है।

विज्ञान प्रकृति के स्वरूप को समझने का शास्त्र : जैनधर्म/दर्शन भी इस अर्थ मे वस्तुस्वरूप को खोजने और पाने का विज्ञान है। जैनदर्शन मे धर्म के तीन अर्थ उपलब्ध है . वस्तु-स्वरूप, या वस्तु का स्वभाव, गति का माध्यम, कर्त्तव्य। इस त्रिकोण से जैनधर्म-का-विज्ञान-रूप सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

मोक्षशास्त्र का प्रथम सूत्र है - सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।
इस त्रिकोण मे धर्म के तीनो अर्थ गुँथ गये है। सम्यग्दर्शन यानी गति, सम्यग्ज्ञान यानी वस्तुस्वरूप, और सम्यक्चारित्र यानी कर्त्तव्य। किसी भी प्रकार मोक्ष का मार्ग यही है। पुद्गल/जीव को स्मैश/भजन/पृथक् करने का मार्ग भी यही है।

आज मनुष्य और उसकी सस्कृति के अस्तित्व पर एक काला प्रश्नचिह्न आ खड़ा हुआ है। जिसका समाधान विज्ञान और अहिसा की मैत्री के अलावा अन्य कुछ है नहीं। दूसरे शब्दो मे हम इसे सत्य और अहिसा का सधिपत्र कह सकते है। यहाँ 'सत्य' विज्ञान के लिए और 'अहिंसा' धर्म के लिए प्रयुक्त शब्द है। यद्यपि हम आज, कल से काफी आगे निकल आये है, किन्तु जब तक धर्म और विज्ञान दोनो हमकदम नहीं होगे हमारा आगामी कल और अधिक काला/और अधिक निराशाजनक होगा।
विज्ञान और धर्म हाथ मिला सकते है
बशर्ते हम यह मान ले कि दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है, जिनमे-से यदि एक भी विकृत या अनुपस्थित होता हे तो सिक्के का खुद का अस्तित्व खतरे मे पड जाता है। विज्ञान और धर्म के बीच सवाद कायम करने
की एक ऐसी पहल हमे निरन्तर करना है जिससे हम नये आदमी
को, जो शान्ति और बन्धुत्व का मसीहा होगा, क्षितिज पर लाने मे सफल हो सकेगे।

(तीर्थंकर, वर्ष १६, अक ४-५, अग -सित '९६)

जैनधर्म मे स्वाधीनता, वैज्ञानिकता, व्यावहारिकता डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र) मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर -४५२००९ (म प्र); टाइप सेटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म प्र), प्रथम सस्करण मार्च , १९९८; मूल्य चार रुपये।

वैराग्य, निर्बन्धता, वीतरागता

- वैराग्य के समानार्थी शब्द है अनासक्ति, उदासीनता, और संन्यास।

- वैराग्य का अंशोदय भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयों, उलझी हुई हालतो और विषमताओं को सुलझाने में समर्थ है। उसगे अप्रतिम शक्ति है।

- संबन्धों को शून्य करते हुए आत्मतत्त्व को पाने की कला/विज्ञान है जैनधर्म/दर्शन। हग उसे हर घटना, स्थिति, वस्तु और व्यक्ति गें-से पा सकते है।

- वीतरागता का गतलब राग-राहित्य, राग-रिक्ति, राग का वाष्पीकृत होना, राग से खाली होना है।

- वीतरागता पार्थक्य-बोध/पृथक्करण का विज्ञान है- देह/विदेह को विलग्न करने की प्रक्रिया। यह सूक्ष्मतग है, अत. इसकी उपलब्धि बगैर प्रज्ञापरक तप के संभव नहीं है।

- डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

वैराग्य पर कई मनीषियो ने विचार किया है, मात्र विचार ही नहीं उसे बडी गहराई और उदाहरणीय ढँग से अपने चरित्र मे प्रतिबिम्बित किया है, इसलिए वैराग्य को किसी अकल्पनीय, अव्यावहारिक, स्वप्निल अथवा अनुपयोगी वृत्ति के रूप मे नहीं देखा जा सकता। कुछ लोग जो वैराग्य के बुनियादी अर्थ को जानने का प्रयत्न नहीं करते, इसे जीवन और जगत् को नकारने वाली प्रवृत्ति के रूप मे समझते-समझाते है। वस्तुत वैराग्य जीवन की निषेधात्मक वृत्ति नहीं है। इसे उलट-पलट कर सब ओर से देखने पर इसकी प्रभावशालिनी रचनात्मकता स्पष्ट होने लगती है। वैराग्य को जब हम अनुराग या आरक्ति की विरोधी वृत्ति के रूप मे देखने लगते है तब बात बिगड़ने लगती है। विरोध चाहे वह जैसा हो, बहुधा काम बिगाड देता है। भावना-जगत् मे हमे विरोध की जगह सवेदना और सापेक्षता को देनी चाहिये, तथा इसी नजरिये से देखना चाहिये कि वैराग्य का मूल सदर्भ क्या है ? अग्रेजी मे एक शब्द है 'डिटेचमेट' जिसका अर्थ है निष्काम पार्थक्य। इस शब्द के माध्यम से हमे वैराग्य के अलग-अलग र देखने चाहिये।

वैराग्य-महल की बुनियादी ईट निष्काम चित्त

वैराग्य एक बहुप्रयुक्त शब्द है। वैराग्य-महल की बुनियादी ईट निष्काम चित्त है कामनाशून्य होना एक कठिन काम है। हर आदमी कामनाओ की एक हरीभरी फसल होता है। कोई कामना हो तो भी कामना तो करना ही है। शेखचिल्ली के पास कोई साधन नहीं थे, किन्तु उसकी नगण्य कामना के एक बिन्दु मे-से कई सिन्धु जन्म लेने लगे। निष्कामता सयम की अनुपस्थिति मे सभव नहीं है। सयमी हुए बिना निष्काम चित्त होना करीब-करीब सपन ही है। हम चाहे कि नींव के बिना कोई महल उठाये, त वह स्वप्न ही होगा, महल नहीं, ठीक ऐसे ही, सयम के बिना वैराग्य सभव नहीं है।

वैराग्य-प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम मन पर कड़ा अकुश

सयम का सीधा सबन्ध मन से है। मन पर इतना शासन या काबू हो कि मनचाहे समय पर उससे मनचाहा काम लिया जा सके। मन का साम्राज्य अनन्त है, उसे पराजित करना और उस पर सत्ता कायम करना किसी राजनैतिक तक़रीर की तरह आसान नहीं है। एक तो वह गजे आदमी, या वक्त की भाँति बडी स्निग्ध युक्तियो से पकड़ से बाहर बना रहता है, और कभी जाल मे फँस भी गया तो उसके चूहे दोस्त उसे उस व्यूह से निकालने के लिए मुस्तैदी से तैनात रहते है। इसलिए वैराग्य हासिल करने

के लिए पहला काम होगा मन पर कड़ा अंकुश। वह यदि दृढता से आदमी के आत्मानुशासन की पकड़ मे आ गया तो फिर निष्काम और विरक्त होने मे वक्त नहीं लगता।

मन के दो पहलू प्रवृत्ति और निवृत्ति

भारतीय दर्शन मे दो शब्द बहुचर्चित है प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति यानी ससार की स्वीकृति, और निवृत्ति अर्थात् ससार की अस्वीकृति। लेकिन मै इन्हे दूसरी ही तरह देखना चाहूँगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति मन के दो पहलू है। मन जब ससार के माया-जाल मे बेलगाम रमता चला जाए, और हमे उसमे रस आने लगे तथा हम ऐसे डूब जाएँ, एकचित्त हो जाएँ उन सब मे कि स्वय को अलगा न पाये तो मै उसे प्रवृत्ति कहूँगा। हम डूब जाएँ और समझ बैठे कि हम उससे भिन्न नहीं है तो यह प्रवृत्ति है। वस्तुत प्रवृत्त होना शायद उतना घातक नहीं है, जितना प्रवृत्त होने के बाद अपनी मूल सत्ता और स्वरूप का भान न रखना और चित्त के ऐसे स्वामित्व से वचित हो जाना कि 'जब चाहा तब सलग्न, और जब चाहा तब विलग्न'। मै इसे प्रवृत्तिमूलक निवृत्ति की सज्ञा दूँगा। असल मे 'प्रवृत्ति' या 'निवृत्ति' के बिना जीवन की व्याख्या हो ही नहीं सकती। हर क्षण हम किसी-न-किसी रूप मे प्रवृत्त या निवृत्त होते ही है, किन्तु जब हम इतने स्वाधिकार-सपन्न होते है कि 'जब चाहा तब प्रवृत्त और जब चाहा तब निवृत्त' तब हमारे उस कर्त्तव्य मे एक ओज और आभा दिखलायी देती है। साधारण प्रवृत्ति के बारे मे हम यहाँ विचार नहीं कर रहे है।

वैराग्य के दर्पण मे देखना

मुझे अच्छी तरह स्मरण है, एक विदेशी साथी अध्यापक ने मुझे मन के सयम का एक बड़ा अच्छा उदाहरण दिया था। उसने कहा था ''मैं शरीर से सचालित नहीं हूँ, शरीर मुझसे सचालित है। मै अपनी अनुकूलताओ और प्रतिकूलताओ को खुद-ब-खुद देखता हूँ। शरीर मेरा दृष्टा और नियामक नहीं है, मैं शरीर का दृष्टा, प्रहरी और नियामक हूँ, इसीलिए मै जब चाहता हूँ तब, और जितनी देर चाहता हूँ उतनी देर सो लेता हूँ। मेरे हिसाब मे दिन काम करने के लिए और रात सोने के लिए नहीं है। यह विभाजन साधारणत ठीक हो सकता है, किन्तु इसे अन्तिम हर्गिज नहीं मानना चाहिये। शरीर को समय-असमय छूट देने से उसमे कुछ व्यसन पैदा हो जाते है। रात हुई नहीं कि पलके झपकने लगती है, किन्तु मै जब चाहता हूँ तब सोता हूँ, और जब आवश्यक समझता हूँ, जागता हूँ। नींद मेरी चेरी है, मालकिन नहीं है।'' मैने उस विदेशी अध्यापक के जीवन मे उनके इस कथन को साकार देखा था, इसलिए मै इसे अत्युक्ति नहीं मानता। जीवन की इसी दुर्लभ उपलब्धि मैं वैराग्य के दर्पण मे देखता हूँ।

वैराग्य जीवन और जगत् को झूठलाने का नाम नहीं

वैराग्य जीवन और जगत् को झूठलाने का नाम नहीं है, वह उन्हे मॉजने और उनके यथार्थ रूप को उघाडने की एक प्रक्रिया है। वैराग्य, इसलिए, प्रवृत्ति और निवृत्ति पर प्राप्त सतुलित नियमन का नाम है। ऐसा मनोयोग दुर्लभ ही समझिये कि बैठे है, जब चाहा प्रवृत्त, जब चाहा निवृत्त। ससार मे रह कर भी जो ससार में नहीं रहते 'वैराग्य' की बारहखडी उनसे जाननी-सीखनी चाहिये। भरत को ही ले हम, वे चाहते तो कैकयी की तरह प्रवृत्त-लिप्त हो बैठते किन्तु उन्होने वैसा किया नहीं, उन्होने निवृत्ति को पहला स्थान दिया। वे राम की ओर से प्रवृत्त रहे, स्वय की ओर से निवृत्त। वे प्रतिक्षण यह जानते रहे कि 'वे भरत ही है, राम नहीं।' राम की ओर से राजकाज मे लिप्त हो कर भी वे भरत बने रहे और जब मौका आया, राज्य से अलिप्त हो कर अलग जा खडे हुए, न हर्ष, न विषाद। वैराग्य-सपन्न व्यक्ति प्रवृत्ति मे हर्ष और निवृत्ति मे शोक नहीं देखते। उनका प्रसन्न और खिन्न होना, किसी अन्य के हाथ मे नहीं होता। उन्हे परिस्थितियॉ, सपन्नता, विपन्नता, सयोग, वियोग प्रसन्न या अवसन्न करने मे समर्थ नहीं होते। सपन्नताऍ और विपन्नताऍ उनकी आज्ञानुवर्तिनी चेरियं होती है और उनका शत-प्रतिशत आदेश मानती है। सच्चा वैरागी झुॅझलाना तक नहीं जानता, वह चित्तवृत्तियो के नियमन की कला भलीभॉति जानने लगता है और उत्तरोत्तर उसका रियाज बढाता जाता है।

वैराग्य के समानार्थी शब्दो की विवेचना से भी उसके नाना पक्ष हमारे सामने आ सकते है।

अनासक्ति

वैराग्य से मिलता-जुलता एक शब्द है 'अनासक्ति'। किसी परिस्थिति, व्यक्ति या जीवन-सदर्भ मे लगाव का न होना अनासक्ति है। इसे योग का दर्जा दिया गया है। इसके लिए बडे अभ्यास की, और एकाग्र चित्त होने की जरूरत है। आसक्त होना जितना आसान है, अनासक्त होना उतना ही मुश्किल। राग और आसक्ति लगभग समानार्थक है। अनासक्ति मे भी मन पर नियमन अन्तर्निहित है। यह अनासक्ति निवृत्ति-जैसी ही है। हम वस्तु, स्थिति और व्यक्ति से इतने हट जाऍ कि उन्हे भलीभॉति समझ सके। लिप्त, आसक्त, आरक्त या प्रवृत्त व्यक्ति अनुलोम या विलोम स्थितियो की व्याख्या अथवा समीक्षा करने का पुरुषार्थ खो बैठता है। आसक्त व्यक्ति का निर्णय निष्पक्ष या वस्तून्मुख नहीं हो सकता। उसके निष्कर्षो पर आसक्ति की छाप आना स्वाभाविक ही है, अत निष्पक्ष सोच-विचार की दृष्टि से अनासक्त होना आवश्यक है।

उदासीनता

एक दूसरा शव्द है - उदासीनता। इस शब्द के साथ किंचित् जडता या निष्क्रियता जुड गयी है। उदासीन व्यक्ति सोचना लगभग रोक ही वैठता है। निराशा, लगता है, इस शव्द के अन्तर्मन मे वैठी कहीं से झॉक रही है। उदासीनता मे वह उल्लास नहीं है, जा वैराग्य और अनासक्ति मे खुला हुआ है। लगता है जेसे उदासीन व्यक्ति घवरा कर भागा है, उसने यह काम बहुत सोच-विचार के साथ नहीं किया है। वैराग्य आर अनासक्ति चिन्तन के अपरिहार्य परिणाम है, किन्तु उदासीनता मन की खिन्नता, पलायनवृत्ति और जड़ता को व्यक्त करती है। मेरी समझ मे उदासीनता को वैराग्य की एक अश-पीठिका के रूप मे मानने मे कोई आपत्ति नहीं है।

सन्यास

'सन्यास' भी इसी शब्द-परिवार का एक सदस्य शब्द है, जो युग-युगो से प्रयुक्त होता आया है। शताव्दियो-पार स लोग संन्यस्त होते आये हैं, और परम्परा मे उसे एक पुण्यकार्य माना जाता रहा है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इससे रूढ निवृत्तिमूलकता ही अधिक बावस्ता है। 'सन्यास लेन' का अर्थ सवद्ध प्रवृत्ति से रिश्ता तोड़ लेना माना जाता है। सामान्यत सन्यासी ससार छोड कर जगल मे जा बैठता है और एकल-एकाकी जीवन बिताता है, पर मेरी समझ मे वैराग्य मे इतना उत्कट पलायन नहीं है। वैराग्यलीन व्यक्ति सन्यस्त न भी हो पर वैराग्य की पावनता को बनाये रख सकता है, किन्तु मुमकिन है सन्यासी मे वेराग्य का उदय ही न हो पाये, तन वन म और मन उपवन मे हो। मेरी दृष्टि मे, सन्यास वैराग्य का एक स्थूल और ऊपरी तल है। उसके बाद की कई सीढियो चढ कर असली वेराग्य तक पहुँचना समव होता है। वेराग्य की गरिमा-गौरव से नामालूम क्यो-कैस सन्यास महसा वचित रह गया है। सार-रूप मे मै यह कहूँगा कि वैराग्य का सबन्ध शरीर-स्थिति से न होकर मन स्थिति से है। विरक्त मनुष्य किसी पद, सत्ता, वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन म हो कर भी विरक्त बना रहता है, किन्तु सन्यास के साथ कुछ परम्परागत औपचारिकताऐ बद्धमूल है। सन्यासाश्रम आर्य जीवन की चतुर्थ सीढी है। ब्रह्मचर्याश्रम मे सचय, गृहस्थाश्रम मे विचय, वानप्रस्थ मे सवर और सन्यास मे उपलब्धि, इस तरह सचय, विचय, सवर, और उपलब्धि जीवन की क्रमानुवर्तिनी सीढियाँ हैं, किन्तु मेरे मत म सचय, विचय, रोक और प्राप्ति इन चारो मे भी हम विरक्त और अनासक्त स्थिति म अधिक स्पष्ट हो सकते है। वैराग्य का अभ्युदय भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयो, उलझी हुई हलचलो और विषमताओ को सुलझाने म समर्थ है। उसमे अप्रतिम शक्ति है।

(तीर्थंकर वर्ष ८, अंक ११ मार्च, '७९)

क्या कभी ऐसा होता है कि हम दुनिया से हट/कट कर अपने बारे मे सोचे
अपने गतागत की समीक्षा करे-कर पाये ?

असल मे हम इतने उलझे रहते है कि घटनाएँ, जो हमे जड-मूल-से बदल सकती है
हमारे द्वार से निराश लौट जाती हैं। हमारा ध्यान उन पर जा ही
नहीं पाता। मौसम आते है, मसलन, और हमसे जुडते है, किन्तु
हम स्वयं को उनसे कभी जोड नहीं पाते।

पार्थिव जगत् से भिन्न आध्यात्मिक जगत्

सही है कि पार्थिव जगत् से आध्यात्मिक जगत् बिलकुल भिन्न है, किन्तु कहीं
कोई ऐसा रेखातट है जहाँ ये दोनो विचार एक-दूसरे से 'डायलॉग' करते है।
ज्यॉमिति (रेखागणित) मे जिस तरह टेजेट (स्पर्श-रेखा) होती है, ऐसी टेजेन्सी
(स्पर्शिता) घटनाओ के साथ हमारी भी बनती है,
किन्तु सासारिकता-की-ऑधी आती है
और उस सबको अपनी क्रूर भुजाओ मे समेट कर ले जाती है। यह खेल प्रतिक्षण
चलता है, किन्तु हमारी ऑख उस ओर कभी उठती ही नहीं है।

सासारिक घटनाओ का वेग

सासारिक घटनाएँ इस वेग से आती-जाती है कि बीच मे रिक्तता की
कोई स्थिति बन ही नहीं पाती। शरद्, ग्रीष्म, वर्षा तीनो जिस तरह हमारे बाहर
आते-जाते है एक-दूसरे से जुड कर, ठीक वैसे ही जुड़ कर, या युगपत् हमारे भीतर
भी इनकी सूक्ष्मतर स्थिति बनती है, किन्तु हम हैं कि इनकी ठीक से अगवानी नहीं
कर पाते।

जीवन और जगत् की सैर

ठड का मौसम आता है और भीतर एक गहन ठडक छा जाती है। सारी
उत्तेजनाएँ/उद्विग्नताएँ/आकुलताएँ तल मे चली जाती हैं। धैर्य और सहिष्णुता का
सूर्य मन-के-आसमान पर दमकने लगता है। मन शान्त होता है। उसकी चचलताएँ
वैराग्य के पालने मे अनाकुलता-की-लोरियाँ सुन कर सो जाती है। सोचने के मौके
द्वार खटखटाते है। हम बहुत ठडे दिल से जीवन को समझने की कोशिश करते है।
इस शैत्य मे हम नहीं कॉपते, हमारे भीतर बैठे मोह-के-दैत्य कॉपते हैं। हम तो
शुभ्र हिमानी चादर ओढे एक अच्छे सैलानी साधक की तरह जीवन और जगत् की

सैर करते है- उसे चप्पा-चप्पा जानना चाहते हैं- कभी जान पाते है, कभी नहीं, किन्तु 'कुछ जानना है' इसकी शुरूआत हो जाती है।

जानने की प्यास का आविर्भाव स्वय मे एक बहुत बड़ी घटना है। भीतर जब ठड का मौसम आता है सब सारा कूड़ा-करकट एक जगह सिमट कर बर्फ की तरह जम जाता है।

फिर आता है ग्रीष्म। ग्रैष्म ताप मे सब कुछ सुखद होता है। बर्फ पिघलने लगती है। विकृतियाँ तरल हो कर बह निकलती है। ताप से निर्जरण की प्रक्रिया शुरू होती है। जब हम सोचते है तब ठड, और जब साधना या तप करते है तब ग्रीष्म का उदय होता है और जब चारो ओर करुणा-की-कादम्बिनी (मेघ-घटाऐं) छा जाती है और एक तीव्र प्रवाह मे भीतर का कूड़ा-करकट बह निकलता है, तब वर्षा का मौसम होता है। ये तीनो कभी एक साथ, तो कभी श्रृंखलाबद्ध आते है। जब अलग-अलग आते है तब इनका प्रभाव क्षणवर्ती होता है और जब एक साथ आते है, या एक-दूसरे के गले मे भुजाएं डाले आते है, तब इनका प्रभाव अमिट होता है।

सबन्ध-शून्यता/सबन्ध-क्षीणता

ऐसे ही आर्द्र क्षणो मे हमारा ध्यान सबन्ध-तत्त्व की ओर जाता है। यहाँ हम 'तत्त्व' को किसी पारिभाषिक शब्द की तरह काम मे नहीं ले रहे है बल्कि अंग्रेजी के 'फैक्टर' शब्द के अर्थ मे प्रयुक्त कर रहे है। जब हम किसी भी व्यक्ति वस्तु या स्थिति से सबन्धित होते हैं तब सासारिक होते है और जिस क्षण हम सबन्ध-शून्य या सबन्ध-क्षीण होते है या होने के प्रयत्न करते है उस समय हम प्रशमरतित्व मे, वैराग्य और प्रशमभाव के क्षेत्र मे उतर आते है। जहाँ 'यह मेरा' 'यह तुम्हारा', 'यह अपना', 'यह उसका' जैसे शब्द-पदो का उपयोग होता है, नज़रें पलट जाती हैं और चारो ओर से दुःख का दरिया उमड़ पड़ता है।

यदि कोई वस्तु है और वह आपकी नहीं है और लोग उसे बर्बाद कर रहे है तो आप उतने चिन्तित नहीं होते, किन्तु यदि वही वस्तु संयोगवश आपकी है और कोई उसके एक छोटे-से भाग को भी अनजाने में क्षति पहुंचा रहा है तो आपके तेवर बदल जाते है और आप एक आतंकवादी के रूप मे प्रकट होते है। जिस बिन्दु पर 'इदं न मम' यह मेरा नहीं है का साम्राज्य शुरू होता है, उसी बिन्दु से शान्ति-के-राज्य-की-परिधि शुरू होती है। शान्ति-का-साम्राज्य असीमित है - यहाँ तो मात्र स्मरण के लिए 'यहाँ से शुरू होती है' [illegible] दिया गया है।

वह तो भीतर प्रतिक्षण शुरू है, उसका तो अन्त ही नहीं।

जब कोई स्थिति हमसे सबन्धित होती है, तब हम एकदम चौंकते है और चोकन्ने हो पडते है। यदि हमारा कोई सबन्धी दुर्घटनाग्रस्त हुआ है तो हम एकदम दौड़ते हैं और पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु यदि हम उस दुर्घटना से असबद्ध है तो हमारे लिए सब कुछ सामान्य है, लगभग अघटित है।
प्रश्न वास्तव मे सबद्ध या असबद्ध होने का है। सबद्ध होने पर प्रतिक्रिया होती है। असबद्ध होने पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती और यदि होती भी है तो अत्यन्त क्षीण और क्षणिक।

दीक्षा का अर्थ

ये जो लोग साधु हैं, या बनते है, वे इसी सबन्ध-तत्त्व से निरन्तर जूझने के लिए होते है, या बनते है। पहला काम तो वे पार्थिव सबन्धो को तिलाजलि देने का करते है। दीक्षा का अर्थ ही यही है, किन्तु आज तो यह देखा जाता है कि साधु या मुनि खुद कह बैठते है कि 'ये मेरी माँ हैं, ये मेरे पिता है, मेरा तो सारा कुटुम्ब साधु बन गया है। सबने दीक्षा ले ली है।'
दीक्षा का अर्थ ही होता है सासारिक सबन्धो से रिक्त होना। जब कोई साधु सचमुच सबन्धो से मुक्त हो जाता है, या होने लगता है तब फिर उसके सामने भेदविज्ञान आता है और वह चरम सबन्धी यानी शरीर से जूझने लगता है।

शरीर किसी भी जीवधारी का चरम सबन्धी है। वह जीव से सबद्ध है नहीं, मान लिया है हमने कि वह उससे सबद्ध है, 'सबद्ध' ही नहीं, बल्कि 'सर्वस्व' मान लिया है, इसीलिए कई बार हम मालिक की देखभाल छोड कर मुनीम की देखभाल मे लग जाते है और देखते है कि टहल-चाकरी के इस चक्कर मे मालिक मुनीम बन गया है और मुनीम मालिक। यह दुर्घटना कब घटित हुई, कोई नहीं जानता, किन्तु शरीर और शरीरी यानी आत्मा के सबन्ध इस तरह श्लिष्ट हो जाते है कि उनमे भेद करने की जो दृष्टि रही हुई होती है, वह खत्म हो जाती है। जब हम दोनो को अभिन्न/एक मानने लगते है तब ससार प्रगाढ/निबिड होने लगता है, किन्तु जैसे ही हम इन्हे विरल/विलग्न देखने लगते है, हमारे भीतर ससार-की-बर्फ गलने लगती है
और हम उजाले की ओर आ जाते है।

मृत्यु को जीने का मतलब

माना, कठिन होता है सच्चाई से आँखे अटना,
किन्तु यह वह क्षण होता है जब हम
क्षुद्रताओ से उबर सकते हैं और मृत्यु को जी सकते है।
मृत्यु को जीने का मतलब
होता है संबन्धो से उत्तरोत्तर मुक्त होना - होते जाना।
मै इस मृत्यु-को-जीना कह रहा हूँ। जैनधर्म या
दर्शन इसके अलावा शायद कुछ है नहीं।
वह संबन्धो को शून्य करते हुए आत्मतत्त्व
को पाने की कला है, विज्ञान है। हम उसे हर घटना, स्थिति, वस्तु और व्यक्ति
मे-से पा सकते है। (तीर्थंकर, वर्ष १८, अंक २, जून, '८८)

वीतरागता : वैज्ञानिक विश्लेषण

सौन्दर्य की परिभाषा दुष्कर है, किन्तु असंभव वह नहीं है। सुन्दरता को परिभाषित करने मे कई जटिल स्थितियो का सामना करना होता है। उसके साथ कई जटिल प्रश्न जुड़े हुए है, जिनमे-से प्रमुख है - १ क्या सौन्दर्य सिर्फ भौतिक ही होता है? २ क्या भौतिकता से परे उसका कोई अस्तित्व नहीं है? यदि है, तो वह कैसा है और क्या वह अनुभूति-गम्य है? ३ क्या आंशिकताएं मिल कर किसी पूर्णता की रचना कर सकती है, या अंश अंश होता और पूर्ण पूर्ण? क्या किसी अंश की स्वकीय पूर्णता होती है? ४ क्या जो दिखायी देता है - दृश्य है, वह मौलिक है, या मौलिकता का अस्तित्व दृश्य से परे है? ५ क्या जो इन्द्रियगम्य नहीं है, उसकी गम्यता का कोई कारगर उपाय है? ६ क्या जो सौन्दर्यान्वेषक है, वह स्वयं सुन्दर है? ७ सर्वोपरि सुन्दर कौन है?

इन तमाम प्रश्नो के उत्तर है किन्तु आवश्यकता है उन्हे खोजने की, उनकी समीक्षा अनुसंधान की।

होते वे क्षणवर्ती ही है- उनमे शाश्वत कुछ नहीं होता, जो इन्द्रियो की पहुँच से परे है, उन्हे , या उसे ध्यान के माध्यम से जाना जा सकता है, जो सुन्दरता की खोज मे है, या जिसके पास सौन्दर्य के अक्षुण्ण मानक है, वह असुन्दर हो, यह सभव ही नहीं है, अत निष्कर्ष हुआ कि **जो सौन्दर्यान्वेषी है, उससे अधिक सुन्दर इस लोक में कोई अन्य नहीं है।**

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' की गाथा-३ मे लिखा है - 'एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए। बधकहा एयत्ते तेण विसवादिणी होई॥' (उनका मानना है कि एकत्व को प्राप्त आत्मा (समय) ही इस लोक मे सुन्दर और समीचीन है। हमे 'एकत्व' और 'समय' दोनो शब्दो पर गहराई से जर्रे-जर्रे विचार करना चाहिये। एकत्व अर्थात् कैवल्य से गिरावट कोई अन्य सौन्दर्य इस लोक मे नहीं है। निश्चय ही, कैवल्य के तट पर अपनी नाव का लगर डालना आसान नहीं है, तथापि यदि साधना की जाए, तपश्चर्या हो तो यह भी असभव नहीं है।

वीतरागता की प्रक्रिया

अब हम 'वीतराग' शब्द पर आते है। इस सबन्ध मे भी आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' की गाथा २९६ ध्यान देने योग्य है - 'कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा। यह पण्णाइ विहत्तो यह पण्णाएव घित्तवो॥' सारांश है - शिष्य पूछ रहा है कि 'आत्मा का ग्रहण किस तरह होता है ?' आचार्य का उत्तर है - 'प्रज्ञा द्वारा, उस प्रज्ञा द्वारा जिसने उसे भिन्न किया था'। यहाँ 'भिन्नत्व' शब्द समीक्ष्य है।'भिन्न किससे ? भिन्न किसे ? भिन्न क्यो ? **इन समस्त प्रश्नों के तल में वीतरागता का वैज्ञानिक स्वरूप स्पन्दित है।** आवश्यकता सिर्फ इस बात की है, कि हमारी अगुलियाँ नाडी पर ठीक से अविचल हो, इस निष्कर्ष तक आने की है कि द्रव्य स्वतन्त्र है, उनकी निज की अस्मिताएँ है, वे एक-दूसरे मे हुए भले ही दिखायी दे, किन्तु अन्तत भिन्न है। स्व-पर विज्ञान के इस दुर्गम क्षेत्र मे सपूर्ण सक्रियता के साथ उतरने का नाम वीतरागता की प्रक्रिया मे गभीर अवतरण है।

वीतरागता का अर्थ

'वीत' शब्द 'वी' धातु से बना है, जिसका अर्थ है - 'जाना, गमन करना, तिरोहित होना, प्रस्थान करना, फेकना'। इस तरह 'वीत' के तुल्य शब्द हुए - 'रहित, नष्ट विगत, प्रस्थित इत्यादि'। इस सदर्भ मे 'वीतराग' होने का अर्थ हुआ - **वह व्यक्ति जिसका राग नष्ट हो गया है** (वीतो नष्टो येषा ते वीतरागा)। वीतरागता का मतलब हुआ राग-राहित्य, राग-रिक्ति, राग का वाष्पीकृत होना, राग से खाली होना।

राग क्या है ? 'सक्लेश' को राग कहा गया है। 'राग' का विपर्यय है 'द्वेष'। वस्तुत द्वेष राग की ही आकृति है। दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है। बौद्धो ने 'वीतराग' की जगह 'वीतद्वेष' पदबन्ध काम मे लिया है, जिसका अर्थ तो एक ही है, तथापि यह जान लेना अधिक श्रेयस्कर होगा कि राग, द्वेष का मूल है। उसके अस्तित्व मे द्वेष का अस्तित्व सन्निहित है, क्योकि जहाँ-जहाँ राग होगा, वहाँ-वहाँ द्वेष के लिए नियमित गुजाइश होगी, लेकिन रागोन्मूलन के बाद द्वेष के लिए कोई हाशिया नहीं छूटेगा, अत 'वीतद्वेष' की अपेक्षा 'वीतराग' पदबन्ध अधिक सटीक, पूर्ण और सार्थक पदबन्ध है। इस तरह वीतराग वह है, जिसमे-से राग अर्थात् सक्लेश अपगत अथवा निर्वासित हुआ है (वीताऽपगतो राग सक्लेशपरिणमो यस्मादसो वीतराग)।

यहाँ हम एक तर्कसगत उदाहरण लेगे। मान लीजिये कोई मूर्तिकार है, जो किसी महापुरुष की मूर्ति उत्कीर्णित करना चाहता है। तदनुसार उसने पाषाण खोज लिया है। टाँकी उसके हाथ मे है। पाषाण पर एक हाथ से यथाप्रज्ञा टाँकी जमा रहा है और दूसरे से छैनी के शिरोभाग पर प्रहार कर रहा है। पाषाण खिर रहा है। मूर्ति उभर रही है। व्यर्थता पाषाण की देह पर से खिर चुकती है और एक सांगोपांग समानुपातिक मूर्ति प्रकट होती है।

विज्ञान जैनागम का एक विशिष्ट शब्द, जिसका अर्थ है चारित्र

यहाँ पाषाण स्व-पर का एकमेक अस्तित्व है। प्रज्ञा टाँकी है। भेद-विज्ञान (चारित्र) का हथौड़ा लगातार चल रहा है। 'परत्व' कट रहा है, 'स्व-त्व' उभर रहा है। परत्व के भिन्न होते ही स्व-त्व आविर्भूत हुआ है। यह वीतराग विज्ञान है। 'विज्ञान' जैनागम का एक विशिष्ट शब्द है, जिसका अर्थ चारित्र है। वह यहाँ 'साइन्स' का पर्याय शब्द नहीं है। अंग्रेजी के साइंस के लिए हम विज्ञान शब्द का प्रयोग कर तो सकते हैं, किन्तु जैनागम के विज्ञान शब्द के लिए हम साइन्स शब्द का इस्तेमाल नहीं कर सकते। जैनागम का 'विज्ञान' शब्द अधिक व्यापक है। उसकी व्याप्ति वृहद्/विशाल है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को, जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है, हम 'वीतराग विज्ञान' की संज्ञा दे सकते है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' की गाथा २९४ मे **प्रज्ञा-छैनी** की महिमा का वर्णन किया है। गाथा है - 'जीवो बंधो य तहा छिज्जति सलक्खणेहिं णियएहिं। पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥' (अर्थात् जीव और बन्ध दोनो अपने-अपने नियम लक्षणो से प्रज्ञा-रूपी छैनी से इस तरह छेदे जाते हैं कि वे पृथक् हो पडते हैं।)

वीतरागता-विज्ञान

जिसे कुछ जैन सप्रदायो ने 'वीतराग-विज्ञान' कहा है (वीतरागता-विज्ञान कहा जाना चाहिये), वह सम्यक्त्व, मौलिकता, स्व-रूप की खोज का अपूर्व विज्ञान है।

जैफ़ हॉपकिन्स की एक किताब है 'एम्प्टीनेस योगा' जिसमे उन्होंने खाली होने की प्रक्रिया पर विचार किया है। यह खाली होना क्या है ? किससे खाली होना है ? कहाँ खाली होना है ?

यहाँ खाली होने से तात्पर्य है, वह जो अपने स्वामित्व मे नहीं है सिर्फ मूर्च्छा है उससे मुक्त होना। यह अनुभव, कि इस लोक मे कोई किसी के स्वामित्व मे नहीं है, सबके अपने-अपने स्वामित्व है। कोई टकराहट भी नही है। वस्तुत परद्रव्य को स्वद्रव्य मानने की भूल, या भ्रान्ति अज्ञान का सबमे बडा अभिशाप है।

रिक्त होने का सीधा-सादा अर्थ है स्वामित्व की भावना से मुक्त हो कर स्व-स्वामित्व की गहराइयों का आनन्द लेना, उसका अपूर्व रसास्वादन करना।

यहाँ इस तथ्य का ध्यान रखना होगा कि स्वाधीन होने का मतलब दूसरो के स्वामित्व से मुक्त होना मात्र नहीं है, अपितु उसका गूढार्थ है, अन्यो को भी उनके निज के स्वामित्व मे मुक्त मानना। सक्षेप मे, **इस रहस्य को जानना कि कोई किसी के स्वामित्व में नहीं है, सब भरपूर स्वाधीन हैं।**

वीतरागता इसी स्वाधीनता की खोज-बीन का परम तप है। यह विज्ञान है। स्व-पर को जानने और अलगाने का विज्ञान है। और यह तभी सभव है, जब हम प्रत्येक द्रव्य की जिनता को निर्ग्रन्थ/निर्भ्रम जाने और इस सच्चाई को समझे कि जो व्यक्तित्व हमे अपमिश्रित दिखायी देते है, वे अपमिश्रित नहीं हैं, पृथक् हैं।

इस तरह वीतरागता पार्थक्य-बोध/पृथक्करण का विज्ञान है - देह/विदेह को विलग्न करने की प्रक्रिया। यह सूक्ष्मतम है, अत इसकी उपलब्धि बगैर प्रज्ञापरक तप के सभव नहीं है। (तीर्थंकर, वर्ष २६, अक ७, नवम्बर, '९६)

वैराग्य, निर्बन्धता, वीतरागता डॉ. नेमीचन्द जैन, संपादन **प्रेमचन्द जैन** © **हीरा भैया प्रकाशन;** प्रकाशन . **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१,** (म.प्र.) मुद्रण · **नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर -४५२००९** (म.प्र), टाइप सैटिंग **प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५)** (म.प्र.); प्रथम सस्करण **मार्च , १९९८;** मूल्य : **तीन रुपये।**

तन-मन साधन; साध्य है आत्मा

- मानव-शरीर अनन्त नैमित्तिक शक्तियों का खजाना है। वह भेद-विज्ञान की जन्मस्थली है। भेद-विज्ञान-जैसा दुर्लभ रत्न हमें शरीर की गहराइयों में डुबकियाँ लगाने पर ही मिलता है।

- मानव-शरीर एक व्यवस्थित तन्त्र है, जिसका आत्मोन्नयन में विवेकपूर्वक उपयोग किया जाना चाहिये।

- जो मन की चंचलताओं को अविचलताओं में बदल सकता है, वह सब कर सकता है। जिसे वह करना चाहता है या जिसे किसी ने आज तक किया नहीं है या जिसे अब तक बहुत सारे महापुरुष सफल कर चुके हैं। जो मन की प्रच्छन्न भूमिकाओं की पहचान बनाता है, वही असली पण्डित है। मन को स्वस्थ रखने का मतलब है, तन को स्व+स्थ रखना।

- जैन योग में शरीर प्रधान नहीं है, भेद-विज्ञान मुख्य है। शरीर मात्र माध्यम है स्वरूप-प्रतिष्ठा का। आसन द्वारा ध्यान के अनुरूप ढल कर आत्मोपलब्धि की ओर निरन्तर पग उठाते जाना ही श्रेयस्कर है।

— डॉ. नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

मानव-शरीर-रचना

शरीर एक जटिल, सूक्ष्म, और असीमित सभावनाओ वाला अस्तित्व है। उसकी अपनी अस्मिता और भूमिका है, अत हम आध्यात्मिक साधना के क्षणो मे उसके प्रति उदासीन तो हो, किन्तु उसकी उपेक्षा न करे।

ध्यान से देखेने तो पायेगे कि हमारा शरीर अनन्त नैमित्तिक शक्तियो का खजाना है। वह भेदविज्ञान की जन्मस्थली है। भेदविज्ञान-जैसा दुर्लभ रत्न हमे शरीर की गहराइयो मे डुबकियाँ लगाने पर ही मिलता है।

शरीर-विषयक कुछ तथ्य

हम शरीर के बारे मे उपलब्ध कुछ तथ्यो पर एक सरसरी नजर डालते है -

१ शरीर मृत्यु को समझने का प्रमुख स्रोत है।

२ शरीर आत्मा तक पहुँचने, उसे जानने, उसे समझने, और उसके शुद्ध रूप को प्राप्त करने का माध्यम है।

३ भेदविज्ञान को कखग से क्षत्रज्ञ तक जानने के लिए शरीर की अस्मिता को जानना आवश्यक है।

४ हम अपने अध्ययन मे शरीर और आत्मा को विविक्त/अ-समन्वित देखे।

५ इस प्रक्रिया मे हम इन दोनो को समन्वित भी देखे।

६ क्रमश हम इस सम्यक्त्व को अपनी गिरफ्त मे ले कि 'शरीर और आत्मा दो स्वतन्त्र अस्तित्व है'। इनका दृश्य सबद्ध होते हुए भी अदृश्य असबद्ध है।

७ आत्मावलोकन के इन क्षणो मे शरीर की पकड़ ढीली पड़ती जाएगी और आत्मा तक पहुँचने का मार्ग खुलता जाएगा।

८ हमे जानना होगा कि इन्द्रियो की सीमा है, किन्तु ऐसा कुछ भी है जो इन्द्रियातीत है और जिसे हम अन्तर्मुख पुरुषार्थ से प्राप्त कर सकते है।

९ आधुनिक शरीर-विज्ञान की उपलब्धियो को सप्ततत्त्व (जीव, अजीव, आस्रव, वध, सवर, निर्जरा, मोक्ष) से जोड़ कर देखे। विज्ञान को निपट मिथ्यात्व न माने, बल्कि उसके सहारे सम्यक्त्व को अधिक गहराये।

शरीर-रचना का मूल घटक

हम शरीर की सावधान प्रेक्षा करे। उसे टटोले। जाने कि शरीर-रचना का मूल घटव क्या है ?

शरीर कोशिकाओ से बना है। हमारे शरीर मे लगभग ६०० खरब या ६ नील कोशिकाएँ है, जो विश्व की जनसख्या की १०,००० गुना है। हरेक कोशिका महीन झिल्ली से बनी एक थैली है, जिसमे जल और तेज-चक्कर -काटता रासायनिक मिश्रण है। हरेक कोशिका मे एक केन्द्रक (न्यूक्लियस) है , जो डीएनए (डाईऑक्सी-रिबो-न्यूक्लिक-एसिड) को बाँधे हुए है। डीएनए शरीर की आनुवशिकता को नियन्त्रित करते है। इसका सबन्ध आनुवशिकी (जीनेटिक्स) से है। जीन हमारी अनुवश-धारा को शासित करते है। एक कोशिका मे ४६ गुणसूत्र (क्रामोसम्स) होते है। ये सब अणु स्कन्ध/मॉलीक्यूल्स से बने हैं।

शरीर सूक्ष्म-जटिल यत्र

पूरे शरीर मे तन्त्रि-कोशिकाओ का जाल बिछा हुआ है। (तन्त्रि-कोशिका को 'न्यूरोन' कहा गया है।) न्यूरोन की बनावट काफी पेचीदा है। जो न्यूरोन (तन्त्रि-कोशिकाएँ) मस्तिष्क और केन्द्रीय नाड़ीतन्त्र की रचना करते है वे सूत्रयुग्मन् (सिनैप्सिस) से सेतुबधित है और पूरे शरीर मे एक सवाद-प्रणाली बनाते है। सिनैप्स सूक्ष्म द्रुमिकाओ (डेड्राइट्स) को अलगाते है। द्रुमिकाएँ प्रत्येक तन्त्रि-कोशिका के सिरो पर उग आती हैं। हमारे शरीर मे इस तरह की ख़रबो द्रुमिकाएँ है। शरीर-विज्ञानियो के अनुसार सिनैप्स (सूत्रयुग्मो) पर से गुजरने वाले सचेतन सकेतो की सख्या लगभग उतनी ही है जितनी लोकव्याप्त परमाणुओ की है। सकेतो का यातायात कल्पनातीत गति से चलता है। जितनी अवधि मे आप इस वाक्य, या वाक्याश को पढ़ेगे उतने सूक्ष्म अतराल मे मस्तिष्क लाखो-लाख सचेतन सकेत सेकड के लाखवे भाग मे सम्प्रेषित कर चुका होगा। हम अनुमान ही नहीं कर सकते कि इतने कम समय मे खबरो न्यूरोन परस्पर जुड़ कर एक सुस्पष्ट और व्यवस्थित सवाद पक्ति कैसे बन जाते है, मिट जाते है, फिर बन जाते है, और फिर तिरोहित हो जाते है। जाने, कि शरीर एक ऐसा सूक्ष्म-जटिल यत्र है जिसे ठीक से समझ कर हम आत्मावलोकन या अत्मान्वेषण की साधना (योग) को प्रखर तथा जीवन्त कर सकते है।

शरीर-विज्ञानी की पहुँच

शरीर-विज्ञानियो ने शरीर मे होने वाली सचेतन गतिविधियो की भी गहन समीक्षा की है, किन्तु वे आत्मद्रव्य तक अपनी पहुँच अभी नहीं बना पाये हैं।

कोई भी विचार या भावना या मनोविकार अमूर्त नहीं है, वह पुद्गलरूप है- इस तथ्य को न सिर्फ जैन दार्शनिक मानता है वरन् शरीर-विज्ञानी (भौतिकी-विज्ञानी) भी प्रतिपादित करता है। माना गया है कि प्रत्येक मनोविकार या विचार की एक पौद्गलिक छबि बनती है। विचार और स्कन्धगत परिवर्तन तो हम जान पाते है, किन्तु इन दोनो खूँटियो के बीच की अन्तर्वर्ती प्रक्रिया या बोध हमे नहीं होता। मस्तिष्क के सकेत लगातार किस तरह स्कन्ध मे रूपान्तरित होते है, इस क्रिया को सिर्फ भेदविज्ञान के माध्यम से ही जाना जा सकता है। भौतिकी, या शरीर-विज्ञान ने बीच के इस खालीपन (गैप) को अज्ञात या शान्त या 'स्कन्धशून्य जागरूकता' (मैटरलेस अवेरनेस) कहा है। अनुभूत प्रज्ञा और स्कन्ध के बीच की अन्त सधि इतनी सूक्ष्म है कि उसे सिर्फ योग-साधना मे ही गिरफ्त मे लिया जा सकता है। खयाल रहे, कि शरीर-विज्ञान ने सुस्पष्टता से माना है कि प्रत्येक केन्द्रक के चैतन्य-से-परिवेष्टित होने पर भी दोनो के बीच एक सूक्ष्म अन्त सधि है। दोनो है जुड़े हुए तथापि दोनो अलग है। स्पृष्ट हो कर अस्पृष्ट है। इस तथ्य पर हम जैन कर्म-सिद्धान्त को ध्यान मे रख कर विचार कर सकते है। भेदविज्ञान-जनित प्रज्ञा का प्रहार इसी अन्त सधि पर होता है।

शरीर को प्रयोगशाला बनाइये

कोशिकाएँ बनती कैसे है ? जो हम खाते है उसमे-से कोशिकाओ की सरचना होती है। वस्तुत हम है क्या ? हम वही है -निरन्तर होते रहते है, जो हम इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण करते है। छूना, देखना, चखना, सुनना, सूँघना सिर्फ त्वचा, चक्षु, जीभ, कान और नाक से ही नही होता - इनके बगैर भी अहर्निश होता रहता है। हमारी आन्तरिक सरचना उसमे-से भी होती है जो इन्द्रिगम्य नही है। जैन कर्म-सिद्धान्त को हम आगमोक्त पद्धति से तो देखे ही, न्यूरोन-सिद्धान्त की छाया मे भी उसका अध्ययन करे। शरीर को हम प्रयोगशाला बनाये और ध्यान को सूक्ष्मवीक्षक यन्त्र और फि जैनयोग को समझने का प्रयत्न करे।

कोशिकाओ से ऊतक (टिस्सू) बनते हैं और ऊतको से शरीर-के-अवयव ऊतको के कई प्रकार है। हम मात्र अस्थि-ककाल नहीं है, इससे पार भी कुछ है। हम ककाल है, कगाल नही है। हम शुद्ध चैतन्यरूप है। ज्ञान-समृद्ध है - इस तरह के कुछ कि हमे इस बात का अन्दाजा नहीं है कि हमारे पास कितना बृहद् खजाना है।

शरीर की गहरी छानबीन

मानव-ककाल अस्थियो और उपास्थियो से बना है। 'भगवती आराधना' की गाथा १०२१ से १०२९ तक शरीर के अवयवो का वर्णन है, जिसके अनुसार हमारे शरीर मे ३०० अस्थियाँ है, जो कुथित (मलिन) मास-रुधिर आदि मज्जा से भरी है।

सपूर्ण शरीर मे ३ सधियॉ है। ९०० स्नायु है। ७०० शिराऍ है। ५०० मास-पेशियॉ है। ४००शिराजाल है । १६ महाशिराऍ है। ६ शिरामूल है। २ मास-रज्जु है - एक पीठ और एक पेट के आश्रित। ७ त्वचाऍ है। ८० लाख करोड़ रोम है । पक्वाशय/आमाशय मे १६ ऑते है। ७ मल-स्थान है। इस तरह की कई जानकारियॉ हमारे आगमो मे उपलब्ध है, जिनसे सिद्ध होता है कि हमने शरीर की गहन छानबीन की है और यथासमय उसकी शक्तियो का आत्मोन्नयन मे उपयोग किया है।

स्थूलत शरीर मे मन, और पॉच इन्द्रियॉ है , जो नाना प्रकार की भूमिकाऍ अदा करती है।

शरीर-विज्ञान की दृष्टि

शरीर-विज्ञान की दृष्टि से मोटे तौर पर मस्तिष्क, कण्ठ, फेफड़े, हृदय, ऑते, गुदा और मूत्र-द्वार है जो क्रमश चिन्तन, ध्वनन, श्वसन, रक्त-सचरण, पाचन, तथा मल-विसर्जन की क्रियाओ से सबद्ध हैं।

हम शरीर मे हैं, शरीर नहीं हैं

जैनयोग का स्पष्ट सकेत है कि शरीर को अन्तिम मत मानो। उसकी देखभाल करो, किन्तु उसके दास मत बनो। जानो कि वह साधन है, साध्य नहीं है। स्पष्ट है कि हम शरीर मे है, शरीर नहीं है।

मानव-शरीर एक व्यवस्थित तन्त्र

हम ऊपर कह आये है कि शरीर एक जटिल यन्त्र है जिसमे छह नील कोशिकाऍ है। नसो का एक अन्तहीन/विस्तृत जाल बिछा हुआ है। अस्थियॉ है। मास-पेशियॉ है। पेशियो के सकोच-विस्तार से नाना क्रियाऍ सपन्न होती है। शिराऍ, तन्त्रिकाऍ, द्रुमिकाऍ, कोशिकाऍ, ऊतक इत्यादि एक-दूसरे से गुॅथ कर पूरे शरीर मे बिछे हुए हैं। हमारा शरीर एक महानगर है, जिसकी अपनी टेलीफोन, मल-निकास, माल-गोदाम, सड़के, यातायात-नियन्त्रण आदि व्यवस्थाऍ है। शरीर एक स्वायत्त/प्रभुता-सपन्न राष्ट्र-जैसा है जिसमे हृदय, मस्तिष्क, फेफड़े अविरुद्ध गति से कर्तव्यरत है। धमनियॉ चल रही है। खून दौड़ रहा है। ऊतक/कोशिकाऍ आदि मुस्तैदी से अपने-अपने मोर्चे पर तैनात है। नसे सकेत ला रही है, सूचनाऍ ढो रही है। मास, मज्जा, रुधिर, वात, पित्त, कफ तमाम अपनी-अपनी भूमिकाऍ अदा कर रहे है। त्वचाऍ हैं, जो उसे सुन्दर तो बनायी ही हैं, कुछ अन्त स्रावी ग्रन्थियॉ (ग्लैड्स) है, जो उसकी भावनाशीलता, चयापचय, बढत आदि को नियामित करती है। कुल मिला का मानव-शरीर एक व्यवस्थित तत्र है, जिसका अत्मोन्नयन मे विवेक पूर्वक उपयोग किया जाना चाहिये।

मन को मनन से जीतना सभव

मन तो मन है, उसकी शक्तियो का कहीं-कोई ठीक से बही-खाता नहीं है। कई 'सीए' (चार्टर्डएकाउण्टेण्ट) मिल कर भी उसके हिसाब की खतौनी नहीं कर पाते। वह है, उस-सा न कोई आज तक हुआ है और न कभी होगा। उसकी उपमा वह स्वय है। उसे जीता, कि शायद फिर किसी ओर को जीतने की जरूरत नहीं है। सूक्ति है कि मन को सिर्फ मनन से ही जीता जा सकता है। यही एक ऐसा अकुश है जो मन-के-हाथी के कुम्भस्थल पर ठीक से अपनी नोक चुभो पाता है। पर यह अकुश हर किसी को नहीं मिलता। कई बार तो कई साधु-सत, योगी-महायोगी भी इससे वचित रह जाते है। मन का हाथी जब झूम कर चलता है, तब दुनिया का कोई सयम उसे रोक नहीं पाता। यम भी कहाँ रोक पाता है मन को। शायद यम का भी मन है और वह भी इस मन के कब्जे से बाहर नहीं है।

मन माध्यम बन सकता है

मन असल मे सिर्फ एक कड़ी है, बिजली का खम्भा है। जैसे न तो कोई कड़ी पूरी लड़ी होती है और न ही कोई बिजली का खम्भा बिजली-ठीक वैसे ही मन न तो समग्रता है और न ही शक्ति। वह मात्र आधार है - आधेय कुछ और ही है। जब तक हम मन के इस स्वरूप को ठीक से समझेगे नहीं, उसे नियन्त्रण मे लेना सभव नहीं हो पायेगा। मन वस्तुत स्वय मे निर्विघ्न है, किन्तु वह किसी भी काम मे विघ्न बन सकता है, मन असल मे स्वय मे न तो कोई सुविधा है, न लक्ष्य, किन्तु वह किसी भी अच्छे लक्ष्य तक पहुँचने के लिए माध्यम बन सकता है और इसी तरह किसी भी मजिल तक पहुँचने के लिए सीढी बन सकता है। जब तक हम उसके स्वरूप अर उसके व्यक्तित्व को नहीं जानेगे, उसका भरपूर और सार्थक उपयोग नहीं कर पायेगे।

मन की अजब माया

मन की अजब माया है। देखिये न, उसकी वजह से कहीं धूप और कहीं छाया है। कभी धूप भी छाया और कभी छाया भी धूप है। यदि आपका मन शान्त और निर्भ्रम है तो कड़ाके की दोपहरी भी आपके लिए एक सघन अमराई है और यदि वह अशान्त और दिग्भ्रमित है तो किसी वरद/सघन बरगद की छाँव भी भट्टी की तरह आपको झुलस-जला सकती है।

मन·स्थिति

मन स्थिति एक ऐसी अवस्था है जो सम को विघ्न और विषम को सम कर सकती है। यह जादूगरी है जो सिर्फ मन के पास है। मन बहुत बड़ा जादूगर है। वह कई बार हाथ की ऐसी·सफाई झाड़ता है कि अच्छो-अच्छो की नाक पर नकेल पड़ जाती है और नहीं तो कहीं कुछ घटित नही होता।

मन को गुलाम बनाइये

वैसे सब फकीर है। धन क्या कोई लादे फिरता है ? हवेलियॉ कोई जेल मे रख कर चलता है ? पद या ओहदे कोई हथेली पर लिये नही फिरता। यह सिर्फ मन है जो क्षण-भर मे आपके सर पर करोड़ो लाद दे और क्षण-भर मे आपको कॅगाल कर दे। बिस्तर मे पडे-पड़े या किसी चौराहे पर खडे-खड़े आप पलक मारते कॅगले हो पड़ते है, और क्षण-भर मे विश्व के सबमे महान् सम्पत्तिवान्। मन चाहे तो किसी तख्ते ताऊस पर आपको बिठा दे और चाहे तो दर-दर का भिखारी बना दे, इसलिए मन के गुलाम मत बनो, मन को गुलाम बनाओ। और असल मे इसे गुलाम बनाओ ही क्यो, इसे एक अच्छा/विश्वसनीय मित्र या सखा ही क्यो न बनाया जाए ?

मन मुनीम, मन मालिक

मन टकसाल भी है और खजाना भी है। वह सिक्के ढालता भी है, सचित भी करता है। वह मुनीम है, वह मालिक है। वह हिसाब रखता है, 'वह सिर्फ मेरे पास इतना है' सिर्फ इतना जान कर फूल कर कुप्पा हुआ रहता है। मन जानता है कि उसे कब किसकी, कोन-सी नस पकड़नी है। वह वैद्य-हकीम-डॉक्टर सब है। वह कब क्या है, इसकी जानकारी बहुत कम लोगो को होती हे, जिन्हे होती है- वे इतने बड़े होते है जितना बडा कोई और नहीं होता। 'बड़ा' शब्द स्वय मे गरमा या शरमा पड़ता हे, जब वह ऐसे लोगो का विशेपण बनता है।

मन अनन्त शक्तियो का भाण्डार

यदि हम मन को तटस्थ रख सके तो उसमे शक्ति का निरन्तर उत्पादन कर सकते हे अर्थात् खर्च हुई शक्ति के मलवे को भी पुन शक्ति मे परिवर्तित कर सकते हे-करते रह सकते हे। मन अनन्त शक्तियो का भाण्डार हे। ये शक्तियॉ कितनी हे, इसे कोई नहीं जानता, कहते हे रग के - किसी भी रग के, अव तक २० लाख शेड्स जाने जा चुके ह। अर्थात् लाल रग या हरा रग २० लाख छवियॉ रखता हे इसका हिसाव लोगो ने लगा लिया हे, किन्तु अभी भी द्वार खुला हुआ हे और इससे आगे भी कोई छवि हो सकती हे। यही हाल मन का है। उसकी छवियो का भी कोई अन्त नहीं हे। मन की नामालूम कितनी अवस्थाएं आज सामने आ चुकी हे, किन्तु यह भी तय हे अभी द्वार बन्द नहीं हुआ हे- और-और छवियां भी सामने आ सकती हैं। कव कोन-सी छवि किसके माध्यम से प्रकट होगी, हम नहीं जानते, किन्तु संभावना से हम इकार कर सकते।

मन की शक्तियो को पहिचानना जरूरी

देखा गया है कि मन एक ऐसा वजूद (अस्तित्व) है, जिसका उपयोग हम भी कर सकते है और जो मौका पाते ही हमारा उपयोग भी कर सकता है। जब हम मन का उपयोग करने की स्थिति मे होते है तब उससे श्रेष्ठ अवस्था कोई और हो नहीं सकती, किन्तु जब मन हमारा उपयोग करने की स्थिति मे होता है तब फिर शायद हमे कोई बचा भी सकता है या नहीं, हम नहीं जानते। मन को जब छूट मिलती है तब वह अत्यन्त खतरनाक हो पड़ता है। वह कब किस पाताल मे और कब किस आकाश मे ले जाए - कोई नहीं जानता, अत हमे मन की गहराइयो की थाह पानी चाहिये, उसकी-शक्तियो को पहिचानना चाहिये और उसके खजाने मे जो रत्न छुपे पड़े है, उन्हे उघाड़ कर/ उपलब्ध कर उनका उपयोग करना चाहिये।

मन स्वस्थ = तन स्व+स्थ

वस्तुत जो मन की चचलताओ को अविचलताओ मे बदल सकता है वह सब कर सकता है जिसे वह करना चाहता है या जिसे किसी ने आज तक किया नहीं है, या जिसे अब तक बहुत सारे महापुरुष सपन्न कर चुके है। जो मन की प्रच्छन्न भूमिकाओ की पहचान बनाता है, वही असली पण्डित है। मन को स्वस्थ रखने का मतलब है, तन को स्व+स्थ रखना।

तन-मन साधन; साध्य है आत्मा

हम जिसे शरीर कहते है, वह एक जटिल-पेचदार यन्त्र है। शरीर स्वस्थ और तत्पर रहे इस दृष्टि से योगियो ने कई उपाय किये है, क्योकि शरीर की उपेक्षा (उसके प्रति उदासीनता नहीं) किसी भी स्थिति मे सभव नहीं है। जो योगी चित्त पर नियन्त्रण चाहता है, उसे सब मे पहले देह का नियमन (वल्गन) करना होगा। शरीर क्या है ? चित्त-निरोध के अनुरूप इसे कैसे ढाला-बनाया जा सकता है ? क्या साधन के रूग्ण, प्रमत्त, अनुपयुक्त, या अक्षम होने पर साध्य की प्राप्ति सभव है ? क्या एकाग्रता के निमित्त हमे शरीर को स्वस्थ, अप्रमत्त, उपयुक्त, और सक्षम बनाये रखने की कला नहीं सीख लेनी चाहिये ?

शरीर के सगीत को सम रखने की सर्वोत्तम कला योग

योग शरीर के सगीत को सम पर रखने की सर्वोत्कृष्ट कला है। वस्तुत वह न केवल देह को अपितु विदेह को भी लक्ष्य पर अविचल-एकाग्र बनाये रखने की अनुपम कला है। मन की चचलताओ को योग ही शान्त कर सकता है। चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है। इस योग से स्वरूप-प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। पतञ्जलि ने योग के आठ अगो का उल्लेख किया है। इस समूह मे आसन का तीसरा और ध्यान का सातवाँ क्रम है। उक्त

वर्गीकरण मे क्रम का अपना महत्त्व है। यम-नियम के बाद ही आसन की स्थिति है। इसी तरह आसन के बाद प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा के अनन्तर ध्यान अवस्थित है। योग का चरण बिन्दु है समाधि।

शरीर-शुद्धि-स्थिरता का सहज साधन आसन

जैनाचार्यो ने योगासनो और ध्यान पर विस्तारपूर्वक विचार किया है, किन्तु ऐसा करते हुए भी उनकी ऑख प्रतिपल भेदविज्ञान और आत्मविशुद्धि पर ही रही है। उन्होने आसनो को अनिवार्य नही माना है, उन्हे माना है शरीर-शुद्धि का, इन्द्रियजय का एक सहज उपाय। वस्तुत ध्यान आत्मशोधन की एक सूक्ष्म प्रक्रिया है, आसन जिसके लि मच बनते है। जब हम एकाग्र हो कर अन्तर्मुख होते है और स्वय-मे-स्वय को खोजते है तब ध्यान की असली बारहखड़ी शुरू होती है। ध्यान पानी के सिमिट कर किसी एक केन्द्रबिन्दु पर धारापात का नाम है, विभक्त जल या विभक्त मन का कोई अर्थ नही है कुछ भी जब बॅट जाता है, तब उसकी शक्ति घट जाती है, किन्तु जब वही एकत्र/एका हो कर किसी एक निर्धारित बिन्दु से टकराता है, तब स्थिति आमूल बदल जाती है लक्ष्यसिद्धि की सभावनाऍ बढ जाती है।

शरीर-सरचना का ज्ञानवर्द्धक वर्णन

व्यायाम (वि+आयाम) और प्राणायाम (प्राण+आयाम) दोनो शब्दो मे 'आयाम' शब्द आया है, जिसका अर्थ है -विस्तार, खुलाव। अगो के विस्तार का नाम व्यायाम और वायु के योजित विस्तार की सज्ञा प्राणायाम है। हमारा शरीर एक अद्वितीय अस्तित्व है, जिसमे नसो का एक अन्तहीन सूक्ष्म बृहज्जाल बिछा है। 'भगवती आराधना' (गाथा १०२१-३०) मे शरीर की सरचना का बड़ा ज्ञानवर्द्धक, प्रामाणिक, और रोचक वर्णन दिया है। यह इस प्रकार है - 'शरीर मे ३०० हड्डियॉ है, जो कुथिल (मलिन) मज्जा से लथपथ हैं। सपूर्ण शरीर मे ३०० सधियॉ है। इसमे ९०० स्नायु, ७०० शिराऍ तथा ५०० मासपेशियॉ है। इसमे ४०० शिराजाल, रक्त से आपूर्ण १६ महाशिराऍ, ६ शियामूल, २ मास-रज्जु (एक पीठ और एक पेट के आश्रित), ७ त्वचाऍ, ७ कालेयक-मासखण्ड, और ८० लाख कोटि रोम है। इसमे स्थिति पक्वाशय और आमाशय मे १६ ऑते है। मनुष्य-शरीर मे १६ मलस्थान है। इसमे ३ थूणाऍ-वात, पित्त, कफ, १०७ मर्मस्थान, तथा ९ व्रणमुख-मलद्वार है, एक अजुलिप्रमाण मस्तिष्क है, एक अजुलिप्रमाण मेद है, और एक अजुलिप्रमाण वीर्य है। ३ अजुलिप्रमाण बसा, ६ अजुलिप्रमाण पित्त, ३ अजुलिप्रमाण कफ, तथा आधे आठक या ३२ पल-प्रमाण रुधिर है। सूत्र आठक प्रमाण, विष्ठा ६ प्रस्थप्रमाण, तथा स्वाभाविक स्थिति से २० नख और ३२ दॉत है। जैसे किसी घाव मे कीडे भरे रहते हैं वैसे ही यह बहुत से कीड़ो से भरा है। समस्त शरीर को पॉच वायु परिवृत किये हुए है।' मानव-शरीर कोशिकाओ का एक

महानगर है। हमारे शरीर मे लगभग छह नील ६०००००००००००००० कोशिकाएँ है। कोशिकाओ की यह आबादी पृथ्वी की कुल आबादी की २४००० गुना है। शरीर के विभिन्न अगो की कोशिकाएँ एक-दूसरे से काफी भिन्न है। इनका आकार इतना सूक्ष्म है कि एक आलपीन की नोक पर लगभग १०००००० कोशिकाएँ अवस्थित हो सकती हैं, जबकि बड़ी शुतुरमुर्ग के अण्डे के आकार की भी होती है। इसी तरह हमारी श्वसन-क्रिया रात-दिन बहुत वेग से और सुव्यवस्थित चल रही है। स्वस्थ मनुष्य मे प्राणवायु का जाना-आना दिन-रात मे २१६०० बार होता है (ज्ञानार्वण)। इस प्रकार एक विशाल कारखाना हमारे शरीर मे सक्रिय है, जिसमे समय-समय पर हड़ताले और तालाबन्दी भी होती है, विद्रोह, धरने और आन्दोलन भी होते है। जब शरीर का प्रबन्ध बिगड़ता है, तब वह अस्वास्थ्य या रोग कहलाता है। इन अस्वस्थताओ के निवारण के कई लौकिक उपाय है, किन्तु योगी आसन-प्राणायाम द्वार अपने शरीर को इतना नियमित और व्यवस्थित रखता है कि वह अनुक्षण उसकी आध्यात्मिक लक्ष्यसिद्धि का समर्थ माध्यम बना रहता है।

शरीर और आत्मा के पार्थक्य की अनुभूति/प्रतीति ध्यान से सभव

ध्यान का असदिग्ध लक्ष्य आत्मानुसधान है। इसके द्वारा योगी/ध्याता शरीर और आत्मा दोनो के पार्थक्त की अनुभूति/प्रतीति करता है। वह स्पष्ट देखता है। कि शरीर शरीर है, आत्मा आत्मा है, दोनो के गुण-धर्म और व्यक्तित्व जुदा है। ये एक दीख पड़ते है, है पृथक्, इनके एक होने का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योकि दोनो की सरचनाएँ भिन्न है। योगी ध्यान की छैनी से उस सधिरेखा पर अचूक प्रहार करता है, जो इन्द्रियगोचर नहीं है, किन्तु आत्मानुसधान की प्रक्रिया मे जिसे देखा जा सकता है। यह अगोचर सूक्ष्मतम सधि ध्यान के उजाले मे दिखायी दे सकती है, किन्तु एकाग्रता हुए बिना दोनो दो जुदा अस्तित्व है, इसकी धुँधली अनुभूति भी मुश्किल है। आसन देह को एक सुखद-समरस अनुशासन मे लेने की प्रक्रिया है। ध्याता किसी आसन पर है और सुख से अबाध उतर गया है स्वय मे गहरे, शरीर मे बेभान, तो हम कहेगे इसे ध्यानपरक आसन अन्यथा वे आसन जो कष्टप्रद या क्लेशपूर्ण है, व्यायापरक तो हो सकते है, ध्यानात्मक हम उन्हे नहीं कहेगे, क्योकि जब किसी आसन मे हम बिना किसी आकुलता के घटो बने रहते है तभी ध्यान की प्रक्रिया का कोई नतीजा सामने आता है, यद्यपि नतीजे का यह क्षण शब्दातीत होता है, तथापि उसकी उपलब्धि के लिए सतत् अभ्यास की आवश्यकता है। यदि ध्यान की प्रक्रिया मे एक आँख देह पर और एक एकाग्रता के प्रयत्न पर है तो इस दुविधा मे दोनो ही मुट्ठी से खिसक जाते है। न माया मिलती है न राम। आसन की अविचलता/सुदृढ़ता और दीर्घता की सप्राप्ति को 'आसनजय' का नाम दिया गया है। इस मजिल तक 'इन्द्रियजय' के बिना पहुँचना सभव नहीं है। इन्द्रियनिग्रह यम-नियम की अप्रमत्त साधना से होता है।

शरीर प्रमाद को तोड़ने का अमोघ उपाय आसन

आसन असल मे शरीर के प्रमाद को तोड़ने का अमोघ उपाय है। शरीर की लगाम आठोयाम चित्त के हाथ मे बनी रहे इसलिए है ये आसन। इनके दो प्रकार है व्यायामात्मक (यथा-शीर्ष, भुजग, शलभ, मयूर, कुक्कुट, उत्तानपाद आदि), ध्यानात्मक (यथा-पद्म, पर्यक, वज्र, सिद्ध, सुख, सम आदि)। ध्याता, या ध्यानाभ्यासी के लिए ध्यानपरक आसनो का ही विधान है। इन आसनो का उद्देश्य देह को ध्यान के उपयुक्त बनाये रखना है। व्ययामपरक आसन जहाँ एक ओर शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाते है, ध्यानपरक उसे आध्यात्मिक साधना मे सहयोगी हो सके इस तरह ढालते है। जैनाचार्यो ने सहनन (शरीर की क्षमता) को दृष्टि मे रख कर ही ध्याता के लिए विविध आसनो की अनुशसा की है, इसीलिए जो ध्याता है वह व्यायाम-परक आसनो के प्रति उदासीन रहता है और ध्यान मे स्फूर्ति प्रदान करने वाले आसनो का अभ्यास करता है।

जैन योग मे आसन

जैन योग मे आसन के अर्थ मे 'स्थान' शब्द प्रयुक्त है। आसन का अर्थ है 'बैठना' जब कि स्थान का अर्थ है-'गति-निवृत्ति'। जो हो, सुस्थिरता, निराकुलता, अविचलता आसन का एकमेव लक्ष्य है। आसनो को ३ स्थितियो मे सपन्न किया जा सकता है - खड़े रह कर, बैठ कर, लेट कर। यहाँ हम बैठ कर किये जाने वाले आसनो पर ही विचार करेगे। खड़े रह कर जो आसन जैन ध्याताओ मे लोकप्रिय रहा है, वह है - कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग)। यह ध्याता के चित्त को भेदविज्ञान की ओर उन्मुख करता है। ध्याता के भीतर अन्तर्बोध की सूक्ष्म प्रक्रिया अनवरत चलती है, आत्मशोध एक क्षणाश को भी अनुपस्थित नहीं होता, जहाँ/जब/जितना वह अनुपस्थित होता है, वहाँ/तब/ उतनी निष्फलता उसे मिलती है।

शरीर मात्र माध्यम है स्वरूप -प्रतिष्ठा का

जैन योग मे शरीर प्रधान नही है, भेदविज्ञान मुख्य है,शरीर मात्र माध्यम है स्वरूप-प्रतिष्ठा का, आसन द्वारा ध्यान के अनुरूप ढल कर आत्मोपलाब्धि की ओर निरन्तर पर उठाते जाना ही श्रेयस्कर है।

तन-मन साधन; साध्य है आत्मा · डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन **प्रेमचन्द जैन** © **हीरा भैया प्रकाशन;** प्रकाशन **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१,** (म.प्र) मुद्रण : **नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर -४५२००९** (म प्र), टाइप सैटिंग **प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५)** (म प्र), प्रथम सस्करण मार्च, १९९८; मूल्य · **तीन रुपये।**

तीर्थयात्रा : शान्ति की खोज़

☆ बाहर की तीर्थयात्राएँ सिर्फ अभ्यास हैं भीतर के तीर्थाटनों का। यदि हम अंतरंग में अमंगित स्वरूप-सिन्धु में अवगाहन कर सकें तो शायद इससे बडी और कामयाब तीर्थयात्रा कोई और नहीं हो सकती।

☆ तीर्थयात्राओं में ज्यादातर लोग तिरने की जगह डूबने लगते हैं। वे डूबने इसलिए लगते हैं चूँकि वे संकल्प में अ-डूबे या अध-डूबे होते हैं।

☆ तीर्थयात्रा सम्यक्त्व की उपलब्धि-यात्रा है; इसलिए जो लोग दुराग्रही न हो कर उदार सहिष्णु होते हैं और अपनी भूलों को दुरुस्त करने के लिए प्रतिपल तैयार रहते हैं- वे ही सच्चे तीर्थयात्री होते हैं।

☆ सम्यक् - संतुलित तीर्थयात्रा वही है जो तीर्थयात्री को वीतरागोन्मुख करे; उसे पूर्वाग्रहों से हटा कर उसके चित्त की निर्मलता को प्रकट करे।

- डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

तीर्थयात्रा : आन्तरिक तीर्थाटन का अभ्यास

कोई चाहे जिस उम्र, जिस पेशे का हो, चाहता है कि उसे शान्ति मिले, सुकून मिल और वह सुख-चैन की जिन्दगी बिताये। नहीं चाहता वह कि उसके मन पर यह या वह बोझ, अथवा ऐसा या वैसा कोई तनाव हो, वह तो एक शान्त-सपाट-सघर्ष और टकराव-रहित जीवन जीना चाहता है। पर करे क्या ? मन पर काबू पाना बहुत मुश्किल है। मन-वानर चचल है। वह कभी इस, तो कभी उस डाल पर कूदता रहता है। उसका प्रयोजन भी स्पष्ट नहीं है। वह क्यो एक जगह नहीं टिकता-उसके इस तरह अस्थिर रहने का राज क्या है, इसे कोई नही जान पाया। कश्ती अक्सर दरिया के सीने पर उतरती है मगर आज तक वह उसका राज नहीं जान पायी। पूरा शेर है - 'बारहा सीने मे उतरी है मगर / राज कब दर्या का कश्ती पर खुला।'

बेसहारा मन को सहारा मानना बडा धोखा

सतो का कहना है कि मन को कोई-न-कोई सहारा चाहिये वह यह नहीं देखता कि सहारा भला या बुरा, खरा है या खोटा उसे तो सिर्फ सहारा चाहिये। सत उसकी वृत्ति को जानते है और उसे बेहतर अवलम्ब देने की कोशिश करते है, किन्तु सतो के अलावा वे लोग जो इस बेसहारा मन को ही सहारा मानते है - जम कर धोखा खाते है और कही के नहीं रहते।

'मन' को 'अ-मन' की खोज़ मे प्रवृत्त करना आवश्यक

जब अमन की खोज मे मन निकलता है तब सतो की किसी कीमती बानी के असर-आवेश मे ही निकलता है। वैसे उसका अपना कोई सुनिश्चित मिशन तो है नही। भटकना और खाली हाथ डेरे पर लौटना उसकी वृत्ति है।

जो लोग 'मन' को 'अ-मन' की खोज मे प्रवृत्त करते है, वे मुनि कहलाते है। कर्मठ साधक के आगे मन एक आज्ञाकारी सेवक की तरह नतमस्तक खड़ा रहता है- ऐसे मे वह 'मन' नही 'अ-मन' होता है।

'अ-मन'/'अ-मान' का अर्थ आकुलता और अहकार से मुक्त होना

'अमन' अरबी का शब्द है, किन्तु यदि हम कामचलाऊ मन से उसे सस्कृत का मान ले और 'जो मन नही है वह अ-मन' कर ले तो शायद एक बेहतर मुकाम पर आ पहुँचते है। अरबी का एक शब्द है 'अमन-अमान' जिसके मायने है:

शान्ति। सस्कृत मे अमन का अर्थ हुआ मनको निश्चल करना, उसे चचलता से उदासीन करना और 'अ-मान' का अर्थ हुआ 'मन-रहित होना'। इस तरह 'अ-मन / अ-मान' का अर्थ हुआ आकुलता और अहकार से मुक्त होना। यह भाषिक सयोग है कि अरबी और सस्कृत दोनो इन शब्दो को ले कर एक ही तम्बू मे आ बैठे है। अरबी मे / उर्दू मे अमन-अमान के मायने शान्ति है और सस्कृत मे भी वही है, क्योंकि जहाँ निराकुलता और आकिचन्य है वहाँ शान्ति के अलावा और हो ही क्या सकता हे ?

अमन की अविराम खोज़

दुनिया-भर के लोग मन-की-मार-के-मारे अमन की खोज़ मे दौड़ लगाये हुए है। कोई घर से बाहर भाग रहा है, कोई बाहर से घर की ओर चला आ रहा है, कोई जान ले रहा है, कोई जान बख्श रहा है, कोई त्याग कर रहा है, कोई अपहरण/शोषण कर रहा है, कोई प्रीत कर रहा है, कोई बैर ठान रहा है- किन्तु बहुत कम ऐसे लोग है जिनकी गिरफ्त मे मन आ पाया है। शान्ति के लिए प्रयत्नशील सब है, किन्तु कोई-एक-भी ठीक से यह नहीं बता पा रहा है कि उसके पुरुषार्थ की गुणवत्ता क्या है ? क्या उसके साधन इतने समर्थ हैं कि अमन की अविराम खोज़ कर सके ? क्या उसने ख्याल ही नहीं रखा गया है औचित्य और सतुलन का तो फिर वह मज़िल पर कैसे पहुँचेगा ?

तीर्थयात्रा मे आसक्तियॉ भी सहयात्री

कुछ लोग है जो अमन-अमान/शान्ति-सुकून की खोज़ मे तीर्थयात्रा पर निकल पड़ते है। वे सोचते है कि तीर्थ पर उन्हे शान्ति इतजार करती मिलेगी, किन्तु क्या उन्हे वहाँ कोई सुकून/निराकुलता मिल पाती है ? क्या तीर्थो पर हम अपने असबाब के साथ अशान्ति को भी एक कुली की तरह अनजाने मे ढो कर नहीं ले जाते ? क्या हम उन तमाम कारणो से मुक्त हो कर तीर्थयात्रा करते है, जो अशान्ति के जनक होते है ? क्या हम एक लमहे को भी इस तरह की वजहो से नजात पा सकते है ?

हिसा, झूठ, चोरी, अशील, परिग्रह - सब एक-एक करके हमारे साथ तीर्थयात्रा के लिए तैयार सदूक/अटैची/बिस्तरबद मे आ बैठते है और बिना टिकिट सफर करने लगते है। आसक्तियॉ रोम-रोम मे रम बैठती है। हम कोशिश करते है कि अशान्ति से पिड छुड़ाये, किन्तु क्लेश/आकुलता हमारा पल्ला एक पल को भी नहीं छोड़ते।

बाहर की तीर्थयात्राएँ अभ्यास हैं भीतर के तीर्थाटनो के

बाहर की तीर्थयात्राएँ सिर्फ अभ्यास है भीतर के तीर्थाटनो के। यदि हम अतरग मे उमगित स्वरूप-सिन्धु मे अवगाहन कर सके तो शायद इससे बड़ी और कामयाब तीर्थयात्रा कोई और नहीं हो सकती।
शान्ति-की-खोज मे हम तीर्थयात्रा पर निकले है-
देखना है किस तीर्थ पर क्या नसीब होता है ?

(तीर्थंकर वर्ष १९, अक ५, सितम्बर, '८९)

तीर्थयात्रा : तिरने के लिए

अक्सर हम एक-जैसा रोज-दर-रोज करते ऊब जाते है और चाहते है कि जीवन मे कहीं से कुछ नया लाये - जो चल रहा है उससे भिन्न कुछ लाये। यह अलहदा किस्म का बदलाव क्या हो, क्या न हो इसे प्राय हम तय नहीं कर पाते, किन्तु जो चला आ रहा है उससे छूट भागने के लिए छटपटाते है। ज्यादातार लोग आसक्तियो मे पड़ कर चीखने-चिल्लाने लगते है। कोई आसक्ति तन की होती है, कोई धन की, कोई स्थान की, कोई पद की, कोई कीर्ति की तो कोई कामिनी की, किन्तु होती है एक-न-एक, जो हमे दर-दर भटकाती है और आठो पहर सुलगाये रखती है, अशान्त और उष्ण रखती है।
शायद ही कोई क्षण होता हो जब हम आसक्ति से मुक्त होते हो। वीतरागता का एक क्षण पाने की ललक हमे ले जाती है तीर्थ पर, तीर्थयात्रा पर। इस ललक मे होता है एक क्षणजीवी सकल्प, जो आकृति लेने के लिए निरन्तर उत्कण्ठित रहता है। हम शक्ल उसे देते है, किन्तु एक स्वस्थ आकृति नहीं दे पाते। हम जिन स्थितियो या वस्तुओ से पनाह/त्राण पाने के लिए तीर्थयात्रा पर निकलते है उन्हे ही फिर-फिर अपने असबाब मे बॉध-सहेज लेते है।

तरुणाई मे सकल्प की दृढता

एक नौजवान ऊब कर या तो क्लब मे जाता है, या दोस्तो मे मनोरजन पर निकल पडता है, या किसी व्यसन मे फॅस जाता है। यदि उसके मन मे धर्म या नीति का कोई अकुर है तो वह भी किसी तीर्थ पर जाने की सोचता है।

सकल्प की जो दृढता एक तरुण मे होती है, बूढे या अधेड मे नहीं होती। एक तरुण या किशोर जितनी जल्दी आसक्ति-मुक्त हो पडता हे, एक वृद्ध प्राय वैसा करने मे असफल होता है। यह पहेली हे। बूझे इसे। तरुणाई मे सकल्प भी तरुण होता है। वृद्धावस्था मे वह कमजोर पड़ जाता है। वृद्धो की असक्तियॉ पक जाती हे। वे रसवन्ती हो उठती है।

इतिहास देखे अधिकाश लोग तरुणाई मे ही ससार मे विरक्त हुए है। वार्द्धक्य मे जो विरक्त हुए है उन्होने विश्व को अधिक कुछ दिया नही है (अपवाद बात अलग है), दिया उन्होने है, जिन्होने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध की प्रतीक्षा नहीं की-जिन्होने समय को नष्ट नहीं किया, बल्कि समय की नब्ज को जाना और उसके रुख को बदलने की कोशिश की।

यहॉ यह नही कहा जा रहा है कि एक वृद्ध कमजोर होता है, होता है वह सशक्त, किन्तु दुनियादारी की ऑच मे पकते-तचते वह इतना आसक्त-आरक्त हो जाता है कि जल्दी ही स्वय को उदासीन नहीं कर पाता। जब कोई युवा तीर्थयात्रा पर निकलता है, या वैसा करने का सकल्प करता है तो लगता है कि एक महोत्सव ही मनाया जाए चूॅकि उसके सकल्प की पीठ पर कोई ठोस/सृजनधर्मी आकाक्षा होती है, किन्तु यही युवा जब तीर्थो पर जाता है और वहॉ वही सब कुछ देखता है जो घर पर हुआ होता है तो उसकी आस्थाऍ चकनाचूर हो जाती है और हताश हो बैठता है। वह देखता है लोग गर्म पानी की खोज मे सिर धुन रहे है। नही मिल पा रहा है तो झीक-झपट रहे है। लोग अच्छे बिछावन और अच्छे कक्ष-कमरे के लिए झगड़ रहे है। पदाधिकारियो से बहस कर रहे है। उन्हे आड़े हाथो ले रहे है। यदि कहीं कोई कमी-कोताही रह गयी है तो आपे से बाहर हो रहे है।

जो लोग स्वय-मे-आने-के-लिए तीर्थयात्रा की योजना करते है वे ही तीर्थ पर पहुॅच कर स्वय से बाहर हो बैठते है। तीर्थो पर बड़े-बड़े लोगो को आपे से बाहर होते देखा है। यहॉ सिमिटने की जगह उन्हे बिखरते ही अधिक पाया गया है। शान्ति-की-खोज मे चला शान्ति-यात्री तीर्थ मे आ कर यदि अधिक अशान्त हो पड़े तो आप उसकी इस स्थिति का क्या नामकरण करेगे ? जब एक युवा किसी वृद्ध को किसी तीर्थ पर आपे से बाहर हुआ देखता है तो उसका रोऑ-रोऑ धधक उठता है और वह या तो तीर्थ को घर-जैसा मान कर वही कुछ करने लगता है जो घर पर छोड़ कर आया था, या फिर दुबारा न आने के पक्के इरादे के साथ निराश लौट पड़ता है।

तीर्थ को 'हिलस्टेशन' न समझें / न बनने दे

कई बार तो लोगो को पूजा-सामग्री के लिए जूझते-झगड़ते देखा है। आप जानते है एक शिशु तो स्वय तीर्थ-तीर्थाधिराज होता है। उसका मन गगाजल होता है। न कही छल, न कहीं कपट। एक सीधे-सच्चे शिशु मे जो वीतरागता मिलती है वह आप हजार-हजार तीर्थयात्रा पर हमकदम होता है और आपको झींकते-झुकते, रोते-रुलाते, चीखते-चिल्लाते पाता है तो सहज ही पूछ बैठता है - 'पापा, आप यहाँ आये किसलिए हैं ? पापा कहते है - 'बेटे, शान्ति-की-खोज मे'। बालक की टिप्पणी होती है - 'फिर आप इतने अधीर और अशान्त क्यो है ? इससे भले तो आप घर पर ही थे। यहाँ तो आप घर से अधिक विचलित और अशान्त है।' पापा बालक को झिड़क देते है और बालक जिस मर्म को घर पर नहीं समझ पाया था, उसे यहाँ पलक मारते समझ लेता है और जब उसके सामने दुबारा किसी तीर्थयात्रा के लिए प्रस्ताव किया जाता है तो वह एक तीर्थ की जगह 'हिलस्टेशन' पर जाने की बात करने लगता है। उसके मन मे एक अजीब-सा विकर्षण, एक अजीब-सी जुगुप्सा जन्म ले बैठती है।

तीर्थयात्रा स्त्री के लिए कहीं घर से बदतर न बन जाए

किसी महिला को जब तीर्थ पर अपने अपने परिवार या सिर्फ पति के साथ जाना होता है तो चक्की-चूल्हा किसी-न-किसी शक्ल मे उसके साथ चलते है। वह वहाँ अपना आधा वक्त तो इन सबके साथ बिताती है और यदि साथ मे बच्चे हुए तो उसका धरम-करम धरा रह जाता है। सब जानते है कि स्त्री मे धर्म अधिक प्रगाढ़ और प्रशस्त होता है। उसकी भक्ति अविचल होती है। वह मामूली झोके से नहीं डोलती। पुरुष कच्चा होता है। बहुधन्धी। स्त्री वैसा नहीं करती/नहीं होती। वह चाहती है धर्म के निमित्त तीर्थ पर अधिक समय दे, किन्तु जब उसे वक्त नहीं मिलता और घर जिस तबाही और परिग्रह को छोड़ आयी थी वही सब उसका पल्ला थामे वहाँ दीखते है, तब वह काँप सिहर उठती है और तीर्थयात्रा उसके लिए घर से बदतर बन जाती है।

तीर्थयात्रा पलायन के लिए नहीं

वस्तुत जब तक लक्ष्य स्पष्ट न हो हमे तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान नहीं करना चाहिये। ज्यादातर लोग पलायन के रूप मे तीर्थयात्रा करने लगे है। यह असतुलित है। पलायन नही, बल्कि कुछ बहुमूल्य पाने/खोजने के लिए ही यात्राएँ सयोजित होनी चाहिये।

तीर्थयात्रा डूबने के लिए भी नहीं

तीर्थयात्राएँ तो तिरने के लिए होती है, किन्तु ज्यादातर लोग तिरने की जगह डूबने लगते है। वे डूबने इसलिए लगते है चूँकि वे सकल्प मे अ-डूबे या अधडूबे होते है, जो सकल्प मे निमग्न है, डूबा-नहाया है, उसके कही भी, किसी भी तरह असफल होने का प्रश्न ही नही है। ऐसे लोग जो सकल्प-की-कचाई या लक्ष्य-के-धुँधलेपन के साथ किसी मिशन या लक्ष्य पर निकलते है उन्हे रोशनी की एक छोटी किरण, किरॉच भी उपलब्ध नही होती।

जब भी हम शान्ति-की-खोज मे निकले, अशान्त मन से न निकले शान्त निकले, शान्ति पाये। आसक्ति, राग, मोह, मूर्च्छा को जब तक हम घर छोड कर

इस तरह के सघर्ष और हर किस्म की कमी-कोताही का सामना करने के मन से तीर्थयात्रा पर नहीं निकलते है तो तय है कि हमारी यह खोज (या इस तरह की खोजे) व्यर्थ हो सिद्ध होगी। (तीर्थंकर वर्ष १९, अक ८ अक्टूबर, '८९)

तीर्थयात्रा : सम्यक्त्व की उपलब्धि-यात्रा

जो लोग तीर्थयात्रा पर निकलते है, उनका जीवन-दर्शन काफी अबूझ और गूढ होता है। उनकी कई किस्मे हैं। एक वे लोग होते है
जो घबराये चित्त से पलायन करते है- समस्याओ से जूझ नही पाते इसलिए भाग खड़े होते है, दूसरे वे लोग होते है, जो एक-जैसा काम करने के लिए एक जैसेपन से ऊब जाते है और काम बदले, इस दृष्टि से किसी तीरथ के लिए प्रस्थान करते है, तीसरे वे लोग है

जो खुद मे गहरे हो कर खुद को खोजते है अर्थात् पहले अतरग-यात्रा करते है, आत्मा-नुसधान करते है और उसमे-से जो नवनीत मिलता है उसे कलेऊ के लिए ज्ञान-गठरी मे बॉध कर अपना कदम आगे करते है।

यात्रा भीतर की महत्त्वपूर्ण

असल मे जो यात्रा भीतर की ओर होती है, वह बड़े महत्त्व की होती है। कोई अन्धी-अँधेरी गुफाओ के बीच हो कर ही हम भीतर पहुँच पाते है। आसक्तियॉ अक्सर तमाम द्वार बद किये होती है। जेसे ही हम रोशनी के किसी द्वार को खटखटाने को होते हे, कोई आसक्ति चुपके से रेग कर हमारी कलाई पकड़ लेती हे ओर हमारी अँगुलियो को निश्चेष्ट कर देती हे। ऐसे मे इच्छा होते हुए भी हम रोशनी के, ज्ञान के, द्वार नहीं खटखटा पाते।

यात्रा मे अप्रमत्तता/जागरूकता आवश्यक

अपने आगे की चार हाथ जमीन देख कर कदम बढ़ाने या रखने की बात केवल बहिर्जगत् की ही सीमित नहीं है, अतरग-जीवन से भी उसका कोई सरोकार है। सच तो यह है कि जो भी काम हम प्रकट मे करते हैं, वह प्रकट मे होने से पहले अप्रकट मे यानी अतरग मे घटित हो लेता हे। अतरग मे जो घटित होता है, वह कई बार इतना सूक्ष्म होता है कि हम पूरी तरह अप्रमत्त/जागरूक होने पर भी उसे पहचान नहीं पाते और आगे बढने लगते है।

खयाल रहे आसक्ति का कोई निश्चित आकार या एक शक्ल नही है, वह कई आकृतियो/शक्लो मे मँडराती है और ज्ञान के मूल स्रोत को रुद्ध करती है, रोकती हे। सब जानते है कि अज्ञान दुनिया का सब मे बड़ा अभिशाप है।

यात्रा के पहल 'स्टॉक-टेकिंग' ज़रूरी

हमे जानना चाहिये कि कौन-सी वस्तु, हमारे भीतर, कहाँ है ? किन्तु अक्सर होता यह है कि हमे बाहर का ज्ञान तो अधिकाधिक होता है, किन्तु भीतर की बात हम ठीक से नहीं जान पाते। बाहर हमारे पास कितनी भौतिक सम्पदा है, इसे तो कौड़ी-कौड़ी जानते है - उसका पूरा हिसाब रखते है, किन्तु अन्दर हमारे कितनी /कैसी दौलत है इस बारे मे न तो कभी चिन्तित ही होते हे और न ही कभी उसका कोई स्पष्ट लेखाजोखा करते हे।

सच्ची तीर्थयात्रा यह है कि हम किसी प्रकट तीर्थयात्रा पर रवाना होने से पहले यह देखे कि हमारे पास क्या है और क्या नही है ? हमारी हैसियत क्या है ? हमारी शक्तियाँ क्या है ? हमारे भीतर क्या है ? हमारे बाहर क्या है ? इस तरह एक छोटा-मोटा 'स्टॉक-टेकिग' हो जाना चाहिये ताकि पता लगे कि ऋण कितना है ओर धन कितना हे। ऐसा करने पर ही हमारे कदम कामयाबी की ओर बढ़ सकते हे अन्यथा हम उस मुसाफिर की तरह ही कुछ होते हे, जो 'जातरा' पर तो निकल पड़ा है, किन्तु जिसे नहीं मालूम कि किस ठॉव पहुँचना हे ओर किस राह से हो कर जाना हे। 'जाना हे' सिर्फ इतना जान लेना पर्याय नहीं है। कहा जाना है, किस सड़क से हो कर जाना है, किस तरह जाना है, मार्ग कैसा हे, क्यो जाना है, क्या प्रयोजन हे, इत्यादि कुछ सवाल है जिनके उत्तर हम देते नही ह (देनी चाहिये) ओर आगे बढ जाते हे। आगे बढना बुरा नही हे, बुरा ह बिना किसी प्रयोजन/लक्ष्य के अपनी शक्ति को भट्टी मे झोक देना।

तीर्थयात्रा से पहले, इसीलिए, व्यक्ति को अपने भीतर की धरती चार हाथ देख कर ही अतरग-यात्रा करनी चाहिये ताकि वह यह तय कर सके कि उसका लक्ष्य क्या है और उस तक पहुँच सकने के लिए उसके पास क्या-क्या प्रबध है ?

कई लोग हठी होते है। जो एक बार कह लेते है उचित/अनुचित, विवेकपूर्ण/अविवेक-पूर्ण, सही/गलत, झूठ/सच वे उस पर अड़ जाते है और यह जानते हुए भी कि उनका अडना अनुचित/असतुलित है, अटल हो रहते है। ऐसे लोग अपनी जगह से हजार कोशिशो पर भी तिल-भर नही चिगते और जाने-अगजाने अपनी जिन्दगी-के-सफर को असफलताओ की ओर धकेल बैठते है।
असल मे होना यह चाहिये कि जो व्यक्ति यात्रा पर निकले वह सब से पहले यह तय करे कि 'वह अन्तिम नही है', उसके आगे बहुत सारा बहुमूल्य/दुर्लभ है जिसे उसे हासिल करना है। ध्यान रहे सम्यक्त्व-की-राह सुखद हो कर भी निष्कण्टक नहीं है।

यात्र मे चित्त बुहारे/निर्मल बनाये

तीर्थयात्रा वस्तुत सम्यक्त्व की उपलब्धि-यात्रा है, इसलिए जो लोग दुराग्रही न हो कर उदार/सहिष्णु होते है और अपनी भूलो को दुरुस्त करने के लिए प्रतिपल तैयार रहते है-वे ही सच्चे तीर्थयात्री होते है, अन्यथा ऐसा कोई कारण नही दिखायी देता कि वे तिरने-के-लिए जा रहे है - लगने लगता है कि यह आदमी पूर्वग्रहो/दुराग्रहो की शिलाएँ अपने गले पर लटकाये तिरने की जगह डूबने जा रहा है, अत हमारी कोशिश होनी चाहिये कि हम अपने चित्त को बुहारे, उसे निर्मल बनाये, उसे निष्कलुष और स्वच्छ बनाये ताकि जैसे दर्पण के साफ होने पर उसमे सम्यक्त्व हू-ब-हू दीख पड़ता है, वैसे ही चित्त-दर्पण के सामने जो हो/जैसा हो झलके और हम एक निष्काम साधक की तरह उस सबन्ध मे कोई योग्य फैसला कर सके।
स्वच्छ/अविचल/प्राजल मन से जो यात्राएँ होती है, उनकी उपयोगिता बेहिसाब होती है। वे मन-मस्तिष्क को मॉजती है और उस आध्यात्मिक ऐश्वर्य की ओर हमारी ऑखे खोलती है जो हमारे साधको/तपोधनो ने युगयुगो की दुर्द्धर तपश्चर्या के बाद उपलब्ध किया था। क्या कोई प्रतिमा या चरण-पादुका सिर्फ प्रतिमा या चरण पादुका होती है ? नही, यह तो सिर्फ बाह्य आकृति है, अतरग-कथा कुछ और ही हे। पार्श्वनाथ की प्रतिमा क्या केवल पार्श्वनाथ की प्रतिमा है ? नहीं - वह है क्षमा, करुणा, निर्वैर, और कैवल्य की ज्वलन्त प्रतिनिधि। ध्यान रहे वीतरागता-के-कमल क्षमा-के-सरोवर मे ही खिलते है। यदि हम किसी तीर्थयात्रा पर हो ओर हमारा ध्यान वीतरागता पर न टिके, तो मानिये, हमारी यह यात्रा व्यर्थ ह।

सम्यक्-सतुलित तीर्थयात्रा

वीतरागता की वन्दना के लिए निकला मन जब राग के चरण-स्पर्श करने लगता है तब हमारी आँखे इस दयनीय दशा पर छलछला आती हैं।

महापुरुष और उनकी साधना का स्मरण करने, उसे हासिल करने के लिए ही तो हम तीर्थयात्रा पर निकलते है ताकि आमने-सामने हो कर यह देख सके कि हम कहाँ है और हमारा गतव्य क्या है ? जो लोग आत्मसमीक्षण से अपरिचित होते है, उन्हे तीर्थयात्रा पर निकलने की भूल कभी नहीं करनी चाहिये।

तीर्थयात्रा मे भेद विज्ञान और भक्ति की भूमिकाएँ भी महत्त्व की होती है। भेददृष्टि द्वारा हम यह जानने लगते है कि शरीर और आत्मा एक नहीं है, अत जो वैभव देह का है वह क्षणवर्ती है और जो आत्मा का है वह सनातन/अमर/शाश्वत है। भक्ति-मे-हो-कर हम ससार से विभक्त होते है और स्वय मे आने की छटपटाहट का अनुभव करने लगते है। असल मे सम्यक्-सतुलित तीर्थयात्रा वही है जो तीर्थयात्री को वीतरागोन्मुख करे उसे पूर्वाग्रहो से हटा कर उसके चित्त की निर्मलता को प्रकट करे। जो लोग तीर्थयात्रा मे भी मोह-मे-सने रहते है, उनकी यात्रा सिर्फ टीमटाम होती है उसमे कोई दम नहीं होता, इसलिए हम जब भी तीर्थयात्रा पर निकले, हमे पहले अतरग-यात्रा करनी चाहिये और वहाँ से ज्ञान/विवेक का नाश्ता उठा कर आगे बढ़ना चाहिये। (तीर्थंकर वर्ष १९, अक ६, नवम्बर, '८९)

तीर्थयात्रा और सम्यक्त्व की जोत

देखना यह है कि तीर्थयात्रो मे-से गुजर कर किस तरह घूँघट के पट खुलते है और मीरा के प्रभु मिलते है।

भरोसा है पटोस्थान कभी तो होगा ही। जब 'रसरी आवत जात तैं' सिल पर परत निसान' - रस्सी के आने-जाने से जब शिला पर निशान पड़ जाते है, तब हम भला इस सहज प्रक्रिया से कैसे बच रहेगे ? सो वह तो होगा ही और किसी दिन मिथ्यात्व और मोह के पर्दे उठ जाएँगे तथा सम्यक्त्व की जोत तन-मन को जगमगा देगी।

वस्तुत तीर्थयात्रा का सबमे बड़ा फायदा यही है कि इससे भीतर का कूड़ा-करकट बाहर आ जाता है, और यदि होशियारी बरते तो फिर वह कभी जमा नहीं होता।

परिक्रमा का महत्त्व

मेरा विश्वास है कि तीर्थयात्रा भी मन्दिरो े की परिक्रमा मे-से जो जीवन-दर्शन प्रकट होता है, उसकी तुलना हम और किसी से नहीं कर सकते। वह एक़ तरह का स्वाध्याय ही होता है। सभव है 'परकम्मे' की प्रथा / परम्परा इसीलिए विकसित हुई हो कि जो भीतर पाया उसकी आध्यात्मिक जुगाली की जा सके।

(तीर्थंकर · वर्ष १७, अक ७, नवम्बर, '८७)

यात्रा का सच्चा रस

वस्तुत अकेले होने/जीने का सुख सबमे बड़ा
सुख है। जो लोग घिरे रहते है,
उन्हे यात्रा का वह अलौकिक सुख कभी
नसीब नहीं होता। यात्रा मे जो
अकेले चलते है - सबके बीच होते हुए भी
जो अकेले चलते है/चल पाते है,
यात्रा का सच्चा रस उन्हे ही मिल पाता
है। यह क्षण होता है अपने भीतर निर्वस्त्र/
दिगम्बर होने का।

(तीर्थंकर . वर्ष १६, अंक ८, ‍‍ ‍म्बर, '८६)

तीर्थयात्रा : शान्ति की खोज डॉ. नेमीचन्द जैन, संपादन **प्रेमचन्द जैन** © हीरा **भैया प्रकाशन;** प्रकाशन · **हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१,** (म प्र.) मुद्रण **नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर -४५२००९** (म प्र); टाइप सैटिंग **प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५)** (म प्र), प्रथम संस्करण · **मार्च , १९९८;** मूल्य : **तीन रुपये।**

साधक, साधु, सिद्ध

◊ मुमुक्षु होता है अलौकिक अनेकान्त–पुरुष; वस्तु–स्वरूप को तोल कर, सापेक्ष खोज कर गतिमान परम पुरुष।

◊ मुमुक्षु स्वयं में यात्रायित विचार दशा या स्थितिप्रज्ञता में जा पहुँचता है।

◊ साधु के लिए यह अपरिहार्य है कि वह साध्य और साधन–दोनों की पावनता पर ध्यान दे। साध्य पवित्र रखे और तदनुसार साधनों को भी पवित्र रखे ।

◊ साधु की अपनी प्रभुता, सत्ता और स्वतन्त्रता है।

◊ 'सिद्ध' शब्द मात्र जैनों का शब्द नहीं है, वह भारतीय धर्मों और भारतीय संस्कृति में काफी गहराई तक गया–डूबा शब्द है।

◊ सिद्ध होने का सीधा–सा मतलब है स्वयं को स्वयं–में–पाना। सिद्धत्व में उतरने की प्रक्रिया है, पड़ाव–दर–पड़ाव कार्यक्रम है : साधु/उपाध्याय/आचार्य / अरहंत।

– डॉ नेमीचन्द जैन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

मुमुक्षु कौन ?

मुमुक्षु शब्द हमारे आध्यात्मिक वायुमण्डल मे है,
किन्तु हम उसके व्यक्तित्व से लगभग अपरिचित है,
जानना चाहते है,
जान नही पाते है उसे उसकी सपूर्ण अर्थवत्ता मे।
शब्द प्रयुक्त है, किन्तु इसे, इसकी इबारत/परिभाषा को असदिग्ध पाना
किचित्
कठिन है।

मुमुक्षु मे तीन उकार है,
क्रमश विनम्रता, निरापदता, और ऊर्ध्वगता के प्रतीक।
यानी छोटे/अकिंचन हो कर चलो, खोटे हो कर नही।
मुमुक्षा, जिसमे प्रतिपल, अखण्ड प्रज्ज्वलित है, वह है मुमुक्षु।
मुमुक्षु की व्युत्पत्ति सस्कृत की 'मुच्' धातु से है,
जो बन्धन खोलने का अभिलाषी हे, वह है मुमुक्षु,
जो पीजरे से/मे प्यार/आसक्ति करता/रखता है,
उसमे बने रहने और उसे बनाये रखने मे रुचि रखता हे, वह मुमुक्षु नही है।

मुमुक्षु = निष्काम, कामनाशून्य

थोड़े मे
खुला आकाश यानी मुमुक्षु
ओर बन्द पीजरा अर्थात् अ-मुमुक्षु।
पुण्य-पाप क्या है ?
क्या दोनो ही बेड़ियॉ नही हे
क्या फर्क पड़ता हे बेड़ियो के सोने या लोहे की होने मे
रहेगी अन्तत बेड़ियाँ ही,
इसलिए जो निकल गया हे पार पाप-पुण्य के वह हे मुमुक्षु।
इतना ही नहीं
बल्कि
जो इतना आत्मप्रज्ञ, आत्मस्थ हो गया है कि उसमे
मुमुक्षा स्वय मोक्ष बन गयी हे वह हे मुमुक्षु। वस्तुत
निष्काम, कामनाशून्य होना मुमुक्षु होना हे।
मुमुक्षु की
इबारत

इसीलिए
एक या दो शब्दो से नहीं बनती
वह बनती है इन सारे शब्दो को एक साथ
एक प्राण,
सन्धिस्थ कर देने मे,

ज्ञानी, वैराग्य-सम्पन्न

ज्ञानी, वैराग्य-सपन्न, स्थिराशय, प्रयत्नवान्, शान्त, प्रशमित, ध्यानमग्न, धीर
यानी मुमुक्षु।
मुमुक्षु बढ़ाता जाता है अपने पग और होता जाता है उसे उत्तरोत्तर
आत्मसाक्षात्कार,
लगता है जैसे वह,
बिल्कुल वह,
जन्मजन्मान्तर से खोया/भूला वह,
अपने प्रोज्ज्वल, विशुद्ध, अखण्ड रूप मे खड़ा है स्वय के सामने
यह है आत्मदर्शन,
वह आत्मदर्शन जिसके निमित्त वह एक-एक पल उत्कण्ठित था, उद्ग्रीव था,
वह जो स्वय मे था,
किन्तु
कस्तूरीमृग
स्वय-मे-स्वय तथापि मूर्च्छित, गाफिल,
भटक रहा था अन्यत्र
मछली पानी मे थी एक-एक क्षण
पर उसे पता कहा था कि वह पानी मे है, वह, इसलिए प्रतिपल प्यासी बनी रही
किन्तु जाना जैसे ही उसने इस तथ्य को
वह पानी-पानी हो गयी
निर्ग्रन्थ हो गयी
खुल गयीं सारी ग्रन्थियाँ भ्रम-भटकन की।
उसे लगा जैसे कोई ज्योति उसके सामने है,
वह स्वय बन गया है ज्योति
गल गया है अब सारा काजल, सारा तिमिर।

आत्मज्योति/परम ज्योति

आत्मज्योति, परम ज्योति उसके सामने नर्तित है,
नहीं,
वह स्वय ही है यह,

कहॉ है मुमुक्षा ?
क्या वही न स्वय मोक्ष बन गयी है ?
ऐसा होता है आत्मविभोर मुमुक्षु कि उसकी मुमुक्षा ही मोक्ष बन जाती है।
कही-कुछ शेष नहीं रह जाता उसके लिए,
रह जाता है तो मात्र निर्वसन-निरम्बर वह स्वय,
कर्ममुक्त वह खुद।
खुल जाते है उसके चित्त-चक्षु अनायास।
जान जाता है वह इस रहस्य को कि शुद्धोपयोग ही
परमज्योति को पाने का सर्वोपरि माध्यम है,
किन्तु जब तक वह नही है तब तक,
तब तक शुभ है श्रेयस्कर अशुभ से,
पाप से उत्कृष्ट है पुण्य,
दोनो मे नि सन्देह श्रेष्ठ है विशुद्धि
इसे अन्धा भी मानेगा,
किन्तु मानेगा सापेक्ष हो कर,
सापेक्ष रह कर।
अन्धा हो कर नहीं मानेगा।
यह जानते हुए कि शुभ का आरोहण शुद्ध मे हो सकता है, अशुभ का नहीं।
इसलिए वह अशुभ को हेय,
शुभ को भी हेय
तथापि
अशुभ की तुलना मे उपादेय-ग्राह्य और शुद्ध की तुलना मे हेय-अग्राह्य मानता है।

अलौकिक अनेकान्त-पुरुष

इस तरह मुमुक्षु होता है
अलौकिक अनेकान्त-पुरुष
वस्तु-स्वरूप को तोल कर, सापेक्ष खोज कर गतिमान परम पुरुष।
मुनि होता है सत्यान्वेषी
वस्तु-स्वरूप का जिज्ञासु, मुमुक्षु, यति,
'यत्' की सन्तति 'यती' उसके लिए एक सबोधन हे
जिसका अर्थ हे मर्यादित, सयत,
साधु भी उसका सबोधन है
साधु वह जो स्वय को अनवरत कस रहा हे
जीत रहा हे,
पा रहा है

जा रहा है जो अविराम पूर्णता की ओर
'साधु'
'साधु' का बेटा है।
मुनि मुमुक्षु तो है ही,
'तपस्वी' भी उसका एक नाम है
यानी एक ऐसा व्यक्ति जो अज्ञान को तिल-तिल गला रहा है
सिर्फ इसलिए कि केवल ज्ञान बच रहे,
मात्र 'वह' ही बच रहे, उसमे जो विदेशी हे
वह सपूर्ण ताप मे/तप मे झड़ जाए, बिखर जाए।
मुनि को 'सयत' भी कहा है,
सयत यानी निग्रही
अर्थात् वह जिसने इन्द्रियो की लगाम थाम ली है और
जिधर चाह रहा है उधर मोड रहा है उन्हे
ऐसा नहीं है कि जहॉ वे मोड़ रही है वहॉ वह मुड़/झुक रहा है।

मुनि यानी भिक्षु

मुनि के लिए भिक्षु शब्द भी प्रयुक्त हुआ है ,
भिक्षु यानी वह व्यक्तित्व जो परिपूर्णत अपरिग्रही है, अनिकेत है,
जिसके पास कुछ नहीं है, फिर भी क्या नहीं है उसके पास ?
भिक्षु कहते है उसे, किन्तु सब जिसके प्रति भिक्षु हुए है वह है मुमुक्षु, मुनि।

निर्ग्रन्थ

निर्ग्रन्थ भी मुनि का ही पर्याय शब्द है
जिसका आशय है ऐसा अकिचन अस्तित्व
जिसे कोई बन्धन बाँध नहीं पा रहा है
सारी गठरी जिसने दूसरो के लिए खोल दी है
नहीं रही है कोई गाँठ जिसके तन मे/मन मे।

ऋषि

ऋषि भी मुनि का एक सबोधन है,
ऋषि 'प्रकाश की किरण' के लिए भी प्रयुक्त हुआ है
यह 'ऋष्' का बेटा है, जिसका अर्थ है बहते रहना
एक पल को भी न रुकना,
अविराम/अभीक्ष्ण स्वय मे बहने/बने रहना।

योगी/सयमी

योगी/सयमी भी मुनि के नाम हे
योगी अर्थात्
जो एक रह गया है
एक हो गया है
'इटीग्रेट' हो गया है,
जुड़ गया है पूर्णत जो, यानी जो अखण्ड हो गया हे।
इस तरह
ये सारे शब्द
ईंट-पर-ईंट की तरह चढ कर बनाते है एक भव्य भवन
जिसका सबोधन है मुमुक्षु।

आत्मसाक्षात्कार की चरम परिणिति स्थितिप्रज्ञता

मुमुक्षु स्वयं मे यात्रायित
विचारदशा
या
स्थितिप्रज्ञदशा
मे जा पहुँचता है।
पहली सीढी पर पाँव कदाचित् कठिन नहीं है ,
वह सहज है ।
वस्तुत
स्थितिप्रज्ञदशा सपूर्णता की अनन्त विवृति है -अलभ्य, दुष्प्राप्य, असभव कभी नहीं।
विचारदशा प्राप्य है सद्गुरु से/सत्सग से
किन्तु स्थितिप्रज्ञता को पाया जा सकता है स्वय मे-से।
अभय, धैर्य जनक है विचारदशा के
तो अखण्ड एक होने के अकुरण है स्थितिप्रज्ञता का।
अन्य शब्दो मे कहे तो आत्मसाक्षात्कार की चरम परिणति है स्थितिप्रज्ञता।

मुमुक्षा : एक सभावना

और फिर मुमुक्षा की कुछ मत पूछिये
वह कहाँ नहीं होती
मुमुक्षा एक सभावना है
जिसके लिए मनुज होना आवश्यक नहीं है।
जा रहा है मेढक पाँखुरी दबाये महावीर के समवसरण मे
और श्रेणिक के हाथी ने पॉव रख दिया है उस पर

ऐसे मे उसकी मुमुक्षा महान् है, अमर है, सफल है
अर्थात् मुमुक्षु वह है जिसके तन मे आत्मज्योति
निरम्बरा परमज्योति
इस तरह खुल गयी है उसका कोना-कोना, रोम-रोम प्रकाश-सपदा से भर गया है।

(एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी द्वारा 'मुमुक्षु' शब्द-सबन्धी टिप्पणियो पर आधारित, तीर्थंकर वर्ष ९, अक ५, सित '७९)

साधु कौन ? गृहस्थ कौन ?

एक दोस्त बोले 'देखो भाई, मुझे बहुत कठिन भाषा-भाषा तो पसद है नहीं,
मै तो बहुत सीधे-सादे शब्दो मे जानना चाहता हूँ कि साधु/मुनि कौन है,
और गृहस्थ कौन ?'
मै घबराया। चूँकि मै जानता था कि अधिक शब्दो मे निरर्थक बोलना
आसान है, किन्तु कम और सीधे-सादे शब्दो मे समझ मे आने वाला
बोलना बहुत मुश्किल है।
कुछ क्षण सोचता रहा फिर हिम्मत बाँध कर बोला
'देखिये - जिसका मन टिके, पाँव न टिके वह साधु/मुनि है और जिसका पाँव
टिके, किन्तु मन न टिके वह गृहस्थ है।
हाँ, इस टिक-टिकाव मे अशो का फर्क पड़ सकता है, किन्तु मुझे
इस समय इससे और सरल इबारत कोई सूझ नहीं पड़ रही है।'

साधु = अनासक्त

देखा तो दोस्त काफी खुश नज़र आये। कहने लगे 'अब चाहो तो अपने इस
सरल सूत्र को थोड़ा विस्तार मे कह जाओ'।
मुझे मैदान मिल गया और फिर मैने कुछ कठिन शब्दो का इस्तेमाल करते हुए
भी अपनी बात रखने, उसे अधिक गहराई और फैलाव मे समझाने की कोशिश
शुरू की। कहा- 'जो विहार करते है, जिनके मन मे किसी अचल, या
वस्तु-विशेष को ले कर कोई आसक्ति नहीं होती वे साधु होते हैं। वे चलते
ही इसलिए है कि मन मे जन्म-जन्मान्तरो से घर किये बैठीं जो आसक्तियाँ हैं,
उनकी जड़े किसी तरह ढीली की जाएँ। उन्हे हिलाया जाए।
पाँव-पैदल चलने मे यही होता है। वस्तु-स्वरूप समझ मे आता है। दुनिया
और दुनियादारी दोनो को नजदीक से देखने का मौका मिल जाता है।
बात यह है कि जो भी जल्दबाजी मे होता है, वह अपच की ओर ले जाता
है। उसमे अपूर्णताएँ रह जाती है उन्हे उन स्थितियो की समीक्षा मे
काफी सुविधा होती है।
घुमक्कड़ी का अपना शास्त्र है। शौकिया घूमना और सोद्देश्य घूमना दो

अलग-अलग बाते है।
जो लोग शौकियाँ घूमते है, उन्हे भी एक जगह टिके रहने की अपेक्षा 'चरैवेति चरैवेति' की स्थिति मे अधिक ही हासिल होता है।

गतिमान/वर्द्धमान-निर्मल

सुनो ! बात यह है कि नदी बहती है तो निर्मल रहती है और तालाब रुका रहता है तो निर्मल नही रह पाता। गति मे निर्मलता का निवास है। गतिशीलता का ज्ञान और ताजगी, निर्मलता और स्वास्थ्य से गहरा सबन्ध है। सुना ही होगा आपने कि रुकी हुई चीजे प्राय विषधर हो जाती है, किन्तु जो गतिमान है/वर्द्धमान है उनके किसी तरह जड़ या वासी होने, या सड़ जाने की कोई आशका नही रहती।
नदी होता है साधु और तालाब होता है गृहस्थ/श्रावक। कभी-कभार यो भी होता है कि एक ही व्यक्ति मे साधुत्व/गार्हस्थ्य दोनो धड़कते रहते है। मन की कसौटी पर कई साधु गृहस्थ होते है और कई गृहस्थ साधु। हम जैसे-जैसे अपनी समीक्षा-कसौटियो को अधिक तेजस्वी/सत्यवादी बनाते है, तथ्यो तक हमारी पहुँच अधिकाधिक बनती जाती है।'

मित्र मुस्कराये और बोले 'तो क्या जैन साधु इसलिए पॉव-पैदल विहार करते है ? आप भी अजीब है, ऐसे जमाने मे जब कि चारो ओर इफरात से तेज यात्रा के साधन उपलब्ध है, आप पॉव-पग चलने पर जोर दे रहे है। जिन्दगी है ही कितनी ? क्या हम तेज चल कर कम वर्षो मे अधिक वर्षों का आनन्द और अनुभव नही ले सकते ?'

मुझे लगा मै हार जाऊँगा, पर साहस जुटा कर बोला 'तेज चलने और कुछ भी न पाने मे कोई तुक नहीं है। देखा गया है कि प्राय जो लोग भागमभाग की जिन्दगी जीते है वे खिन्न और क्षुब्ध रहते है । उनकी ज्ञीप्सा/जिज्ञासा लगभग मर जाती है। मार्ग का तो वे कुछ ले ही नही पाते। एक-बिन्दु-से-दूसरे-बिन्दु तक दौड़ना।

यात्रा की सफलता

और कुछ भी न पाना, कोई यात्रा है ? यात्रा की तो सफलता ही इसमे है कि जितना अधिक बने अपने अनुभव के खजाने मे डाला जाए और जितना अधिक और गहरा जाना जा सके, जाना जाए।
ऑख मूँद कर एक-बिन्दु-से-दूसरे-बिन्दु तक जाना जादू तो हो सकता है, जिन्दगी नही हो सकता। और आप जानते ही है कि जिन्दगी और जादू मे काफी फर्क होता है। जादू चौकाता है, ज़िन्दगी यथार्थ/हकीकत की ओर ऑखे उघाड़ती है। मेरी दृष्टि मे पॉव चल कर ही सत्य तक पहुँचा जा

सकता है, तेज चलने मे सत्य तो सत्य अर्द्धसत्य तक पहुँच पाना भी सभव नहीं होता। दिगम्बर/दिग्वासी/वातरशन श्रमण जो पैदल चलते है, वे मात्र जीवन-की-सचाई तक गहरी पकड़ बनाने के लिए। वे सम्मोहकताओ मे चलते है, किन्तु किसी के प्रति मुग्ध नहीं होते। वे अपने भीतर आकाश की तरह उदार/खुले होते है। जो दिशाओ को ही वस्त्र बना रहा है और स्वय अपरिग्रही/नग्न है, सत्य भला उसके सम्मुख सवस्त्र क्यो कर आयेगा ? नगे के सामने घबरा कर सत्य को भी नग्न रूप मे आना होता है। जब सत्यान्वेषी कुछ छुपा ही नहीं रहा है, तब फिर यह कैसे सभव होगा कि सत्य स्वय को उससे छुपाये ?'

सुविधाओं का कोई अन्त नहीं

लगा मुझे कि बात का कुछ प्रतिशत मेरे अजीज दोस्त के हलक के नीचे उतर रहा है, फिर भी साँस लेते हुए वे बोले 'क्या आप नहीं मानते कि आज के सदर्भो मे इस तरह की ज़िन्दगी, जिस तरह की शास्त्रो मे विहित है, जीना/बिताना जैन साधु के लिए कठिन हुआ है ? क्या उसे समय के साथ इस मामले मे कोई नया समझौता नहीं कर लेना चाहिये ? क्या ऐसा सभव नहीं है कि वह कहीं पैदल चले तो कहीं किसी वाहन पर सवार हो जाए ?'
मैने कहा 'देखिये, सुविधाओ का कोई अन्त नहीं है। एक सुविधा की पीठ पर चढ़ कर दूसरी सुविधा आ धमकती है। एक शिथिलता दूसरी शिथिलता को बटोर लाती है। जब हम किसी सकल्प मे कचाई की गुजाइश बनाते है, तब फिर गुजाइशे लगातार बनती जाती है। हम अपनी अनुकूलताओ के अनुसार परिभाषाएँ बनाने-बदलने लगते है। क्या आप चाहते है कि व्रती/सकल्प-का-धारक अपने निर्धारित मार्ग से विचलित हो जाए ?'
लगा, उन्हे मेरे कथन से पूरी तृप्ति नहीं हुई है। बोले 'इस सदर्भ मे थोड़ा और बताइये'।

साध्य और साधन की पावनता

मैने कहा 'भाई, दो स्थितियाँ है- साध्य और साधन। यदि हमे साध्य की पवित्रता कायम रखना है तो साधनो को भी निर्मल/निष्कलुष रखने की ज़रूरत है। साधन यदि अ-निर्मल/अनुज्ज्वल है तो बात पूरी बन नहीं पायेगी। निर्मलता जब भी हो, जहाँ भी हो, उसे शत-पतिशत होना चाहिये।
इन दिनो सदर्भो का विकास कुछ इस किस्म का हो गया है कि साधनो को पवित्र बनाये रखना मुश्किल हुआ है। लोगो का ध्यान साध्य पर तो होता है, किन्तु साधन को वे भुला बैठते है। इसे हम आधुनिक समाज का दुर्भाग्य मानें। साधु के लिए यह अपरिहार्य है कि वह साध्य और साधन दोनो की

पावनता पर ध्यान दे। साध्य पवित्र रखे और तदनुसार साधनो को भी पवित्र रखे। मेरे विचार मे यह तभी सभव है जब साधु दीन-दुनिया का अनुभव करे।

पॉव-पग घूमे और घूमने मे रस ले। उसे ग्रहण और त्याग की तात्कालिकताओ का अनुभव करना चाहिये। जब तक वह सयोग-वियोग को उनकी आत्यन्तिक तीव्रताओ मे महसूस नहीं करेगा तब तक आसक्तियो को वह घटा नहीं सकेगा। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व महापण्डित राहुल साकृत्यायन एक सास्कृतिक यायावर थे। यायावरी मे उन्हे सुख मिलता था। घूमने मे वे थकते न थे, उसमे-से ताजगी जुटाते थे। यानी उन्होने अपनी ज्ञीप्सा को कभी मरने नही दिया। जहाँ गये जी-भर कर घूमे और कुरेद-कुरेद कर खूब जाना। घुमक्कड़ी को ले कर उन्होने 'घुमक्कड़ शास्त्र' मे लिखा है

'श्रमण महावीर . एक घुमक्कड़राज'

'भारत के प्राचीन धर्मों मे जैनधर्म भी है। जैनधर्म के उन्नायक श्रमण महावीर एक घुमक्कड़राज थे। घुमक्कड़-धर्म के आचरण मे छोटी-से-बड़ी तक सभी बाधाओ और उपाधियो को उन्होने त्याग दिया, घर-द्वार ही नही, वस्त्र का भी वर्जन कर दिया। करतल-भिक्षा, तरुतल-वास, दिग् अम्बर उन्होने इसलिए अपनाया था कि निर्द्वन्द्व विचरण मे कोई बाधा न रहे।'

इसी को ले कर उन्होने आगे लिखा है 'भगवान् महावीर दूसरी-तीसरी नही, प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ थे। वे आजीवन घूमते ही रहे। वैशाली मे जन्म ले कर विचरण करते पावा मे उन्होने अपना शरीर छोड़ा। बुद्ध और महावीर से बढ कर यदि कोई त्याग, तपस्या, और सहृदयपने का दावा करते है तो मे उन्हे केवल दभी कहूँगा। आजकल कुटिया या आश्रम बना कर तैली-के-बैल की तरह कोल्हू से बँधे कितने ही लोग अपने को अद्वितीय महात्मा कहते है, या दूसरो से कहलवाते हे, किन्तु मै तो कहूँगा कि घुमक्कड़-वृत्ति को त्याग कर यदि कोई महापुरुष बन जाता हे, तो ऐसे लोग गली-गली मे देखे जाते। मे तो जिज्ञासुओ को खबरदार कर देना चाहता हूँ कि वे ऐसे मुलम्मे वाले महात्माओ, महापुरुषो के फेर से बचे। वे स्वय तेली-के-बैल तो हे ही, दूसरो को भी अपने-जेसा वना रखेगे।'

'चरैवेति' का एक विज्ञान

इस तरह, चलते रहने का भी एक विज्ञान हे। चलना कठिन हे, रुकना सरल है, रुकना मृत्यु हे, चलना जीवन हे। खून का रुकना मोत हे, खून का दौडते रहना जिन्दगी हे। जव तक खून मे रवानी न हो, कोई क्या कर सकता है ?

ज्ञान और गति का गहरा सबन्ध

मैने जब अपने दोस्त को मेरी बात ध्यान से सुनते देखा तब मैने स्वय ही उसे आगे बढ़ाते हुए कहा 'ज्ञान का और गति का गहरा सबन्ध है। ज्ञान के सारे पर्याय शब्द गत्यर्थक है। आगम, निगम, अधिगम, अवगम सबमे 'गम्' धतु विराजमान है। आगम का अर्थ है विज्ञान, प्रमाण, ज्ञान, निगम का है पवित्र ज्ञान, आप्रवचन, प्रामाणिक कथन, अधिगम का अर्थ है सम्यक् अध्ययन, या ज्ञान, और अवगम के मायने है समझ, अडरस्टेडिग। इस तरह ज्ञान गतिमय है और गति ज्ञानमय। ज्ञानी कभी रुक नहीं सकता, अज्ञानी कभी चल नहीं सकता। ज्ञानी मन को अविचल रखता है और खुद चलता रहता है। वह खुद चलता है, मन को चलाता है।

साधु आगम की ऑख

साधु को आगम की ऑख कहा है। उसकी आँखो मे-से हो कर हम ज्ञान की बानगी चखते है, ज्ञान को उपलब्ध करते है। साधु यदि रुकेगा, चलता नहीं रहेगा तो 'रस्टआउट' हो जाएगा। उसके ज्ञान की/भेदविज्ञान की तलवार जग खा जाएगी।

जैन साधु को तो चलना -ही -चलना है। वह रुक नहीं सकता। रुकने का प्रमाद उसकी निष्ठा और चर्या का अग नहीं है। पूछ सकते है आप कि आखिर इस तरह चलते रहने का उद्देश्य क्या है ? चित्त की एकाग्रता के लिए, सघन तप के लिए तो एकान्तवास अधिक उपयोगी हो सकता है ? नहीं, बात इस तरह नहीं है।

ठहरने मे आसक्ति/ममत्व

ठहरने मे वस्तुओ से मोह हो सकता है, आसक्ति और ममत्व हो सकता है, किन्तु जब आदमी चलता ही जाएगा तब उसमे मोह की तीव्रता, उसका विस्तार, उसका ज्वार कम हो जाएगा। उसमे त्याग की महिमा विकसित होती जाएगी। वह छोड़ता जाएगा।

चलने म छोड़ना गर्भित है और ठहरने मे जोड़ना। जोड़ना परिग्रह हे, छोड़ना या छूटते जाना अपरिग्रह है। साधु को तो छोड़ने का इतना अभ्यास करना है (करना होता है) कि उसका शरीर यदि छूट जाए तो ऐसा लगे जैसे विहार क दौरान एक गॉव ही उसने छोड़ा है।

जैसे किसी मुसाफिर के लिए वृक्ष की छॉव का मोह नहीं होता, वह किसी खास वृक्ष से मोह नहीं कर पाता, ठीक ऐसे ही साधु किसी एक स्थान के प्रति अनुराग नहीं बना पाता। उसके लिए स्थानिकता मे कोई मूर्च्छा नहीं

होती। वह चलता ही इसलिए है कि जगत् के स्वरूप को समझे, प्रकृति के व्यक्तित्व और रूप को पहचाने, स्वय मे हो, अपने अस्तित्व का बोध उसकी पहचान बनाये।

साधु की अपनी प्रभुता, सत्ता, स्वतन्त्रता

वह जाने कि 'वह' है, और उसके 'होने' मे बाकी और किसी का हाथ नही है। उसकी अपनी प्रभुत्ता,सत्ता, और स्वतन्त्रता है। चलते रहने मे स्व-रूप का साफ-सुथरा ज्ञान होता जाता है। सचय की बुराइयो का भी बोध होने लगता है। लोगो को स्नेह देने मे जो आनन्द है, वह उनसे बेर करने मे नही है। ठहरने मे स्वार्थ बनते है, स्वार्थ मे-से बैर और शत्रुताएँ जन्मती है और शत्रुताओ मे-से टकराहटे पेदा होती है। इन टकराहटो मे-से जन्मती है अशान्ति/अतृप्ति, जिनका स्वय मे कोई अन्त नही है, इसलिए साधु ठहरता नही है, चलता है, चूँकि वह जानता है कि चलने मे-से मित्रता, स्नेह, आत्मीयता, पवित्रता, सहृदयता, वत्सलता-जेसे निष्काम आचरण/वृत्तियो का विकास होता हे - इसलिए साधु को सबन्ध-शून्य होने के लिए विहार करना होता है। जेनो मे तो यह निर्धारित ही है कि साधु का साधुत्व उसके पेदल-विहार मे-से ही प्रकट होता है, किन्तु हिन्दूधर्म मे भी यह प्रथा है कि जब कोई सन्यासी होता हे तब उसे दीक्षा के बाद सात कदम नग्न ही चलना होता हे, उसके बाद ही वह कोपीन धारण करता है। नग्नता को उदात्तता प्रदान करने का काम जेनो ने किया हे बैठे है हजारो-हजार लोग, किन्तु किसी का ध्यान नग्नता पर नहीं हे , ध्यान है नग्नता मे-से उत्पन्न ऐश्वर्य पर।

सत्य का दूसरा नाम निर्वस्त्रता

आदमी नग्न है/दिग्वसन है, दिशाओ के वस्त्र उसने पहन रखे है और ससार की तमाम विभूतियॉ उसके चरण चूम रही है।
नग्नता पाप नही है, नग्नता मे-से ही सत्य आविर्भूत होता है। सत्य का दूसरा नाम निर्वस्त्रता है। जब कोई लाग-लपेट नही होती हे तभी सत्य उद्घाटित होता हे।

जैन साधु द्वारा नग्नता गौरवान्वित

नग्नता को जैन साधु ने गौरवान्वित किया है, उसे अद्वितीय महिमा प्रदान की है। नग्न होने का मतलब है वस्तुओ पर से अपनी मूर्च्छा को विलग्न करना, उसे अलविदा करना। वस्तुएँ होगी तो उनकी जीर्णताओ और नवीनताओ, उनके अच्छे-बुरे, अनुकूल-प्रतिकूल होने मे रागद्वेष पैदा होगे और जब वे होगी ही नही तब रागद्वेष की तरगो के उठने का कोई आधार ही नहीं होगा।
नग्नता पहले तन पर और फिर मन पर प्रकट होती है।

आत्मा द्वारा तन और मन को देखना

मन नगा तो तन नगा और तन नगा तो मन नगा। तन-मन दोनो एक-दूसरे से चिपके हुए अस्तित्व है। तन दीख पड़ता है, मन अदृश्य मे कहीं लेटा चादर ताने सोया पड़ा रहता है। वह दीखता नहीं है, देखता है, तन दीखता है, देख नहीं पाता। तन को मन देखता है, तन मन को देख नहीं पाता। मन और तन दोनो को देख पाता है आत्मा। तन प्राय होता है मन का दास, उसका आज्ञानुवर्ती, मन जैसा कहता है, तन लगभग वैसा/उतना करने पर विवश होता है। साधु/श्रमण तन पर से मन की सत्ता खत्म करने के लिए निकलता है। वह तन पर से मन के कब्जे को हटाया है और मन पर आत्मा के शासन को सक्रिय करता है।

आत्मा को जानने से बड़ा कोई काम नहीं है। वही तो एक अस्तित्व है, जिसे न जान कर हम अपनी गौरव-गरिमा से प्राय वचित रहते है। साधु वह है, जो

साधु और श्रावक के बीच की भेदरेखा बहुत महीन

स्वय को जानने मे अपने जीवन मे समर्पित किये हुए है और गृहस्थ वह है, जो दूसरो को जानने मे तो कोई कोरकसर रख नहीं रहा है, किन्तु स्वय को जानने से लगातार कतरा रहा है। जैसे-जैसे और जितना-जितना वह स्वय को खोजने-जानने लगता है, वैसे-वैसे और उतना-उतना वह साधु होता जाता है। साधु और श्रावक के बीच भी भेदरेखा बहुत महीन है। इसे डालने मे बड़ी कठिनाई होती है। यह बनते-बनते मिट भी सकती है और मिटते-मिटते बन भी सकती है। और यो भी होता है कि कई बार सारे करे-कराये पर क्षण-भर मे पानी फिर जाता है। सारी साधना / सारा तप ओस की बूँद की तरह विलुप्त हो जाता है।'
मित्र ने इतना लम्बा वक्तव्य सुनने के बाद उबासी ली और बोले 'यार बोर मत करो, यह बताओ कि यह चलना एकदम शुरू करे या क्रमश '।
मैने कहा 'देखो यदि साधु ही बनना है तो एकदम ही सारे वाहन छोड़ देने होगे और यदि साधुत्व से पहले की सीढियाँ चढ़ते जाना है तो फिर ऐसा करने मे कुछ क्रम भी निर्धारित किया जा सकता है,

लेकिन बहरहाल इतना मान लो कि चलने मे-से ज्ञान आता है रुकने-ठहरने मे-से कुछ नहीं आता, बल्कि अहकार, दभ, आसक्ति, लोभ, लालसा इत्यादि प्रकट होने लगते है, जिनसे तमाम जिन्दगी दोजख बन जाती है और 'भोर' जिसे भोर ही रहना था, सांझ की ओर झुकने लगता है।'
हम दोनो ने इस बहस को दूसरे दिन के लिए किसी दूसरे मुद्दे पर स्थगित किया और अपने-अपने गतव्यो की ओर चल दिये। (तीर्थंकर, वर्ष १५, अंक ८, नवम्बर, '८६)

साधु : विशेषणों का विशेषण

साधुओ पर तो मेरा ध्यान गया ही है, किन्तु उनके व्यक्तित्व पर विचार करते हुए 'साधु' शब्द के विभिन्न अर्थो पर भी वह गया है। सोचता रहा हूँ कि यह शब्द कैसे वना और कितने अर्थ है इसके ? जिस रूप मे आज यह प्रचलित है क्या आज साधु-वर्ग इसे उसी अर्थ मे जी रहा है, या इसके जीते-जी वह अर्थान्तरो की अन्तहीन मृगमरीचिका मे फॅस-उलझ गया है ?

साधु - शब्द सज्ञा, विशेषण भी

व्याकरण की आँख से साधु शब्द सज्ञा भी हे और विशेषण भी। सज्ञा के रूप मे इसके मायने है - मुनि, यति, सज्जन ओर विशेषण के रूप मे सुन्दर, शोभन, प्रतिमित, परिनिष्ठित, मानक, आदर्श, भला, अच्छा, उचित, सतुलित, चतुर, योग्य, मुनासिब, वाजिब।

प्राकृत मे इसका रूपान्तर हे 'साहू' ओर लोकभाषाओ मे 'हाउ'। 'साहु' का अर्थ है 'साधु' ओर 'हाउ' का अर्थ हे 'अच्छा'। साहु ओर हाउ दोनो ही साधु मे-से विकसित शब्द हे।

'साधु भाषा'

सज्ञा ओर विशेषण के रूप मे इसके जो अर्थ सामने आये है, वे लोक प्रयुक्त हें ओर समाज की उस मगल कामना के परिचायक हे, जो सदेव औचित्य ओर शालीनता का ध्यान रखती रही है। जब हम 'साधु भाषा' कहते हे, तब हमारा ध्यान भाषा के उस मानक रूप पर होता है, जिसके द्वारा हम समाज के उस विद्या-क्षेत्र की अभिव्यक्ति करते हें जिसमे जटिल और गहन विषयो का अध्ययन-अनुसधान होता है। इसी के द्वारा हमारी वैज्ञानिक, शास्त्रीय, न्यायिक, राजनीतिक, पुरातात्त्विक, तार्किक तथा कलागत धारणाओ की सूक्ष्मतर विवेचनाएँ होती है। इसी मे-से मानव की सर्वोत्कृष्ट मेधा ॲगड़ाई लेती हे।

साधु : साधना की बुनियाद

जैनधर्म मे 'साधु' को साधना की बुनियाद निरूपित किया गया है। जैन साधना की आधार-भूमि है साधु, साधु के आगे की सीढी है उपाध्याय, उपाध्याय के आगे का सोपान है आचार्य, आचार्य के आगे का अरिहन्त और अन्तिम है सिद्ध। इस तरह साधु यदि नींव है, तो सिद्ध शिखर है। नीव-से-शिखर-तक की यह यात्रा स्थूल यात्रा नही है वरन् भीतर-भीतर निरन्तर होने वाली एक अत्यन्त अलौकिक/अव्यक्त यात्रा है - ऐसी, जिसकी सूचना बाहर के लोगो को कम, किन्तु साधक को अधिक और प्रतिपल/प्रतिपग मिलती है।

ज्योतिर्धर

साधु की आगमोक्त अस्मिता पर तो विचार हुआ है, किन्तु उसकी लोकोक्त इबारत पर बहुत कम सोचा गया है। 'उत्तराध्ययन' एक ऐसा सकलन -सूत्र है, जिसके पन्द्रहवे अध्ययन मे भिक्खू/साधु के व्यक्तित्व पर, उसकी गुणवत्ता पर गहराई से विचार किया गया है। इसमे आये सोलह श्लोक जहाँ एक ओर साधु के व्यक्तित्व की उदार समीक्षा करते है, वही दूसरी ओर वे 'टार्च-बेअरर' (ज्योतिर्धर) का काम भी करते है। लगता है जैसे सोलह मशालो का

एक जुलूस आगे-आगे चल रहा हो साधु के जा उसे रोशनी देता हो इतनी कि उसकी साधना फलवती हो सके, कामधेनु सिद्ध हो सके।

आगमचक्षु

कहा गया है कि साधु अपने विहार मे चाहे वह अतस्तत्त्व की खोज़ के लिए हो, या वाहर-प्रतिपल-अप्रतिवद्ध होता है। वह किसी से सचालित नहीं होता वल्कि वह एक ही कसौटी पर तमाम उसूलो को कसता है, निकष है - अध्यात्म-सिद्धि के लिए, आत्मोपलब्धि के लिए कौन-सी स्थितियाँ हेय है और कौन-सी उपादेय ? उसका परमोच्च लक्ष्य होता है आत्मानुसधान, आत्मा की मौलिकताओ को अप्रच्छन्न करना। उसकी सारी शक्ति/सपूर्ण सामर्थ्य आत्मगवेषणा मे लगता है। वह स्वय का दीपक स्वय वनता है, वह मूलत 'आगमचक्षु' होता है। उसकी साधना इतनी प्रखर और तेजोमय होती है कि उसमे हो कर आगम को जर्रा-जर्रा देखा जा सकता है। वह न तो वँधता है, और न ही वाँधता है, वह मात्र सम्यक्त्व को खोज़ता है और यत्न करता है उन सारे मुलम्मो को उतार फेकने के जो उसे प्रवचित करते है, गतव्य तक पहुँचने मे अड़चन डालते है। वह चलता रहता है और होता जाता है इस तरह कुछ कि उसके इस चलने/होने मे-से उसका आत्मतत्त्व प्रकट होने लगता है। वह आच्छादनो को हटाता जाता है और विमलताओ को पाने का हर सभव प्रयत्न करता जाता है। वह अनेकान्तदर्शन का मर्मी होता है - अप्रतिबद्ध, पूर्वग्रह-मुक्त, सत्यपथ-का-पथिक। वह यह, या वह, पहले से मान कर नहीं चलता वल्कि खुद खोजता है, पाता है उन लोगो की छत्रछाया मे जो उससे पहले हुए है, या उसके समकालीन है और जिन्होने आत्मतत्त्व को उसकी सपूर्णता मे जानने/पाने का प्रयास किया है।

अनासक्त

साधु वह है, जिसे किसी भी वस्तु, स्थिति या व्यक्ति मे मूर्च्छा नही है, जो अनासक्त है पतिपल। जो न किसी वस्तु से वँधता है, न कोई वस्तु उसे वाँध पाती है, वह निर्वन्ध/निर्ग्रन्थ एकाग्र/एकल चलता है उन तमाम विकारो और दोषो को अलगाता हुआ जो उसकी अध्यात्म-यात्रा मे विघ्न वनते है, इसीलिए उसे सागर की उपमा दी गयी है। कहा है वह 'वहि क्षिप्तमल' होता है अर्थात् जिस तरह समुद्र अपने भीतर के मलो को मथ-मथ कर फेंकता रहता है, ठीक वैसे ही साधु भी अपनी साधना द्वारा अपने अतर के मल वाहर फेंकता रहता है स्वाध्याय मे, पतिक्रमण मे, सामायिक मे - प्रतिपल/पतिक्षण।

जिस तरह वह यह सब करता है, विज्ञान की पयोगशालाओ मे भी यही/वैसा होता है, किन्तु विज्ञान की पयोगशाला का कार्य भौतिक होता है - उसका कोई दृश्य बनता है, किन्तु साधु के भीतर का कोई दृश्य नही बनता, वह [illegible] मे लीन रहता है और अमूर्च्छित चलता है। 'मूर्च्छा' जैनागम का एक [illegible] शब्द है, जिसका अर्थ है गहन आसक्ति, अन्धा मोह-ऐसा मोह जो अज्ञान का [illegible] दलदल बनाता है। जब कोई किसी वस्तु को, जो उसकी अपनी नहीं है, अपनी-बहुत अपनी-मानने लगता है, तब

मूर्च्छा प्रकट होती हे। मूर्च्छा गहनतर तव होती जाती हे, जब आसक्ति प्रगाढ होती है और व्यक्ति 'पर' को 'निज' मानने लगता हे - एक भ्रान्ति मे धँस जाता हे।

जैनागम मे परिग्रह को मूर्च्छा कहा गया हे। साधु, इसीलिए, अतरग/बाह्य मूर्च्छा को उत्तरोत्तर घटाता हे। सयम के द्वारा वह उस पर कावू पाता हे। मूर्च्छा के कई द्वार हे। वह आहार, भय, मैथुन कहीं से भी हमला कर सकती हे। साधु सतर्क/अप्रमत्त रहता हे और द्वार खुले रख कर पहरेदारी करता हे। जो किसी भी वस्तु/स्थिति मे मूर्च्छित नहीं है वह भिक्षु। अमूर्च्छित महामुनि रस/स्वाद के लिए कभी नही खाता, वह सिर्फ इसलिए भिक्षा लेता हे ताकि जिये और अपने लक्ष्य की ओर कदम उठाये रहे।

'उत्तराध्ययन' के सत्रहवे अध्ययन मे कहा गया हे कि वह अलोलुप रस-में-अगृद्ध, जिह्वाजयी, अमूर्च्छित रहता हे ओर अपने लक्ष्यबिन्दु पर एकाग्र चलता हे। अनासक्ति उसके जीवन का मूलाधार होती हे।

अहिंसा का परमोत्कृष्ट रूप

वह सब सहता है। हर्ष-विषाद, लाभ-हानि, सुख-दु ख, सयोग-वियोग, राग-द्वेष, माटी-स्वर्ण सब मे समत्व रखता है। उसके लिए कहीं कोई मूर्च्छा नही होती - सब समान होते है। वह निराकुल होता हे। आकुलता मूर्च्छा मे, विषमता मे होती हे , समत्त्म मे आकुलता के होने का कोई प्रश्न ही नही है। यही कारण है कि साधु समत्व मे होता है उसी को अपने जीवन की बुनियाद बनाता हे। उसके लिए उसकी निजता इतनी उदार हो बनती है कि प्राय सभी आत्मवत् हो जाते हे। उसकी इस सघन आत्मवत्ता मे-से अहिसा का परमोत्कृष्ट रूप प्रकट होता है। वह अभीत हो जाता है, होता जाता है। कहा गया है कि अभय अहिसा का परिपाक है। वह अहिसा की चरम सीमा है। अहिसक न तो किसी से डरता है, और न किसी को डराता है। ऐसी कोई वजह ही नही बच रहती कि वह किसी से भयभीत हो। भय को जीतने पर अहिसा आपोआप अपनी परमोत्कृष्टता मे उस पर प्रकट हो जाती हे।

आत्मगवेषी

साधु आत्मगवेषी होता है। वह ढूँढता है आत्मा के स्व-भाव को। शरीर मे बैठी उस आत्मा को जिसे लोग अक्सर देख नही पाते हैं। होता बहुधा यह है कि लोग देह को ही आत्मा मान बैठते है और उसमे मूर्च्छित हो जाते है। इन-ऐसी बीहड़ स्थितियो मे शुरू होती है साधक की शोध-यात्रा।

ध्यान रहे, सत्य-की-खोज का काम गहन तिमिरान्ध मे शुरू होता है। शरीर की जड़ताओ के बीच आत्मा की एक किरण जब साधक को छूती है, उसके भीतर भिदती/उतरती है, तब शुरू होती हे उसकी सच्ची गवेषणा। एक सयत, सुव्रत, दूसरे साधुओ के साथ रहने वाला साधु ही आत्मगवेषणा का अधिकारी हो सकता है। सच्चा आत्मगवेषी अमूर्च्छित और परिपूर्ण सयम मे चलता है। उसकी यात्रा अविराम चलती है, वह एक पल को भी रुकता नही है, तब तक वह पुरस्सर रहता हे तब तक उसे आत्मसिद्धि की परमनिधि नही मिल जाती।

भिक्षु

भिक्षु कुतुहल नहीं करता। वह कही रुकता ही नहीं है, कहीं विधता ही नहीं है, उसके कहीं आरक्त/आसक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह सदा तपस्वी होता है। तप मे उसका एक-एक क्षण वीतता है। उसके साधना-के-दीपक-की-लौ अखण्ड-अकम्प वलती है।

वह विद्याओ को केवल आत्मसिद्धि मे डालता है, उनका लौकिक उपयोग नहीं करता। वह तन्त्र-मन्त्र/टाट-टोटको का भूल कर भी इस्तेमाल नहीं करता। आत्म-विद्या की अवाध/उत्तरोत्तर उपलब्धि मे जो भी शक्तियाँ उसके भीतर वनती/उघड़ती है, उनका वह सिर्फ आत्मानुसधान मे उपयोग करता है, आजीविका उनमे-से नहीं लेता। वह जानता है, किन्तु उनका उपयोग लौकिक लाभ के लिए नहीं करता। कहा गया है जो विज्जाहि न जीवइ स भिक्खू- जो विद्याओ के द्वारा आजीविका नहीं करता- वह भिक्षु है। आज ऐसे साधु वहुत सारे है जो लौकिक विद्याओ के जरिये आजीविका कर रह है।

जो साधु 'सथव'-सस्तव/परिचय नहीं करता वह भिक्षु ह। भिक्षु कभी कोई ऐसा परिचय नहीं करता जिससे उसे सुविधाऍ मिले, आराम मिले, सुख मिले। उसका मार्ग सुविधा-भोग कामार्ग नहीं है, वह कटकाकीर्ण रास्ता है। वह निराकुल मन से अपनी यात्रा करता है, रुकता नहीं है - सुविधा की याचना नहीं करता, सुविधा या सकट से कभी विचलित नहीं होता। सकट मे-से वह परीक्षित होता है ओर हर आपदा को, उपसर्ग को एक सुविधा मानता है, आध्यात्मिक सपदा की तरह स्वीकार करता है, इसीलिए कहा गया है- जो सथव न करेइ स भिक्खू-जो परिचय (सस्तव) नहीं करता वह भिक्षु है।

जो अनिष्ट योग इष्ट वियोग मे भी अविचलित/अकम्प वना रहे वह है साधु। चाहे जैसी विषमता को साधु पद्वेष (डाह) नहीं करता। जो प्रतिकूलताओ मे सुमेरु की तरह अकम्प/अविचल रहता है, वह साधु है ओर जो अनुकूलताओ की खोज अथवा याचना नहीं करता वह साधु है। सतोष ओर साधुत्व म घनिष्ठ सवन्ध है। ऐसा सभव ही नहीं है कि जहाँ साधुत्व हो वहा सतोष न हो और जहा सतोष हो वहाँ साधुत्व की काई जीवन्त सभावना न हो। कहा गया है - जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू-जो ऐसी विषमताओ/पतिकूलताओ म भी पद्वेष नहीं करता वह भिक्खू है।

जो मन, वचन, और काया स सुसवृत है, वह भिक्षु ह। यहाँ 'सुसवृत' शब्द पर ध्यान दीजिये। सवृत और विवृत क व्यतिरेक को समझिये। विवृत खुलाव को कहते है और सवृत सवरित (वन्द) को कहते है, अत जिसने मन, वाणी, और काया के द्वार/कपाट वन्द कर लिये है वह भिक्खू है, वह साधु है। साधु इन द्वारा पर अप्रमत्त चौकी रखता है। वह पतिक्षण देखता है कि कहीं कोई अनचाहा/अयाच अतिथि तो द्वार नहीं खटखटा रहा है ? वह तमाम दस्तका के उत्तर नही देता, सिर्फ सम्यक्त्व-की-दस्तक सुनता है।

की ओर इशारा है, अत अन्तिम आदमी का खयाल जो रख रहा है वह साधु है। जो पक्ति मे प्रथम आदमी का ध्यान रख कर अपनी साधुचर्या चला रहा है, वह साधु नहीं है-वह असाधु है या फिर साधुत्व/मुनित्व की बारहखड़ी से अपरिचित है।

जो डरता नहीं है वह साधु है। यह बहुत सीधी, किन्तु अत्यन्त प्रखर कसौटी है साधुत्व की। साधु डरे क्यो ? कोई कारण नहीं है कि वह भयभीत हो। वस्तुत वह कहीं भी/कैसे भी भयाक्रान्त नहीं है। वह न भयभीत है, न भवभीत अपितु भववीत होने के मार्ग मे अनवरत यत्नशील है। उसका युद्ध सप्तभयो से है और वह लगातार उन पर अपनी जयपताका फहराता जा रहा है। उसने अपनी इस जययात्रा मे, जो निरन्तर है, न तो किसी की दासता को स्वीकार किया है और न ही कहीं किसी निराशा का शिकार वह हुआ है।

प्राज्ञ

वह 'प्राज्ञ' है अर्थात् जानता है गहराई मे समत्व के मर्म को, आगम के परमार्थ को। वैषम्य को, असमजस को, पसोपेश को वह खत्म कर चुका है। वह जहॉ भी ऑख पसारता है, वहॉ उसे समता की धड़कन थिरकती नजर आती है। उसने वस्तु-स्वरूप को जाना है, वह वस्तु-मात्र की अस्मिता का सम्मान करता है, वह किसी का अपमान नहीं करता, और न ही यह मानता है कि उसका अपमान हुआ है, या होता है। जो एक गहन साम्य मे जीता है और जिसके लिए मानापमान मे फर्क ही नही रह गया है, ऐसे साधु मे जहर-अमृत एक-जैसे होते है। वह शूल-फूल मे भेद नहीं करता और इसीलिए शूल-फूल भी उसमे कोई फर्क नहीं देखते। उस सत्यार्थी की ऑखो मे सत्य की खोज़-पिपासा इतनी विदग्ध और तीव्र होती है कि सब कुछ उसमे निमग्न होता है। उसका एकमेव लक्ष्य होता है खुद-को-अपनी-सपूर्ण-निजता-मे -पाना। उसकी साधना, असल मे, निजता को खोजने और पाने की साधना होती है।

साधु की गरिमा

वह भीतर-बाहर सब जगह अकेला होता है। भीतर उसके रागद्वेष समाप्त हुए होते हैं इसीलिए अकेला होता है और बाहर रागद्वेष के तमाम हेतु निष्क्रिय हो जाते है इसलिए अकेला होता है। एक तलस्पर्शी नैष्कर्म्य के कारण उसकी तमाम स्वाभाविकताऍ उन्मुक्त हो जाती हैं और वह निरन्तर शुद्ध तत्त्व के रूप मे उभर कर सामने आने लगता है। कहा गया है - चेच्चा गिह एगचरे से भिक्खू-घर छोड़ कर घर पाने के लिए जो अकेला चलता है-रागद्वेष से विविक्त-वह भिक्षु है। यहॉ -'एगचरे' पद पर ध्यान दीजिये। वह अकेला चलता है। वह स्वायत्तता की खोज मे है। पराधीनताओ की जजीरे उसने निरन्तर काटी है, अत एक सर्वथा स्वाधीन स्थिति मे वह लगातार उतरता जा रहा है। जो साधक पराधीनता को समझ कर स्वाधीनता का विलक्षण रसपान करता है, वह भिक्षु है।

ऐसे साधु विशेषणो मे लिप्त नहीं होते, बल्कि ससार को विशेषणो से विभूषित करते है। साधु की गरिमा ही इसमे है कि वह भरपूर अप्रमत्तता मे जिये और अलकारो को अलकृत करे, अलकारो से अलकृत न हो, अत जो विशेषणो-का-विशेषण है, वह भिक्षु है, वह साधु है।

(तीर्थंकर, वर्ष १७, अंक ५-६, सित.-अक्टू., '८७)

'सिद्ध' : कितने अर्थ ?

'सिद्ध' जैनो का एक इबारती और
तकनीकी शब्द है।
सिद्धत्व साधना की चरम परिणति है,
उपलब्धि का सर्वोत्तम आकार है।
इसके बाद आत्मा मात्र ज्ञाता-दृष्टा
रह जाती है।

आदमी का
प्राणिमात्र का सबसे बड़ा दुश्मन है
अज्ञान/विपरीत ज्ञान/या अन्धा ज्ञान।
जो ज्ञान व्यक्ति खुद हो कर या
खुद-मे-हो-कर हासिल करता है
साधना/तप/अनुसधान/स्वानुभव से
वह होता है अद्वितीय, अनुपम, अ-जोड़,
इसे ही सिद्धि कहा जाता है/कहा
गया है।

'सिद्ध' मात्र जैनो का नहीं

'सिद्ध' शब्द, मात्र जैनो का शब्द नहीं है,
वह भारतीय धर्मो और भारतीय
सस्कृति मे काफी गहराई तक गया-डूबा
शब्द है।

मध्यकाल मे तो उस महात्मा को सिद्ध
कहा जाता था, जो
भूत, पिशाच, प्रेत, डाकन आदि का नियामक/शास्ता होता था, ये सब जिसके
चरणो मे सिर झुका कर चलते थे,
वह तन्त्रवेत्ता होता था -
उसकी अध्यात्म मे तो गति होती ही थी
लोकाचार मे भी उसका नाम था
उसका व्यक्तित्व निपट धार्मिक ही
नहीं था,
सामाजिक और सास्कृतिक भी था।
जो लोग अज्ञान को चुनौती दे कर
खुद साधना के शिखर पर, जैनो ने
उन्हे ही 'सिद्ध' कहा गया,
जिन्होने स्वय को निर्भ्रान्त किया और
जो भी उनके सपर्क-समागम मे आया
उसे भी अज्ञान-से-ऊपर उठा
सम्यग्ज्ञान के शीर्ष पर जा रखा, वे थे
सिद्ध।

आत्मा ज्ञानवाची शब्द

वे ज्ञानमात्र थे
केवलज्ञान
ज्ञान के अलावा कुछ और उनमे बच ही
नहीं रहा था (ध्यान रहे आत्मा ज्ञानवाची
शब्द है)।

क्या हम ऐसे किसी व्यक्तित्व की कल्पना
कर सकते है, जो साधना के बल पर
शुद्धतम हुआ, जिसमे-से अज्ञान-अविद्या की
सपूर्ण कालिमा निकल गयी और जो
निकल आत्मा हुआ देहातीत हो कर ?

विदेह/देह-मुक्त

चूँकि यदि
सबसे बड़ा अज्ञान यदि कोई है तो यह
कि देह अन्तिम है। वही
वह है, जिसके लिए सर्वस्व होम दिया
गया है/होम दिया जाता है,
किन्तु ऐसा है कहाँ ? वस्तुत देह
स-अन्त (सान्त) है, अन्त है उसका,
किन्तु जो विदेह/देह मुक्त हुआ है
अन्त उसका है ही नहीं,
वह अनन्त है, सारे अन्त जिसने
अनन्त हुए है वह है सिद्ध
जिसने 'सर्वार्थ सिद्ध' किये है
जिसने तमाम 'पुरुषार्थ' पा लिए है
जिसे जीवन का परम अर्थ मिल गया है

सिद्ध आत्मा मे पारदर्शक

जो किसी ऐसे सिरे पर आ खड़ा
हुआ है, जिसके आगे पॉव रखने को कोई
बिन्दु बचा ही नही है,
वह है 'सिद्ध'। जिसने
पुरुष/आत्मा का सम्यक् रूप/अर्थ जान
लिया है, मात्र जान ही नहीं लिया है
बल्कि उसका पारायण/पारदर्शन कर लिया
है, जिसने देह-से-पार उसे देखा है जिसे
देखने के बाद और कुछ देखने को बचा
ही नही है,
वह है 'सिद्ध'।

सिद्ध शब्द की जन्म-कथा

'सिद्ध' शब्द की जन्मकथा को हम ले।
शब्द (यो पुद्गल) जीव की तरह ही है
जो जनमता, जमता, और गुजर जाता है,
उसका हृदय है, मस्तिष्क है, स्नायुतन्त्र है,
पाचनतन्त्र है, रक्तसचार-प्रणाली है,
उसकी अपनी अस्मिता है, वह हे
ठीक ऐसा ही जैसे कोई वृक्ष, कोई शिशु,
कोई अन्य जीवधारी।
'सिद्ध' भी इसी तरह का एक शब्द हे,
जिसकी अपनी अस्मिता है, अपनी विकास-
कथा है।

सिद्ध, सिध् धातु मे-से विकसित है
'सिध्' का अर्थ है परिपूर्ण होना, उपलब्ध
होना, स्थापित होना, 'स्व' मे
अधिष्ठित होना
अँग्रेजी मे इसका उल्था होगा अकॉम्प्लिश
होना, एस्टेब्लिश होना।
'स्व' को जानना ओर उसे शोरगुल/
धूमिलता मे-से ढूँढ निकालना, मामूली
काम नहीं है। धुएँ को चीर कर,
बादलो की काली/घनी चादर को फाड़
कर सूर्य के सपूर्ण बिम्ब को पाना बड़ा
दुस्तर कार्य है।

सिध्-सेधति/सेधते का अर्थ यही है।
अनन्त ज्ञान के समुद्र मे निमग्न होने
के लिए, उसमे उन्मुक्त अवगाहन के लिए
सघन/पर्त-दर-पर्त जमे मिथ्यात्व को
चीरना होता है। विदेह-की-रोशनी-मे
देह-के-तिमिर को पहचानना,
ऐसे तिमिर को जो बारबार उजाले का
भ्रम उत्पन्न करता हो,
और पहचान कर उसे निर्बीज करना
कितना मुश्किल है ?

सिद्धत्व

इसे वे ही जानते है जो स्वरूपानुभव
मे निमग्न है, या जो स्वरूपाचरण मे
मस्त, निश्चिन्त है। सिद्धत्व एक
ऐसी अवस्था है जिसमे पाने को कुछ
बचा नही रहता हे,

वहाँ वह सब कुछ मिला होता है, जिसे
हम प्रतिपल मानते रहे हे कि वह
हमारे पास नही है (असलियत यह है कि
वह है और प्रतिपल है)। सिद्धत्व
के मायने मात्र इतने है कि जो हमारे
पास था (है), जिस पर पर्दे-के-बाद-
पर्दे पड़े (हे), किन्तु हर पर्दा उठाया
गया ओर अन्तत वहाँ पहुँचा गया
जहाँ 'स्व'-केवल 'स्व' बच रहा
-यह सिद्धत्व हे। सिद्धत्व मे 'स्व' बच
रहता हे 'पर' छटपटा कर भाग खड़ा
होता हे, अत

सिद्ध होना स्वय-मे-स्वय-मे-पाना

सिद्ध होने का सीधा-सा मतलब है -
स्वय-को, स्वय-मे-पाना
उस स्वय को जो काफी समय तक यह
मानता रहा कि मैं देह हूँ, देहरूप हूँ।'
उस प्रगाढ़ भ्रम मे-से मन को मुक्त
करना और सिर्फ ज्ञान मे मुकम्मल ठहर
जाना सिद्धत्व है।

सिद्ध शब्द मे-से प्राकृत मे विकसित हुआ
है 'सिज्झ' और सिज्झ' यानी पकना
या गलना।

'दाल सीझती है' अर्थात् खाने योग्य,
सुपाच्य बनती है।
सीझने का मतलब हुआ 'सीझनिग' -
दृढ़ होना, स्वरूप मे मुकम्मल होना,
पुख्ता होना।
हर सघर्ष को झेल कर
चुनौती को चीर कर अपने असली रूप मे
खड़े होना-सीझना है।
विषमतम स्थिति मे भी 'स्व' की निर्भ्रम
पहचान बनाना सीझना है।

इस तरह सीझने का अर्थ हुआ परिपक्व
होना, पकना, स्वानुभूति की प्रक्रिया मे
प्रवीण होना।

सिद्धत्व के पड़ाव

यह सिद्धत्व मे उतरने की प्रक्रिया है,
पड़ाव-दर-पड़ाव कार्यक्रम है
साधु/उपाध्याय/आचार्य/अरहत/

'सिज्झ' मे-से 'सीझ' का जन्म भाषा-
विज्ञान के एक नियम मे-से हुआ है। जिसे
हिन्दी मे 'क्षतिपूरक दीर्घीकरण' और
बांग्ला मे 'क्षतिपूरक दीर्घीभवन' कहते है,
उसके तहत हुआ 'सिज्झ' का 'सीझ'।
सिज्झ मे-से 'ज्' का लोप हुआ और
फलस्वरूप 'सि' का 'सी' हुआ -एक लुप्त
हुआ, एक दीर्घ और सिज्झ से सीझ
बन गया। इसी तरह बने है बुद्ध/बुज्झ
से बूझ, युद्ध/जुज्झ से जूझ और दुग्ध/दूध
से दूध।

शब्द बनते है/बनते जाते है
पर्यायान्तर होता है, किन्तु मुख्यार्थ
लगभग बना रहता है। सीझने मे
सिद्ध होने, सफल होने, परिपक्व होने का
भाव बना हुआ है।
ऐसा साधु जो उपाध्याय/आचार्य आदि
अवस्थाओ मे-से गुजरने की प्रक्रिया को
ही ना जानता हो, अपनी साधना
मे क्या - कुछ हासिल करेगा,
कहा नहीं जा सकता।

कुछ भी पाने के लिए
यह सच जानना ज़रूरी है, जिसे मिथ्यात्व
या गलत ज्ञान और सम्यक्त्व या
सही ज्ञान कहते हैं।
जिसमे झूठ-सच की परख नहीं है या
जो साँच-को-आँच पर रखे हुए है,
किन्तु जो झूठ को उसकी परिपूर्णता मे
नहीं जान पा रहा है, वह सत्य को
पूरी तरह पकड़ पायेगा यह सदेहास्पद है,
वास्तव मे
सच को पकड़ने के लिए, उसे नखशिख
जानने के लिए, झूठ को भी नखशिख जानना
जरूरी है।

सिद्ध शब्द की भारतीय संस्कृति मे गहरी पैठ

'सिद्ध' शब्द की भारतीय संस्कृति मे
गहरी पैठ है। यह मामूली शब्द
नही है। इसका अक्षर-अक्षर ही,
[illegible] मे यह [illegible] -

'ओम् नम सिद्धेभ्य /ओम् नम सिद्धम्'
जिसमे-से मध्ययुग मे रह गया सिर्फ
'ओनामासीधम' और अक्षर-ज्ञान देने से
पहले भारतीय पण्डित बच्चो से यही
कहलवाने लगे सिद्धो को नमस्कार
जिन्होने अपनी अजर-अमर साधना से
अमृतत्व को प्राप्त किया,
उस सत्ता को नमन जिसने वह सब
उपलब्ध किया जो
उपब्धियो-की-उपलब्धि है।
हिन्दी मे 'सिद्ध' शब्द को ले कर
कई महावरे विकसित हो गये है।
एक शब्द है 'सीधे', जिसके मायने है सीधे
होने की अवस्था। मह जब कोई क्यारी
बनाते है या किसी मकान के लिए
तब 'सीध मिलाते' हे, यानी किसी
सिद्ध/स्थापित बिन्दु से मेल बिठा कर
सीधी रेखा या रेखाएँ डालते है। यह
काम कारीगर गेरु-भीगे सूत्र से सपन्न
करता है। 'सीध' अगर नही मिलती
है तो फिर टेढेपन की आशका बनी
रहती है और आगे चल कर पूरी
योजना असफल हो जाती है।
'सीध बॉधना' हिन्दी मे प्रचलित हो गया
है। दीवार पर जब इटो की कतार
चिनी जाती है, तब सीध बॉधे बिना
वैसा नहीं होता अन्यथा सब कुछ
धराशायी हो रहेगा।

सिद्धो-से-सीधे बॉधना आवश्यक

जिस तरह मामूली कामो मे सीध का
महत्त्व है, ठीक वैसे ही अध्यात्म मे
भी'सिद्धो-से-सीध बॉधे बिना' कुछ
हासिल हो, यह सभव नहीं है। यदि
सचमुच कुछ पाना है तो अपने लक्ष्य की
सीध सिद्धो से मिलानी/बॉधनी होगी।
इस तरह सिद्ध मे-से विकसित महावरा
सीधे बॉधने का सीधा-सादा अर्थ
हुआ अपने भीतर एक ऐसी सीधी रेखा
डालना जो लक्ष्य को भलीभाँति निर्धारित
करती हो।

जतर-मतर निपट अज्ञान

जादू-टौने और जतर-मतर निपट अज्ञान
हैं, इनकी पीठ पर ज्ञान की प्राजलता
नहीं है। ये है सिर्फ इसलिए कि
आदमी अपने भीतर ज्ञान-के-सूरज-
की-धूप
को ढूँढ नहीं पाया है, और इनमे
भय-की-भावना के कारण लिप्त है।
उसे लगता है कि यदि कुछ हुआ और
वह मर गया तो उसे वह सब छोड़ कर
जाना होगा जिसे उसने जान मार कर
एकत्रित किया है, इस आतक मे वह जो
समेट पाता है उसका भी ठीक से
उपभोग करने से चूक जाता है और
एक दिन आहिस्ते से उसे महायात्रा
पर निकल जाना होता है।

ज्ञान और भय मे कोई मैत्री नहीं

यदि वह निर्भीक हो (ज्ञान की सबमे बड़ी
सिफत यह है कि वह व्यक्ति को निडर
और साहसी बना देता है), तो विकल
होने का प्रश्न ही नही है।
जो जानते है, वे कभी डरते नहीं है।
ज्ञान और भय की कोई मैत्री नहीं है,
अज्ञान और भय की है, इसलिए
जो जान रहा है कि उत्पाद और
व्यय आते-जाते है, किन्तु भीतर की

ध्रुवता टिकी रहती है, उन्हे न तो
किसी तरह का खौफ रहता है और
न किसी तरह की फिक्र-वे अपनी मस्ती
म डूबे बहुत सफलतापूर्वक एक पडाव-
से-दूसरे पडाव पर चले जाते है और एक
दिन उन्हे ऐसा लगता है कि वे एक
एस पड़ाव पर आ पहुँचे है

जहाँ से न तो पीछे लौटने की
जरूरत है और न ही जिसके आगे कोई
पड़ाव है। वस्तुत जो कैवल्य की
परमनिधि प्राप्त करने की पात्रता
रखता है, उसे अन्धविश्वासी या भयभीत
होने की ज़रूरत ही नहीं है।

सिद्धावस्था की वर्णमाला साधुत्व

सिद्धावस्था की वर्णमाला साधुत्व से शुरू
होती है।
साधु वह नही है जो भयभीत है,
बल्कि साधु वह है जो स्वय तो भय से
पूरी तरह मुक्त है ही अपने सपर्कों को भी
उससे मुक्त रखने म समर्थ है। जो ज्ञानी है
उसे न तो कभी डरना है और
न ही अज्ञान या अविद्या के आगे
अपना सिर झुकाना है। जिसने उज्ज्वलता
को जान लिया है वह भला अँधेरे की
चाकरी क्या करेगा ?

सिद्ध, शब्द का सबन्ध 'सित' से भी है
सित के मायने उज्ज्वल, शुद्ध, दग्ध,
[illegible], धवल, स्फटिक-की-तरह-
पारदर्शी
(ट्रान्सपेरेंट) आत्मस्वरूप की झलक
[illegible], [illegible]
निष्कपट
[illegible]।

अयोगकेवली

सिद्ध इस तरह वह हुआ जो उज्ज्वल/
है, जिसने कर्म के ईधन को दग्ध/भस्म कर
दिया है, जो साधना की
आँच म तप-तच कर निर्मल सौटच हुआ है
जिसमे खोट का काई अश बचा नहीं
रहा है, जो खरा है सब ओर से, जो
अयोगकेवली है, जो निकल परमात्मा
है, जिसमे-से (कल = शरीर की) तमाम
भगुरताएँ की कलुषताएँ दुम दबा कर
भाग निकली है, जो शुद्धता के
परमोच्च शिखर पर पहुँच चुका है।

जो उज्ज्वलता का सीमान्त है
वह सिद्ध है।
सिद्ध यानी लोकभाषा म वह जिसने
अन्धविश्वास और अज्ञान की जजीरो को
सम्यक्त्व की छैनी से काट फेका है, और
पारमार्थिक भाषा मे वह जो 'अपुनर्भू' हुआ
है अर्थात जिसने जन्म-मरण का बीज
इस तरह जला-झुलसा दिये है कि अब
उनमे-से वृक्ष-की-सतति खत्म हो
गयी है।

शुद्धात्मतत्त्व

सिद्ध वह है जिसने निर्मल ज्ञान से दूर कर
अज्ञान और अन्धकार की तमाम
सभावनाओं को निर्बीज कर दिया है।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]

अज्ञान अविद्या, माया, पर, इस तरह
जिसने देह को निर्बीज कर दिया
है, वह है सिद्ध, जिसे अब देह मे लौटना
नही है, जो अ-देह/अ-शरीर हुआ है
वह है सिद्ध।

परमोज्ज्वलता

कम शब्दो मे
देह यानी अधकार यानी अज्ञान,
आत्मा यानी रोशनी यानी परम कैवल्य
यानी परमोज्ज्वलता।
ऐसी दशा मे जिसने 'परम अर्थ' को पा
लिया है, वह अधेरे मे क्यो लौटेगा ?
कभी नही लौटेगा

सिद्धो का मार्ग

हमारा विश्वास है कि जो व्यक्ति
ज्ञान-के-कैवल्य की साधना या आराधना
कर रहा है, वह जादू-टोने या
जतर-मतर के जाल मे फॅसे, यह सभव ही
नहीं है।

वस्तुत ज्ञान-के-केवल्य से
इन सबका
कोई सरोकार नहीं हे,
अत हमारा यह निष्कर्ष है कि
जैन होना अन्धविश्वास से मुक्त होना
है, या जो अन्धविश्वासी है, या जो
जादू-टोनो मे फॅसा हुआ है यह
जैन कहे जाने का अधिकार नहीं है।

अन्त मे हम ज्यॉमिति के तीन वर्ण रखना
चाहते हे -क्यू ई डी
जिसका मूल है - क्वॉड एरट डेमास्ट्रेडम
अर्थात् 'यह वही है जिसे हम सिद्ध
करना चाहते थे'।

जाने हम जैन होने का सीधा अर्थ है
ज्ञान के परिपूर्ण सम्यक्त्व की ओर
अविराम पॉव उठाते जाना और
इस सफर मे जो भी जितना भी ॲधेरा
पहचान मे आये, उससे मुक्त
होते जाना।
सिद्धो का मार्ग यही है।

(तीर्थंकर वर्ष १६, अक १०-१२
फर -अप्रैल, '८७)

साधक, साधु, सिद्ध : डॉ. नेमीचन्द जैन, संपादन . प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म.प्र.) मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर -४५२००९ (म प्र.); टाइप सैटिग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म.प्र.), प्रथम संस्करण मार्च , १९९८; मूल्य पॉच रुपये।

प्रणाम उन्हें, केवल उन्हें ही

अहकार जितना गहन होगा
निष्फल होगा
वह उतना ही।
निष्काम नमन की पृष्ठभूमि पर क्षमा, आकिचन्य, परस्पर सन्मान
होते है।
ऐसा नमन
पुलकित करता है रोम-रोम, मन प्राण।
नमन सिद्धि को, सभावना को,
अद्वितीय सयोजन है आत्मा की अपराजिता शक्तियो का,
नमन यह
कभी निर्वंश/निर्बीज नही होगा।
ऑजुरी का जल ॲगुरियो की सधियो के जैसे चुकता हे/चुकता जाता है
ठीक वैसे ही उम्र बूॅद-बूॅद बिदा होती है शरीर-रन्ध्रो मे-से
इसीलिए
नमन,
शमन है अह का-निजता का नही,
दमन है फन-उठाती विकृतियो का, और
रमण स्वय का स्वय मे।
नमन अर्थात् प्रणति उन सबको, जो आत्मा की प्रभुसत्ता को उघाड़ने के लिए
तिल-तिल गले है/गलते है/गलेगे/गल रहे है।
प्रणाम उन्हे, जो क्षमा की धरती पर अभीत खड़े है,
वाष्प-से उठते।
प्रणाम उन्हे, केवल उन्हे ही
जो ज्ञान है, केवल ज्ञान है,
ज्ञान के अलावा जो कुछ और नहीं है।
प्रणाम उन्हे
जिन्होने ज्ञान के अतिरिक्त
बाकी सब गला डाला है/भस्म कर दिया है,
शेष जो बच रहा हे वह शुभ्रता है, यथार्थ है।
कभी न लोटने के लिए जो लोकाग्र तक पहुॅचे, पहुॅचने को है,
पहुॅचने की तत्परता मे हे,
प्रणाम उन्हे, नमस्कार उन्हे!

(तीर्थंकर, वर्ष १०, अंक ७-८ णमोकार मन्त्र विशेषाक खण्ड-१ नव -दिस '८०)

मंगलाचरण : क्या, क्यों ?

'मगल' शुभ, शकुन, क्षेत्र, स्वस्ति, समृद्धि इत्यादि का वाचक शब्द है। इसे सदियो से भारत के लोग जानते है। कोई भी प्राचीन अथवा मध्ययुगीय ग्रन्थ 'मगलाचरण' के बिना अपूर्ण माना जाता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द मगल + आचरण का जुडवॉ रूप है। आचरण शब्द बहु-प्रयुक्त है और इसे लगभग सभी जानते है, किन्तु 'मगल' शब्द बहुप्रचलित होते हुए भी लोग उसके अर्थ को पूरी सफाई के साथ नहीं जानते। यह शब्द सस्कृत की मड्ग् धातु मे 'अलच्' प्रत्यय के योग से बना है। 'मडग्' का अर्थ है जाना अर्थात् जो कल्याणकारी उद्देश्य से विचरण या विहार करता है वह मगल है, या जिसके द्वारा अदृष्ट विघ्न अथवा पाप चले जाते है, वह 'मगल' है।

इस तरह यह एक ऐसा शुभकर/क्षेमकर कथन है जो किसी ग्रन्थ, सभा/समारोह को समापन तक निर्विघ्न ले जाता है। मगलाचरण के द्वारा किसी प्रणम्य को प्रणाम, अथवा नम्य को नमन किया जाता है। कभी-कभी इसके द्वारा दोहरा उद्देश्य भी पूरा होता है यानी वन्दना भी की जाती है और लेखक अपने रचना-सकल्प को भी प्रकट करता है।

मगलाचरण के कई भेद है - कम-से-कम तीन तो है ही। ये है - नमस्करात्मक, वस्तु-निर्देशात्मक, और आशीर्वादात्मक। प्रथम मे ग्रन्थकार अपने इष्टदेव को नमस्कार करता है। द्वितीय मे वह ग्रन्थ की विषयवस्तु का सकेत करता है, तृतीय मे 'अथ' शब्द के प्रयोग द्वारा निर्विघ्न समाप्ति की कामना की जाती है। प्रथम और द्वितीय प्राय मिले-जुले रूप मे आते है और एक चौथे प्रकार की रचना करते है। इस तरह मगलाचरण का मुख्य लक्ष्य किसी समारोह, प्रवचन-सभा, ग्रन्थ अथवा आयोजन के आरम्भ मे ही एक ऐसी स्वस्तिकर/शुभ कामनाओ से सुवासित हवा बनाना होता है। जो आयोजन/अनुष्ठान को अन्तिम पड़ाव तक निर्विघ्न ले जाती है।

प्रवचन-सभाओ मे भी 'मगलाचरण' की प्रथा है। यह किस कोटि का हो, इसका निर्णय कर्त्ता और वक्ता के पूर्वानुबन्ध से ही जाना जा सकता है। यदि प्रवचन से पूर्व मगलाचरणकर्त्ता की चर्चा प्रवचनकार से हुई है तो वह सभावना है कि नमस्करात्मक होने के साथ ही मगलाचरण प्रवचन का पूर्वाभास भी दे किन्तु ऐसा कम ही हो पाता है और प्राय प्रवचन-सभाओ के मगलाचरण या तो वन्दनात्मक होते है या उपदेशपरक, विषयवस्तु का सकेत देने वाले वे नहीं ही होते है।

(तीर्थंकर, वर्ष ९, अक ३, जुलाई, '७९)

स्वस्तिक : स्वरूप, अर्थ, विस्तार

स्वस्तिक को लोकभाषा मे 'सॉथिया' कहा जाता है। यह भारतीय सस्कृति का अभिन्न अग है। पता नहीं कब-कैसे यह प्रवासी प्रतीक यहॉ से पूरी दुनिया घूम आया, किन्तु यह सच है कि यह आज भी जन-जीवन मे मंगल, शौर्य, प्रकाश, मुक्ति और भक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित है। इसे कहीं भी, किसी भी शुभ कार्य मे सहज ही देखा जा सकता है।

स्वस्तिक : सृजन, सुख, करुणा

स्वस्तिक प्रतीक है।
प्रतीक उगता-पनपता है विचारो की जमीन पर
रूढ/परम्परित चाहे वह जितना हो, उसके पीछे कोई-न-कोई विचार/गूढार्थ अवश्य रहता है।
शब्द असल मे जहॉ अपनी अभिधा मे थकते है, प्रतीक तब आगे आते है
अपने सपूर्ण सामर्थ्य के साथ।
'स्वस्तिक' मगल कामना का प्रतीक है
जो सदियो से विघ्न-विदारकता और क्षेम-भावना को
व्यक्त करता आ रहा है।
'स्वस्तिक 'सु' और 'अस्ति' से बना शब्द है, 'भला होना' ; जो मागलिक शब्दों का उच्चार करता है, शुभाशीष देता है, उसे भी 'स्वस्तिक' कहा गया है।
अर्द्धमागधी मे जिसे 'सोवत्थिय' कहा गया है, वह यही मगलचिह्न है।
स्वस्तिक के अनेक अर्थ हैं।
स्वस्तिक एक यन्त्र भी होता है, जिससे नष्ट शल्य को निकाला जाता है।
इन नाते भी प्रतीक मे एक अर्थ सम्मिलित हुआ है कि जो नि शल्य/निर्भ्रम बनाता है वह स्वस्तिक है। स्वस्तिक कुक्कुट को भी कहते है।
इस अर्थ की दो दिशाऍ हो सकती है, एक, स्वस्तिक कहीं किसी सिरे पर
आर्येतर सस्कृति से जुड़ा है,
दो, यह प्रकाश की पहचान है
कुक्कुट को ब्राह्ममुहूर्त मे पता नहीं कहॉ से सूरज-की-किरणे छूने-जगाने लगती है, उसका
सबन्ध सबेरे से है तो स्वस्तिक का भी हुआ ही। इस तरह 'सॉथिया' सूरज की अगवानी का प्रतीक शब्द है।
स्वस्तिक की एक व्याख्या यह भी है कि वह सूरज के रथ का ऐसा चक्का है जिसके चार अरे है और जो मुड-छू कर पहिया बन अहर्निश गतिशील रहता है।

स्वस्तिक को ले कर एक और अनुमान है, जो अधिक सटीक बैठता है, वह यह कि अशोक के युग मे 'क' को '+' लिखा जाता था। 'क' के अर्थ है-ब्रह्मा और सुख। 'जल' भी इसका एक अर्थ है। **क्या इस तरह स्वस्तिक-सृजन, सुख और करुणा से नहीं जुड़ जाता ?**

स्वस्तिक 'पर्णक सूचिपत्र, शिखा और सर्प के फन की नीली रेख' का अर्थोद्बोधन भी कराता है,

इन शब्दो के क्रमश अर्थ है 'भिल्ल/वनस्पति, दूर्वा/ईख, किरण/चौरास्ता' अर्थात् हमारी 'आद्या सस्कृति/प्रगति, सौकुमार्य/मिठास, उजास/ खुलाव/ औदार्य'। इस तरह 'स्वस्तिक' की लपेट मे कई युग और कई सस्कृतियाँ आ गयी है। जैनो मे भी इसकी परम्परा है।

यह तीर्थकरो के २४ लाछनो मे-से एक है।

सातवे तीर्थकर श्रीसुपार्श्वनाथ की यह पहचान है।

इसे मॉड कर अब तो पूरे जैनधर्म को भी समझा जाने लगा है।

दो समकोणो पर आपस मे काटती रेखाएँ जन्म-मरण की प्रतीक मानी जाती है और क्रमश दाहिनी ओर मुड़ती रेखाएँ नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगतियो की प्रतीक मानी जाती हैं। किन्तु

इस प्रतीक क ठीक ऊपर तीन बिन्दु रखे जाते हे जो क्रमश सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के प्रतीक होते है। ये तीनो मिल कर मोक्ष तक सड़क बनाते है। इन तीनो के ठीक ऊपर एक अर्द्धचन्द्राकृति रहती है, जिसे सिद्धशिला माना जाता है। यह लोकाग्र मे स्थित मानी गयी है।

इस तरह इस एक प्रतीक के माध्यम से समस्त जैन तत्त्व तक आरभिक पहुँच बनायी जा सकती है।

भारतीय सस्कृति मे गणेशजी विघ्नविदारक देवता के रूप मे पूजे/माने जाते हैं।

स्वस्तिक उनका लिप्यात्मक रूप माना गया है

स्वस्तिक एक प्रकार की गृहरचना का द्योतक शब्द भी है

हठयोग मे एक आसन का नाम भी स्वस्तिक है,

इस तरह कुल मिला कर

सॉथिया मगल का प्रतीक है और हमारे सास्कृतिक जीवन पर सर्वत्र छाया हुआ है। मागलिक मौको पर, घर की भित्तियो पर, धार्मिक स्थलो मे, व्यापारियो के बही-चौपड़ो के प्रथम पृष्ठ पर सॉथिया वना रहता है।

विघ्न हो, न हो जहाँ आशंका भी है वहाँ स्वस्तिक व्यक्ति को नि शल्य/निरापद करने मे समर्थ है। स्वस्तिक स्वस्तिकर है, सुख है, सादा है, विचार-[illegible]

(तीर्थंकर, वर्ष १, अंक १

कमल है प्रतीक निष्काम चित्त का

'कमल' श्रमण सस्कृति का प्राण हे
कहें, कमल भारतीय सस्कृति का परम चेतनातत्त्व है
इस एक शब्द-खिडकी में-से हम भारतीय सस्कृति के वैभव की परिपूर्ण झलक पा सकते हैं
'कमल' का व्युत्पत्तिक अर्थ है क जल अलति भूषयति इति कमल
जो जल को अलंकृत करता है
उसकी शोभा-श्री को बढाता है वह है कमल।
ऋग्वेद मे कमल के दो भेद दिये है
पुण्डरीक अर्थात् श्वेत कमल
पुष्कर या इन्दीवर अर्थात् नील कमल।
श्वेत कमल शुभ्रता, दिव्यता, और पवित्रता का प्रतीक है,
नील कमल गौरव का, गरिमा का, महत्ता का, ऊँचाई का।
ताम्रवर्णी लालरग के कमल के लिए कोकनद शब्द प्रयुक्त है।
लाल रग सौभाग्य का प्रतीक है।
कमल के लिए राजीव शब्द भी आया है।
भगवान् राम को राजीवलोचन कहा गया है ,
राम का रग सॉवला था
सहज ही उनके नेत्र नीलोत्पल-जैसे रहे होगे। रही होगी उनमे गहराई, रही होगी उनमे महिमा, रही होगी उनमे गरिमा। नीलिमा
मे गहराई, महिमा, गरिमा तीनो एक-साथ बैठे है।
राम एक साथ गहरे, महिमाशाली, और गरिमामय थे।
कमल के लिए एक शब्द 'अम्बुज' भी आया है।
अम्बु का अर्थ जल है।
जल या नीर सामान्य को कहा जाता है, किन्तु अम्बु का अर्थ सामान्य जल से भिन्न है।
हमारे रक्त मे जो जो जल है अम्बु उसके लिए प्रयुक्त एक पारिभाषिक शब्द है,
इसीलिए हमारे देह-सरोवर मे जितने कमल खिलते है वे सब-सारे अम्बुज ही है।
राम का एक नाम 'पद्म' है। 'पद्मपुराण' जैन रामायण है।
छठे तीर्थकर पद्मप्रभु का लॉछन लाल कमल और इक्कीसवे तीर्थकर नमिनाथ का

चिह्न नील कमल है।
जब जानते है हमारे शरीर का सत्तर प्रतिशत भाग जल है। पूरी पृथ्वी का सत्तर प्रतिशत जल है।
जल मे कमल खिलते है। हमारे देह-सरोवर मे कमल-ही-कमल विकसित है।
इसमे ऑखे खिली हुई है। मुख-कमल विकसित है। ओठो को
कमल की पॉखुरियो की उपमा दी गयी है। जब मुख-कमल खिलता है तब
लोकोपकारी वाणी सबको उपकृत करती है।
कर-कमल खिले हुए है
जब वे पूरे खिलते है तब दान देते है ॲजलियो से भर-भर कर
हृत्कमल खिलता है, तब/भक्ति मे आ जाती है मन्त्रमुग्धता
और जब चरण-कमल खिलते है तो दौड़ पड़ते है हम सत्सग मे,तीर्थाटन मे।
पंद्मासन या अर्द्धपद्मासन मे बैठे कर हम निखिल जगत् की अपरम्पार छवि
पा सकते है, अपनी मुट्ठी मे भर ले सकते है,
इस एक आसन मे हम बन सकते है निर्लिप्तता और निर्विकल्पता के अधीश्वर।
पद्मासन सारे तीर्थंकरो और महान् योगियो का आसन रहा है। है।
कमल हमारी सस्कृति का अविभाज्य अग है। वह साराश है हमारे सपूर्ण विकास का।
निचोड़ है हमारी साधना का।
कमल की मित्रता है प्रकाश से।
वह सूरज का हमदम है। सूरज उसका अजीज दोस्त है। वह उसके साथ खिलता
और उसके जाते शैया पर हो लेता है। वह सूरज की किरण-ॲगुली पड़ कर
उठता है और शाम होते-होते उसे छोड़ नींद मे हो लेता है।
जिसे हम सिद्धमातृका या वर्णमातृका कहते है उसकी व्याप्ति निखिल देह मे है।
देह मे तीन कमल है।
एक नाभि पर, एक हृदय पर, एक मुख मे।
नाभि पर सोलह पॅखुड़ियो का, हृदय पर चौबीस पॉखुड़ियो का, और मुख मे
छह पॅखुड़ियो का
अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अ अ ।
हृदय-कमल की प्रत्येक पॅखुड़ी पर है एक व्यजन
यानी क् से म् तक।
व्यजन क् से शुरू हैं।
क् जल का प्रतिनिधि है। जल करुणा का प्रतीक है। करुणा और भारतीय

सस्कृति पर्याय है एक-दूसरे के। अहिसा और करुणा एकार्थक शब्द हैं।
हमारी व्यजन-माला करुणा या अहिसा से शुरू होती है। अहिसा
हमारी जननी है। अहिसा हमारा मन है। अहिंसा हमारा तन है। अहिंसा
हमारा धन है। अहिसा हमारा सर्वस्व है। जिस तरह मणिधारी सर्प
मणि-से-विरहित जी नहीं सकता, वैसे ही हम अहिसा के बिना जी नहीं सकते।
जल मल-रहित करता है तन को, मन को, धन को।
वह धो डालता है। सकल ॲधियारा भीतर का, बाहर का।
इस जल की जो शोभा है वह कमल
वह इसलिए कि जब जल मे मल नहीं रहता तब उसमे-से फूटते है निर्मलता और
निष्कामता के हजार-हजार सोते।
जब हृत्कमल से आगे हम अपने पग-पॉव उठाते है तब ऊपर की ओर होता है
मुख-कमल। मुख मे अधीष्ठित है अष्टदलकमल, जिसकी हर पॉखुरी प
विद्यमान है क्रमश
य र ल व श ष स ह।
इस तरह नाभि से मुख तक फैली है सिद्धमातृका की प्रभा जो
जगमगाये रखती है हमारे शरीर और हमारे चित्त का कोना-कोना।
अब हम कदम उठाते है अपने शीर्ष की ओर
यहॉ हम क्रमश अक्षरातीत होने लगते है।
यह है हजार पॉखुरियो वाला सहस्रदल कमल जो है हमारी
परम परिष्कृत चेतना का सिहासन
यहॉ हम होते है परिचित अपने ऐश्वर्य से।
आप ही बताये इसके बाद पाने को और रह ही क्या जाता है ?
सिद्धमातृका मे-से प्रस्फुरित अक्षरातीत अध्यात्म-सम्पदा !!
परम उपलब्धि है यह
कमल इसी का प्रतीक है
महावीर / बुद्ध निखिल योगीश्वर सभी पद्मासनस्थ दिखायी पड़ते है
कमल आध्यात्मिक शोभा, निर्लिप्तता, निर्मलता, और पवित्रता का जीवन्त प्रतीक
वह भेद-विज्ञान की पाठशाला है
वह जल मे है,
वह जल मे नहीं है,
जल उस पर है,

जल उस पर कहाँ है ?
हम ऐसे हो, जैसा है यह कमल
हम जगत् में हो
हम जगत् मे न हो
इस परम निर्लिप्तता/अनासक्ति का द्योतक है कमल।
पद्मनाथ और नमिनाथ के इन चिह्नो मे-से क्या हम कमल मे छुपे बैठे
इन मर्मो तक
अपनी दृष्टि पसार पायेगे ?

(तीर्थंकर, वर्ष १९, अक ९-१०, तीर्थंकर चिह्न विशेषाक जन-फर, '९०)

पूजा-आराधना : ख़ुराक है यह भी

धर्म के साथ श्रद्धातत्त्व जुड़ा हुआ है।
यह असभव ही है कि हम श्रद्धा, या आस्था को घटा कर धर्म के मैदानी पक्ष, व्यवहार-पक्ष को कोई हाशिया न दे। पूजा-पाठ, आराधना-अर्चना, इबादत-उपासना धर्म के मैदानी हिस्से है। इन्हे के माध्यम से वह कोटि-कोटि लोगो से जुड़ा हुआ है।
पूजा भक्ति का एक सशक्त माध्यम है।
माध्यम, माना, लक्ष्य नहीं होता
फिर भी क्या यह सभव है कि हम सीढ़ियो के बगैर मकान की किसी मजिल पर पहुँच पाये ?
किसी भी लक्ष्य तक सफल पहुँच बनाने के लिए माध्यम, या साधन की जरूरत होती है। साधन के बिना, वस्तुत , साध्य की कोई स्थिति नहीं है।
'साध्य-साधन' का शास्त्र ही कुछ ऐसा है कि जो क्षण-पूर्व साध्य दीख पड़ता है वही दूसरे क्षण साधन मे बदल जाता है।
जो हो, धर्म मे भी मन को माध्यम के रूप मे काम करना होता है शुद्धात्म की ओर बढने, या उस तक पहुँचने मे।
जिस तरह 'निश्चय' तक पहुँचने के लिए 'व्यवहार' माध्यम बनता है, ठीक वैसे ही भक्ति भी परमार्थ तक पहुँचने मे शब्द के प्रथम अर्थ-सा काम करती है।

भक्ति के प्रकार : पूजा-आराधना

भक्ति मन को माँजती है; एक ऊँचाई देती है।
पूजा/आराधना/उपासना/अर्चना/इज्या आदि सब भक्ति के ही प्रकार है।
मन बेहद चचल अस्तित्व है।
वह ध्वनि-की-तरह लहराता है। उस पर काबू पाना तब मुश्किल होता है, जब उसे नियमन/शासन मे लाने के लिए कोई उपयुक्त आलम्बन न मिले। पूजा लगाम है मन-के-घोड़े पर।
जब आत्मा घुडसवारी करता है तब जा कर वह कहीं कब्जे मे आता है।

'पूजा' के अर्थ

'पूजा' शब्द पर जब हम विचार करते है तब बहुत सारे नये तथ्य हमारे सामने आ खडे होते है।
सस्कृत की 'पू' धातु मे-से पूजा/पूजन शब्द का विकास हुआ है, जिसका अर्थ है 'पवित्र करना'।
जिसे पवित्र किया जाना है मान ही लेना होगा कि वह किन्हीं कारणो से अपवित्र/अस्वच्छ/विचलित रहा है।
पूजा हम उन श्रद्धास्पद आत्माओ की करते है जो वीतराग होते हैं और संसार से मुक्त हो चुके, या हो रहे होते है।
पूजा गुण-स्मरण का एक प्रकार है। वे जो पूज्य है उनके गुणो का अपनी जीवन-भाषा मे सार्थक अनुवाद, उनका प्रकटीकरण, उनका अनुगुँजन पूजन है।
'पू' धातु का एक अर्थ है · 'माँजना'।
माँजने से मैल कटता/घटता है और जिस पात्र/वस्तु को माँजा जात है उसे एक नवदीप्ति/अपूर्व दमक मिल जाती है।
पूजा के माध्यम से हम अपनी आत्मा पर जो मल/मैल आ गया होता है उसे माँजते है, उसकी सफाई करते है और पाते हैं कि हमारा आत्मा एक नयी ही आभा पा गया है।
'पू' धातु का एक और महत्त्वपूर्ण अर्थ है 'फटकना' 'भूसी को अलग करना'। भक्ति मे भूसी को अलग करने का अर्थ क्या हुआ ? स्पष्टत इसका आशय है शरीर और आत्मा को अलग-अलग देखने की अपूर्व स्थिति खोजना। पूजा करते-करते मन मे यह बात उत्पन्न होती रहे

कि यह शरीर, जो अनित्य, अध्रुव, क्षणभगुर है-जो नित्य, ध्रुव, शाश्वत है - उससे जुदा है, उससे अभिन्न नहीं है।

जब हम शरीर और आत्मा की मिलावट को फटकते हैं तब ज्ञान के सूप मे-से भूसा उड़ भागता है और सार-सार बच रहता है। जो सारभूत बच रहता है, वह होता है सम्यक्त्व और जो उड भागता है भेदविज्ञान की इस अपूर्व प्रक्रिया मे वह होता है। मिथ्यात्व /पुद्गल। असल मे भेदविज्ञान पूजा/आराधना की सबमे बडी फलश्रुति है।

पूजा और दर्शन (फलसुफा), आराधना और तप मे सब से बड़ा अन्तर रसान्वित/उल्लसित होने का है।

जब हम पूजा की चित्तवृत्ति मे होते है (पुजारी नहीं,वह रूढ स्थिति है), तब हमारा ध्यान पूजा के साथ-साथ पूजनीय की ओर भी दौड़ता है पूज्य कैसा है ? क्या हमे भी वैसा ही बनना है ? इत्यादि तथ्य जब मनोमन्थन की प्रक्रिया मे सतह पर आने लगते है तब समझना चाहिये कि हमारी पूजा/आराधना सफल हुई है। मानिये, पूजा अनायास ही हमे वहाँ ले जाती है, तप जहाँ हमे सायाम ले जाता है। तप मे प्रयत्न है, पूजा मे लगन। पूजा मे हम स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म मे अवगाहन करते है जबकि तप मे सूक्ष्म के माध्यम से सूक्ष्मतर मे पूजा शुभ की भूमिका तैयार करती है और तप हमे वह ताप प्रदान करता है, जो विशुद्धि/सम्यक्त्व/बोधि की ओर हमे ले जाता है।

'पू' धातु का एक अर्थ और भी है 'पहिचानना'।

यह अर्थ भी अपूर्व है।

यानी जब हम अपनी मौलिकताओ को पहिचानने मे रस लेने लगते है तब वह वस्तुत पूजा होती है।

इस स्तर पर पूजा अंतरग स्वाध्याय का रूप ग्रहण कर लेती है।

पूजा मे हम वीतराग प्रभु के विग्रह को देखते-देखते अपने मूल स्वरूप को पहिचानने लगते है,

हमे याद पडता है कि हम कौन हे ? क्या हो सकते है ? हमारा असली गन्तव्य क्या है ? वास्तव मे पूजा अकेली पूजा नहीं होती, उसके साथ नाना घाट/पड़ाव होते है। पूजा मे आठ द्रव्य होते हैं, अर्घ्य होते है, पूर्णानर्घ्य होते है, और होती है जयमालाऍ। इन सब का अपना-अपना महत्त्व है।

पूजा के स्वरूप पर जब हमारा ध्यान जाता है तब कई-कई रहस्य
ऑख खोलने लगते है। बीच-बीच मे हम पूजा
के साथ जप आदि भी करते है। जप एक किस्म का आत्मचिन्तन है।
जैसे लोहे को 'टेम्पर' देते हैं, उसे शीतोष्ण करते है, उसी तरह
मन को भी पूजा मे होने वाले इन वैविध्यों द्वारा 'टेम्पर' किया
जाता है ताकि उस पर ऐसा अविचल पानी चढ जाए कि वह
विषम-से-विषम स्थिति में भी सुस्थिर बना रहे; बडी-से-बडी ऑधी
मे भी मन के दीपक-की-लौ अकम्प बनी रहे इसलिए होता है भक्तितत्व।
भक्ति एक ओर जहॉ हमे जगत् से विभक्त/पृथक् करती है, वहीं दूसरी
और वह हमे आत्म/परमात्मतत्त्व से जोडती है। भक्ति मे किसी-
न-किसी प्रकार के नवोन्मेष की उर्वर स्थिति सदैव विद्यमान रहती ही है
यह तो हुई सस्कृत मे 'पू' धातु से व्युत्पन्न अर्थो की चर्चा। अब हम
देखे कि द्राविड भाषाओ मे इस शब्द की क्या स्थिति है ?
दक्षिण मे 'पू' का अर्थ है पुष्पित होना। कन्नड, तेलुगु, तमिल,
मलयालम, तुलु, सब मे 'पू' के मायने पुष्प है तथा 'पूजे' के पूजा।
देखा गया है कि भारतीय सस्कृति मे फूल को इतना महत्त्वपूर्ण माना
गया है कि उसे देवताओ के चरणो मे अपनी भावनाओ के साथ
अर्पित किया जाता है। उसे प्रकृति का सर्वोत्तम उपहार माना गया है।
जो वृक्ष पुष्पित होते है, वे ही आगे चल कर फलित/फलवान् होते हैं।
पुष्प के बाद की स्थिति फल है। भक्त/उपासक/आराधक का ध्यान
फूल से हट कर सिद्धि पर होता है। हम जानते है कि पुष्प के गर्भ
मे कहीं फल और फल के गर्भ मे कहीं परमानन्द होता है। फल का
परिपाक रस है। और 'रसो वै स '। और रस ब्रह्म है, परम ब्रह्म
है, विशुद्ध परमात्मा है। वह प्रतीक है प्रकृति के 'सुन्दरम्' का
रामकृष्ण परमहँस कहते है कि पुष्प को हम तोड़े ही क्यो ?
(उन्होने अपने आखिरी दिनो मे पूजा के लिए पुष्प न तोडने का
निश्चय किया था। वे कहते कि फूल जहॉ उगे है, वही वे प्रभु को
अर्पित है। उन्हे वहॉ से तोड़ कर मन्दिर मे ले जा कर पुन अर्पित
करने मे कोई तथ्य नहीं है।)
हम तो यह देखे कि पुष्प जहॉ है वहॉ वह प्रकृति के प्रति/अपनी

निजता के प्रति कितना समर्पित है और किस लीनता से प्रकृति के तन-
मन को अलकृत कर रहा है ?
वस्तुत फूल का खिल-खुल जाना ही उसकी सब मे बडी सार्थकता है।
हमारा भी इसी तरह खुल/खिल जाना हमारी सर्वोपरि सफलता है।
क्या शाखा पर मुस्करा रहे फूल से हमे यह सदेश नहीं मिलता कि
हम भी यदि अपनी जड़ से बँधे रहे तो उसकी तरह ही अपने
समस्त वैभव को उद्घाटित कर सकते है ?
'पू' का अर्थ फूल है। फूल का अर्थ रस-सपन्न/उत्तमोत्तम विकास है
वृक्ष, या पौधे की अतरग शक्तियो का। क्या हम शरीर-वृक्ष पर ज्ञान-
पुष्प नहीं खिला सकते ?
फूल जहाँ है, वहीं वह अपनी सर्वश्रेष्ठ स्थिति मे है, हम जहाँ है वहीं
अपनी सर्वोत्तमता को प्रकट कर सकते है, उसे व्यक्त कर सकते है।
माटी मे तो फूल कहीं दिखायी नहीं देता, किन्तु है वह वहीं।
इसी तरह शरीर मे आत्मा-का-पुष्प कहीं दिखायी तो नहीं पड रहा
है, किन्तु वह है वहाँ अवश्य। क्या हम उसे अपनी प्रखर/उत्तप्त
साधना द्वारा प्रकट नहीं कर सकते ?
चाहे सस्कृत हो, चाहे दक्षिण की कोई द्रविड़ी भाषा, पूजा का सीधा
अर्थ है 'आत्मा के वैभव को प्रकट करना, स्वानुभूतिमय/भक्ति-प्रधान
पुरुषार्थ करना'।
जैन ढाँचे मे स्वीकृत पूजाओ का उद्देश्य क्रमश अशुभ-से-शुभ
और शुभ-से -शुद्ध की ओर यात्रा का है।
अशुभ-मे-से शुभ-मे, और शुभ-मे-से शुद्ध-मे अन्तरित होने का नाम पूजा है।
पूजा अन्त नहीं है, आरभ है, अन्त है सिद्धत्व।
अग्रेजी मे कहावत है यदि शुरूआत प्रशस्त/सुदृढ है तो समझ लो आधा
काम निर्विघ्न पूरा हो गया (वेल बिगन इज हाफडन)। ठीक से
आरभ करना है अन्त तक निभा ले जाना सारे अनुष्ठानो का
एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।
पूजा मे हम अपने मन को गीली मिट्टी की तरह इतना लचीला और
आज्ञानुवर्ती बना लेते है कि हम उससे जब/जैसा चाहते है, करवा लेते है।
आत्मा-की-स्वाभाविकताओ मे-से गुजरे।
आत्मा का जो परम वैभव है

उसकी ओर हमारा ध्यान बार-बार जाए।
यह ऐश्वर्य क्या है ? यह है ज्ञान का ऐश्वर्य, स्व-त्व का परम
वैभव, स्वानुभूति और स्वरूपाचरण का ऐश्वर्य।
जब तक हम आकारो मे उलझे रहते है, तब तक सम्यक्त्व प्रकट नहीं
होता, किन्तु जैसे ही आकृतियो(पर्यायो) के सघन वन से
बाहर आते है, हमारे भीतर का ज्ञान-वैभव कुलॉचे भरता बाहर को आता है।

पूजा और आराधनों में अवसर पर

पूजा मे हम अपने भीतर के प्रच्छन्न वैभव को बाहर लाते है,
उसका भरपूर आनन्द लेते है। वीतरागता-मे-निमग्न जिनबिम्ब पर
अपनी ऑखे अपलक जमाये हम अपने भीतर विहार करने लगते है।
हमारा एक-एक चरण (कदम) प्रभु के चरणो मे-से गति ग्रहण करता है।
हम उनके चरणो मे स्वय को अर्पित कर उठते है, इसलिए कि ये चरण हममे
प्रतिष्ठित हो जाऍ; ये चरण हममे स्वरूपाचरण को
प्रकट करे।
ज्ञान से सम्बन्धित सारे शब्द गत्यर्थक हैं। चरण/आचरण भी गत्यर्थक है,
गति का अर्थ रखते हैं। ज्ञान गतिशील तत्त्व है। वह तरोताजा रहता
है, तरोताजा रखता है। उसकी विशेषता है कि वह देखता नहीं है,
उसे खुद-ब-खुद दिखायी देता है। ज्ञान से कुछ छुपा नहीं होता है,
वैसे भी उजाले से ॲधेरा न तो कभी छुप सकता है और न बच
सकता है। उजाले से उजाले को ही देखा जा सकता है, क्योकि उजाले की
उपस्थिति मे ॲधेरे के होने का प्रश्न ही नहीं उठता है अत
क्या हम ऐसा कर सकते है कि इन आराधनाओ/महायज्ञो/पूजाओ
के अवसरो पर स्वयं
के ज्ञाता-दृष्टा बनने की शुरूआत करे ?
क्या यह सभव हे कि इस अवसर पर हम बहिर्मुखता से हट कर
अन्तर्मुख हो और अपने भीतर अवरुद्ध आनन्द के अनन्त स्रोत को
उन्मुक्त करे,
खोले, और उस दुर्लभ झील/झरने की छाया मे पहुँचे, उसमे स्नान करे ?

(तीर्थंकर, वर्ष १५, अक २ · आहार-अंक १ · जून, '८५)

मन्दिर : उपासरे : हम – कितना पानी ! ?

जैनो के कितने मन्दिर है, उनमे कितनी प्रतिमाऍ है, जैनो के सप्रदाय कितने है, अनुयायी कितने है, उनकी मान्यताऍ कितनी है वस्तुत इस सबका कोई सही अनुमान सभव नहीं है, किन्तु यह हकीकत है कि हिन्दुस्तान के कोने-कोने मे जैन मन्दिर है, आलीशान मदिर है, भव्य और विशाल मन्दिर है, मैदानो और टोकों पर मन्दिर है, और इन मन्दिरो मे हर वर्ष हजारो-हजार तीर्थयात्री भक्तिभावपूर्वक जाते है और पुण्य की कमाई करते है। माना जाता है कि कुछ मन्दिरो या तीर्थो तक एक बार भी चलकर जाया जाए तो कम-से-कम आदमी दो योनियो से बेदाग बच जाता है पशु, नरक। इस तरह कई-कई मान्यताऍ और अधविश्वास कई-कई मदिरो के साथ अनायास जुड गये है। कुछ मन्दिर ऐसे भी है जहाँ जाने से भूत-पलीत की बाधाऍ टल-टूट जाती है, वे अच्छे अस्पताल है, किन्तु क्या एक तर्कसम्मत और वैज्ञानिक धर्म मे मन्दिर की सिर्फ इतनी ही भूमिका है ?

आत्मस्थ होकर अन्तर्यात्राएँ

मूर्तियॉ, जयजयकार, णमोकार, जप-पाठ, पूजा-विधान, घटियो के कर्णवेधी निनाद, रतजगे, अखण्डपाठ, लाडू, उत्सव-महोत्सव, अभिषेक-प्रक्षाल-सब-माना, मनुष्य की सौन्दर्य-भूख से जुड़कर धर्म की शुष्कता मे सरसता, जड़ता मे सजीवता और मरुस्थल मे हरियालीका आकर्षण उत्पन्न करते है, किन्तु प्रश्न बार-बार उठता है कि क्या धर्म की इबारत इन सब साधनो से बनानी सभव है ? क्या मन्दिर केवल मूर्तियो के सग्रहालय है ? क्या ये और इनमे प्रतिष्ठित जिन-बिम्ब सासारिको की आशा-आकाक्षाओ की पूर्ति के साधन है, जहॉ लोग शाम-सुबह एकत्रित हो कर अपरपार हो-हल्लो के माध्यम से आत्मतुष्टि का ढोग करते है ? क्या ये ऐसे स्थान है जहॉ हम अपना वैभव इकट्ठा करे ? क्या यहॉ हम इतनी कीमती मूर्तियॉ भी रख सकते है जिनके चुराये जाने की आशका बराबर बनी रहती हो और हमे निराकुल बनने के लिए कोई लौह पींजरे और जबर-जबर तालो की व्यवस्था करनी पडती हो ? क्या मन्दिर और मूर्तियॉ इतनी सादा नहीं हो सकतीं कि उन्हे चुराने से पूर्व चोर खुद उनके चरणो मे भक्तिभाव से लोट जाए ? है, ऐसी मूर्तियॉ भी है जिनमे कलाकार ने अपनी आत्मा को उकेरा है। पाषाण को मोम-सा कोमल बना कर उसमे अपने प्राणो की और चरित्र की उज्ज्वलताओ को टॉका है, इस तरह हम पूछे स्वय से कि क्या जैन मन्दिर या अन्य कोई भी मन्दिर या उपासरे आत्म गवेषियो के

लिए उत्थान के उत्कृष्ट मच सिद्ध हो सकते हैं ? क्या हम इन्हे सत्यान्वेषण की प्रयोगशालाओ का आकार और वैसी भव्यता प्रदान कर सकते है ? क्या ये भीतर की ऑख पर छायी धुँध को हटाने और आत्मा की अनन्तानन्त शक्तियो को उघाडने के स्थान नहीं है ? क्या यहॉ हम कुछ क्षणो के लिए आत्मस्थ होकर अन्तर्यात्राऍं नहीं कर सकते ?

औपचारिकताओं के निरर्थक पुँज

आप मन्दिर जाऍगे तो वहॉ अक्सर पायेंगे हो-हल्ला, शोरगुल, चीख-पुकार, एक साथ विविध रोगो और सुरो मे पुकारते-चीखते-चिल्लाते कण्ठ, एक ऐसी भव्य इमारत जहॉ सब पूरी उच्छृखलता के साथ अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग अलाप रहे है, कोई जाप कर रहा है, कोई निकोर चुप्प है, कोई बतिया रहा है, कोई घर-गिरस्ती की भावभीनी चर्चा कर रहा है, कोई कभी भी अभिषेक कर रहा है, पूजा कर रहा है, कोई हडबडी मे आया है और भागमभाग में दौडा जा रहा है- यानी मन्दिर विषम औपचारिकताओ का निरर्थक पुँज है, क्या मन्दिर की परिभाषा इनमे कही धडकती दीखती है ? शायद नहीं, बिलकुल नहीं।

और उपासरे। यहॉ भी वही छटा छायी है। फर्क केवल एक है, यहॉ प्रतिमा अनुपस्थित है। यहॉ है कुछ गुमसुम बैठे लोग, आपस में जोर-जोर से बतियाते लोग, साधुओ को पुण्यार्जन के लिए घेरे नर-नारी, इधर-उधर झॉकते दर्शनार्थी या मुमुक्षु, बहुधा ऐसे लोग जिनसे आप पूछें कि वे वहॉ क्यो है, तो कोई समीचीन उतर न दे पातें। फिर आप महसूस क्यो नहीं करते कि कोई भवन मन्दिर या उपासरा नहीं बनता, दृष्टिकोण ही मन्दिर या उपासरा बनता है, बनना चाहिये। जहॉ किसी विशाल भवन के पीछे कोई स्वस्थ दृष्टिकोण या उद्देश्य अनुपस्थित रहता है, वहॉ वह कोरमकोर इमारत रहती है, प्रेरणा या रोशनी की कोई किरण वहॉ से नहीं फूटती।

किसी नौजवान या प्रबुद्ध श्रावक के चित्त पर इस तरह के असंख्य प्रश्न उठ खडे होते है और वक्त के थपेडे खाकर लापता हो जाते है, न आकार ले पाते है वे और न ही कहीं से उन्हें कोई समाधान मिल पाता है। इस तरह वह बेचारा घर-गिरस्ती की समस्याओ में उरझ-पुरझ कर मुरझ जाता है और उसके सामने कोई मार्ग नहीं रह जाता इसके अलावा कि जो कुछ चला आ रहा है लम्बी सफर से उसे सिर झुकाकर स्वीकार कर ले। वह सिर्फ मन स्थिति परिवर्तन के लिए मन्दिर या उपासरे तक जाता है, अन्यथा उसे उनसे कोई सीधा सरोकार नहीं दीख पडता। परम्परा उसमे विवशता

की शक्ल ले लेती है। चाहे जो हो, इन पक्तियो का लेखक यह मानने के लिए कतई तैयार नहीं है कि आज कोई श्रावक आत्मगवेषणा के लिए मन्दिर या उपासरे जाता है, क्योकि जो आत्मा का एक अश भी कहीं उघाड़ गया उसके सामने इमारतो की व्यर्थता बिलकुल प्रकट हो गयी है।

सवाल उठता रहा है, उठता रहेगा कि क्या मन्दिर की, या उपासरे की यह शक्ल धर्म है, या धर्म कोई और चीज है ?

आध्यात्मिक स्फूर्ति के केन्द्र

नि सदेह जैन धर्म-दर्शन को लेकर जो महान् ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें मन्दिरों और उपासरो को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। वस्तुत वहाँ स्थान की जगह सम्यग्दर्शन और चारित्र को ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। स्पष्ट इबारत दी गयी है जैन की- 'स्वारथ के सॉचे परमारथ के साँचे चित्त साँचे-साँचे बैन कहे सॉचे जैनमती है। काहू के बिरुद्धी नाहीं परजाय बुद्धि नाहिं, आतमगवेषी न गृहस्थ है न यती है।' साफ है आत्मगवेषी ने गृहस्थ होता है, न साधु वह आत्मगवेषी होता है- क्योकि कोई साधु या गृहस्थी होकर आत्मगवेषी हो ही यह जरूरी नहीं है। कई लोग व्यर्थ ही कीर्ति-कामना के तेजाब मे कट-भुन रहे हैं। [illegible] आत्मगवेषक का है, लेकिन कृतित्व वैसा नहीं है। वस्तुत आत्मानुसंधान के लिए मन्दिर-उपासरा, घर-जंगल कोई शर्त नहीं है, शर्त है सबमें अव्वल, भीतर की भूख और तैयारी। यदि हमारे मन्दिर, हमारे उपासरे आदमी को भीतर से छूते हैं, उसे आध्यात्मिक स्फूर्ति प्रदान करते है, तो वे वन्दनीय तीर्थ हैं और 'आकुलता' तथा 'आपसी कलह' का विवर्जन-विसर्जन नहीं करते, लड़ाइयो और झगड़ों को बढ़ाते हैं, तो निरर्थक हैं महत्त्वहीन है। ऐसे मे तब ये अपने बुनियादी उद्देश्य से गिर जाते हैं।

आज हमारा ध्यान इन मन्दिरो को आधुनिक उपकरणों से लैस करने की [illegible] अधिक है। हम देख रहे हैं ज्यादातर कि इनमें बिजली की जगरमगर है या नहीं [illegible] लग गये हैं या नहीं, दीवारो पर पक्का और चटख रंग हो गया है या नहीं, [illegible] भद्दे और अ-कलात्मक चित्र बना दिये गये हैं या नहीं, एक अच्छा [illegible] खरीद लिया गया है या नहीं, आसपास कुछ दुकाने निकाल दी गयी हैं [illegible] और आरती के लिए महँगे पात्र खरीदे जा सके हैं या नहीं, [illegible] रसोइयो मे किराये से दे सकने के लिए कुछ बर्तन-जाजम-दरियाँ [illegible] या नहीं-प्राय इस तरह की व्यवस्थाओं की ओर ही हमारा ध्य[illegible]

हम उस आदमी की खोज में लगातार लगे हुए है जिसका नाम दानपट्ट पर डाला जा सके और मन्दिर या उपासरे के लिए कोई धनराशि वसूली जा सके। क्या मन्दिर का, या उपासरे का खर्च किसी ऐसे आदमी को ढोना चाहिये जो पहली बार वहाँ पहुँचा है, या जो कभी आयेगा ही नहीं, या जिसका धर्म की अपेक्षा धन से सीधा रिश्ता है ? क्या मन्दिर और उपासरो का खर्च स्थानीय लोगो से होने वाली नियमित आय का कोई नियमित अश नहीं होना चाहिये ? क्या मन्दिर या उपासरे पर सादगी का साया नहीं रह सकता ? क्या मन्दिर या उपासरे को हम सादगी, सारल्य और सत्य का आराधना-घर नहीं बना सकते ? क्या हम उसे अपनी अकिचन त्यागभूमि नहीं बना सकते ? सभव यह सब है, किन्तु स्वाधीनता का सबक देने वाला एक उज्ज्वल धर्म अपने अनुयायियो को स्वाधीनता कहाँ सिखा पाया है ? जहाँ हम पर्याय की पराधीनता से मुक्त होने का उदात्त पाठ सीखने आते है (सीख न पाते हो यह बात अलग है) वहाँ क्या एक सादा अलमारी मे एक उत्कृष्ट ग्रन्थागार नहीं बना सकते ?

एक जमाना था जब ग्रन्थो की हस्तलिपियाँ कराने मे सैकडो रूपया खर्च होता था, बीसियो लिपिक देश-भर मे कलम-दावात, स्केल-हाथबने कागज लिये घूमते थे और महीनो शास्त्र-लेखन का काम करते थे। साधु अपनी दीक्षा-तिथियो पर इन्हे ही भेट स्वरूप स्वीकारा करते थे। इन शास्त्रो के साथ विनय और स्वाध्याय के सस्कार जुडे हुए थे। राजस्थान और गुजरात मे सैकड़ो ग्रन्थागार थे, मन्दिरो और उपासरा मे कोई तडक-भडक नहीं थी। सादा मन्दिर, साफ सुथरा उपासरा; जहाँ ज्ञान की अखण्ड जोत अहर्निश प्रज्वलित, स्वाध्याय का दीपक आठो पहर आलोकित। आज हमारे मन्दिरो मे-उपासरो मे नहीं हजार-हजार कैडिल के बल्ब जल रहे है (किन्तु अधारा गुप्प है), ज्ञान और स्वाध्याय का दीया बुझ गया है, या उसका प्रकाश मद्धिम पड़ गया है, क्या इसकी देखभाल हम सब कामो से हटकर कर सकेगे ?

स्वाध्याय और आत्मालोचन के स्थल

एक मुश्किल यह भी हुई है कि हम विगत दो-तीन सालो में कुछ उत्सव-महोत्सव मना गये है, जिन पर भाग्य या अभाग्य से हमने करोडों रुपया फूँका है, किन्तु दु खद यह हुआ है कि यह सब हो-हल्ले और शोरगुल के खाते मे दर्ज हो गया है, कहीं-कोई केन्द्रीय ग्रन्थागार या मन्दिरो और उपासरो मे सुसमृद्ध पुस्तकालय हम स्थापित नहीं कर सके हे। यह हमारी असफलता है जो तथाकथित सफलताओ के जयघोषो में डूब गयी हे। दुर्भाग्यपूर्ण यह हे कि महानगरो तक मे कोई एक परिपूर्ण ग्रन्थालय आज हमारे पास नहीं हे।

इसलिए आज ओर इसी पल यह अवसर है कि हम देख जाएँ गौर से मन्दिर और उपासरे, और खुद को कि सबमे कितना पानी है और सब कितने पानी मे हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि पानी किसी दूसरी किस्म का है निढार, झमाझम, मूसलाधार और हमारी पीठ पर अज्ञान और अन्धविश्वास की रुई का भारा है, कोई छाता नहीं है कि हिफाजत हो, ऐसे मे रीढ के टूटने का डर तो हे ही, पूरी तरह मिटने की चुनौती भी हे, तो फिर ऐसे दुर्दिन मे बुद्धिमानी यही होगी कि हम स्वाध्याय का छाता तान ले और ज्ञान की चिनगी को, जो अज्ञान को ध्वस्तकर सकती है, बुझने से बचाये, मानिये, यदि एक बार भी हम इस सकट के सामने झुक गये तो फिर कोई मन्दिर, कोई उपासरा हमारी रक्षा नहीं कर पायेगा। यही क्षण मे भीतर की ऑख खोलने और आत्मालोचन करने की बात जैन धर्म सदियो से कहता आ रहा है, क्योकि यह वह ही कह सकता है कि उम्र ऑजुरी का जल है जो अगुलियो की सधियो से रिसकर निरन्तर कम हो रहा है, चुक रहा है और हम स्तब्ध उसकी अनदेखी कर रहे है। इसीलिए, मानिये, बरसात बहुत है, ज्ञान का छाता खोल लीजिये और बुझते दीपक के आसपास श्रद्धा ओर चारित्र की हथेलियॉ लगा लीजिये।

(तीर्थंकर, वर्ष ७, अक ३, जुलाई, '७७)

मन्दिर और स्वाध्याय

हमने मन्दिर तो बनवाये, किन्तु स्वाध्याय के सस्कार को उस अनुपात मे नहीं बढाया। मन्दिर हमने सुविशाल खड़े कर लिये, किन्तु कोई पुस्तकालय उनके साथ नहीं जोड़ा। मन्दिर के साथ हमने शरीर तो जोड़ा। आत्मा को नहीं जोड़ सके, इसलिए शरीर-सुख के लिए हम अन्तहीन व्यवस्थाएँ करते रहे, आत्मोन्नयन के लिए हमने अनुपात मे कुछ किया ही नहीं, और यदि किसी सद्बुद्धि से प्रेरित हो कर हमने कुछ ग्रन्थो की व्यवस्था कर भी दी तो उन्हे पूज्य बना दिया, उनमे-से स्वय के लिए कुछ प्राप्त नहीं किया। यह कहने के लिए कि 'फलॉ मन्दिर मे इतने ग्रन्थ हैं' हमने ग्रन्थ जुटाये, किन्तु हम रहे वहीं-के-वहीं, एक सूत भी आगे नहीं बढे।

मन्दिर बनें अकादमी और विश्वविद्यालय

असल मे आज मन्दिर का यह कर्त्तव्य है कि वे मानवता के सर्वश्रेष्ठ तीर्थ बने और धर्म की महानताओ को उजागर करे। बताये सारे जगत् को कि धर्म ने विशेषत भारतीय धर्मो ने ससार को न सिर्फ आत्मोत्थान का सर्वोत्कृष्ट मार्ग दिया है वरन् उस गहन अधेरे मे-से बाहर खींचा है, प्रकाश मे खड़ा किया है। इस तरह बुनियादी तौर पर मन्दिरो को धार्मिक निरक्षरता कम करने की दिशा मे अकादमियो और विश्वविद्यालयो की तरह का काम करना चाहिये। समाज को नैतिक तालीम धर्म-स्थलो को ही देनी चाहिये, यह उन्हीं का दायित्व है, लौकिक सस्थाओ का नहीं है। यह भला कैसे सभव हो सकता है कि मन्दिर चरित्र से कट जाएँ और मात्र पाखण्ड के प्रतीक बन जाएँ, असल मे इनका मूल मिशन होगा देश पर गहराये चारित्रिक सकट का [illegible] करना। कहना चाहिये कि जो गहन चारित्रिक सकट सारे विश्व को आज तार-तार कर रहा है, उससे धर्म को युद्ध के स्तर पर निबटना चाहिये। वस्तुत [illegible] धार्मिक गिरावट के आज भी लोगो का ध्यान शास्त्र पर, विद्वान पर, [illegible] से अधिक है। वे टकटकी लगाये देख रहे हैं कि दिशादर्शन धर्म मे-से [illegible]। क्या कारण है कि आज धर्म-सभाओ मे लोग पहले से अधिक आने लगे हैं? [illegible] इस तथ्य का प्रतीक नहीं है कि लोग वर्तमान सामाजिक-आर्थिक-